प्रस्तावना

मेरे गीता-प्रवचनोंका हिंदी-अनुवाद हिंदी बोलनेवालोंके लिए प्रकाशित हो रहा है, इससे मुझे खुशी होती है। ये प्रवचन कार्यकर्ताओंके सामने दिये गये हैं और इनमें आम जनताके उपयोगकी दृष्टि रही है।

इनमें तात्त्विक विचारोंका आधार छोड़े बगैर, लेकिन किसी वादमें न पड़ते हुए, रोजके कामोंकी बातोंका ही जिक्र किया गया है।

यहाँ श्लोकोंके अक्षरार्थकी चिंता नहीं, एक-एक अध्यायके सारका चिंतन है। शास्त्र-दृष्टि कायम रखते हुए भी शास्त्रीय परिभाषाका उपयोग कम-से-कम किया है। मुझे विश्वास है कि हमारे गाँववाले मजदूर भाई-बहन भी इसमें अपना श्रम-परिहार पायेंगे।

मेरे जीवनमें गीताने जो स्थान पाया है, उसका मैं शब्दोंसे वर्णन नहीं कर सकता हूँ। गीताका मुझपर अनंत उपकार है। रोज मैं उसका आधार लेता हूँ और रोज मुझे उससे मदद मिलती है। उसका भावार्थ, जैसा मैं समझा हूँ, इन प्रवचनोंमें समझानेकी कोशिश की है। मैं तो चाहता हूँ कि यह अनुवाद हरएक घरमें, जहाँ हिंदी बोली जाती है, पहुँचे और घर-घरमें इसका श्रवण, मनन और पठन हो।

परंधाम, पवनार
१०-४-'४७

गीता-प्रवचन

सकल जनोपयोगी परमार्थका सुलभ विवेचन

'गीता-प्रवचन' में सकल-जनोपयोगी परमार्थका सुलभ विवेचन है। 'स्थितप्रज्ञ-दर्शन'[१] उसके और आगेका ग्रंथ है, जिसमें वही विषय एक विशिष्ट भूमिकापरसे कहा गया है। 'गीताईकोष'[१]—गीताईका सूक्ष्म अध्ययन करनेवालोंके लिए है। तीनोंमें मिलकर गीताके बारेमें मुझे जो कहना है, वह संक्षेपमें सांगोपांग कहा है। पुस्तकें लिख तो रखी हैं। ऐसी अपेक्षा है कि पारमार्थिक जिज्ञासुओंके काम आयेंगी, और किसी-किसीको उनसे ऐसा लाभ पहुँचा भी है, परंतु मुख्य उपयोग तो खुद मेरे लिए ही है। संसारका नाटक मैं देख रहा हूँ। एक स्थानपर बैठकर भी देखा, अब यात्रा करके भी देख रहा हूँ। असंख्य जन-समूह और उन के नेता, दोनों एक ही प्रवाहमें खिंचते जा रहे हैं, यह देखकर ईश्वरकी लीलाका ही चिंतन करें, दूसरा कुछ चिंतन न करें, ऐसा लगता है।

यह तो सहज प्रवाहमें लिख गया। 'गीता-प्रवचन' को सारा पढ़कर पचाना चाहिए। उसकी शैली लौकिक है, शास्त्रीय नहीं। उसमें पुनरुक्ति भी है। गायक अवांतर चरणको गाकर फिर अपना प्रिय पालुपद दोहराता रहता है, ऐसा उसमें किया गया है। मेरी तो कल्पनामें भी नहीं आया था कि यह कभी छपेगा। साने गुरुजी-जैसा सहृदय और 'लाँगहैंड' से ही 'शार्टहैंड' लिख सकनेवाला लेखक यदि न मिला होता, तो जिसने कहा और जिन्होंने सुना, उन्हींमें इसकी परिसमाप्ति हो गयी होती, और मेरे लिए उतना भी काफी था। जमनालालजी बजाजको इन प्रवचनोंसे लाभ मिला। मैं समझता हूँ, यह मेरी अपेक्षासे अधिक काम हो गया। मेरी अपेक्षा तो सिर्फ इतनी ही थी कि मुझे लाभ मिले। अपनी भावनाको दृढ़ करनेके लिए जप-भावनासे मैं बोलता जाता था। उसमेंसे इतना भारी फल निकल आया है। ईश्वरकी इच्छा थी, ऐसा ही कहना चाहिए।

(एक पत्र से),
हैदराबाद (द०), १६-२-१९५१ —विनोबा

१. विनोबाकृत ग्रन्थ

प्रकाशकीय

गीता-प्रवचनका यह तेरहवाँ संस्करण पाठकोंके हाथोंमें पहुँच रहा है। सन्' ५६ में विनोबाजीने पद-यात्रा में ही, दो महीनेका अपना अमूल्य समय देकर श्री श्रीकृष्णदत्त भट्टकी सहायतासे इसमें भाषासम्बन्धी अनेक संशोधन करा दिये हैं, जिसके कारण अब गीता-प्रवचनका हिन्दी संस्करण मराठीका अनुवाद न रहकर मूलवत् बन गया है। 'गीताध्याय संगति' भी इसमें जोड़ दी गयी है। अनुवादके साथ संतोंके मूल मराठी वचन भी जोड़ दिये गये हैं। इससे ग्रन्थकी उपयोगिता और भी बढ़ गयी है।

पाठकोंको यह जानकर प्रसन्नता होगी कि गीता-प्रवचनकी अबतक हिन्दीमें २ लाख ६१ हजार प्रतियाँ निकल चुकी हैं। हिन्दी, मराठीके अतिरिक्त उर्दू, गुरुमुखी, गुजराती, बँगला, असमी, उड़िया, सिंधी, तमिल, तेलुगु, कन्नड, कोंकणी और मलयालममें भी इसका प्रकाशन हो चुका है। नेपाली और अंग्रेजी संस्करण भी प्रकाशित हो चुके हैं। संस्कृत अनुवाद भी हो चुका है। कश्मीरी भाषामें भी शीघ्र ही इसका अनुवाद होने जा रहा है। इस प्रकार देशकी सभी प्रमुख भाषाओंमें यह ज्ञान-गंगा प्रवाहित हो रही है।

अब तो सब भाषाओंके 'गीता-प्रवचन' नागरी लिपिमें प्रकाशित किये जा रहे हैं। इससे एक राष्ट्रलिपिके माध्यमसे दूसरी भाषाएँ सीखनेमें, समझनेमें अर्थात् संपूर्ण भारतीय वाङ्मयके हार्दको आत्मसात् करनेमें मदद मिलेगी।

'गीता-प्रवचन' गीतापर अनूठी पुस्तक मानी जाती है। मौलिकता, सुबोधता और सरसता इसके प्रधान गुण हैं। विनोबाका व्यक्तित्व ज्ञान, तप और कर्माचरणका त्रिवेणी-संगम है। अतः जो भी व्यक्ति इसमें डुबकी लगायेगा, वह कृतकृत्य हुए बिना न रहेगा।

विषय-क्रम

गीता-प्रवचन

पहला अध्याय

प्रास्ताविक आख्यायिका—अर्जुनका विषाद

(१) मध्ये महाभारतम्

प्रिय भाइयो,

आजसे मैं श्रीमद्भगवद्गीताके विषयमें कहनेवाला हूँ। गीताका और मेरा संबंध तर्कसे परे है। मेरा शरीर माँके दूधपर जितना पला है, उससे कहीं अधिक मेरा हृदय और बुद्धि, दोनों गीताके दूधसे पोषित हुए हैं। जहाँ हार्दिक संबंध होता है, वहाँ तर्ककी गुञ्जाइश नहीं रहती। तर्कको काटकर श्रद्धा और प्रयोग, इन दो पंखोंसे ही मैं गीता-गगनमें यथाशक्ति उड़ान मारता रहता हूँ। मैं प्रायः गीताके ही वातावरणमें रहता हूँ। गीता मेरा प्राण-तत्त्व है। जब मैं गीताके संबंधमें किसीसे बात करता हूँ, तब गीता-सागरपर तैरता हूँ और जब अकेला रहता हूँ, तब उस अमृत-सागरमें गहरी डुबकी लगाकर बैठ जाता हूँ। इस गीता-माताका चरित्र मैं हर रविवारको आपको सुनाऊँ, यह तय हुआ है।

गीताकी योजना महाभारतमें की गयी है। गीता महाभारतके मध्य-भागमें एक ऊँचे दीपककी तरह स्थित है, जिसका प्रकाश सारे महाभारतपर पड़ रहा है। एक ओर छह पर्व और दूसरी ओर बारह पर्व, इनके मध्यभागमें; उसी तरह एक ओर सात अक्षौहिणी सेना और दूसरी ओर ग्यारह अक्षौहिणी, इनके भी मध्य-भागमें गीताका उपदेश दिया जा रहा है।

महाभारत और रामायण हमारे राष्ट्रीय ग्रंथ हैं। उनमें वर्णित व्यक्ति हमारे जीवनमें एकरूप हो गये हैं। राम, सीता, धर्मराज, द्रौपदी, भीष्म, हनुमान् आदिके चरित्रोंने सारे भारतीय जीवनको हजारों वर्षों-से मंत्र-मुग्ध-सा कर रखा है। संसारके अन्यान्य महाकाव्योंके पात्र इस तरह लोक-जीवनमें घुले-मिले नहीं दिखाई देते। इस दृष्टिसे

महाभारत और रामायण निस्संदेह अद्भुत ग्रन्थ हैं। रामायण यदि एक मधुर नीति-काव्य है, तो महाभारत एक व्यापक समाज-शास्त्र। व्यासदेवने एक लाख संहिता लिखकर असंख्य चित्रों, चरित्रों और चारित्र्योंका यथावत् चित्रण बड़ी कुशलतासे किया है। बिलकुल निर्दोष तो सिवा एक परमेश्वरके कोई नहीं है; लेकिन उसी तरह केवल दोष-पूर्ण भी इस संसारमें कोई नहीं है, यह बात महाभारत बहुत स्पष्टता-से बता रहा है। एक ओर जहाँ भीष्म-युधिष्ठिर जैसोंके दोष दिखाये हैं, तो दूसरी ओर कर्ण-दुर्योधनादिके गुणोंपर भी प्रकाश डाला गया है। महाभारत बतलाता है कि मानव-जीवन सफेद और काले तंतुओंका एक पट है। अलिप्त रहकर भगवान् व्यास जगत्के—विराट् संसारके—छाया-प्रकाशमय चित्र दिखलाते हैं। व्यासदेवके इस अत्यंत अलिप्त और उदात्त ग्रथन-कौशलके कारण महाभारत ग्रन्थ मानो एक सोनेकी बड़ी भारी खान बन गया है। उसका शोधन करके भरपूर सोना लूट लिया जाय।

व्यासदेवने इतना बड़ा महाभारत लिखा, परन्तु उन्हें अपनी ओर-से कुछ कहना था या नहीं? क्या किसी जगह उन्होंने अपना कोई खास संदेश भी दिया है? किस स्थानपर व्यासदेवकी समाधि लगी है? स्थान-स्थानपर तत्त्वज्ञान और उपदेशोंके जंगल-के-जंगल महा-भारतमें आये हैं, परन्तु इन सारे तत्त्वज्ञानोंका, उपदेशोंका और समूचे ग्रन्थका सारभूत रहस्य भी उन्होंने कहीं लिखा है? हाँ, लिखा है, समग्र महाभारतका नवनीत व्यासजीने भगवद्गीतामें निकालकर रख दिया है। गीता व्यासदेवकी प्रधान सिखावन और उनके मननका सार-संचय है। इसीके आधारपर 'व्यास, मैं मुनियोंमें हूँ' यह विभूति सार्थक सिद्ध होनेवाली है। गीताको प्राचीन कालसे 'उपनिषद्' की पदवी मिली हुई है। गीता उपनिषदोंकी भी उपनिषद् है; क्योंकि समस्त उपनिषदोंको दुहकर यह गीतारूपी दूध भगवान्‌ने अर्जुनके निमित्तसे संसारको दिया है। जीवनके विकासके लिए आवश्यक प्रायः प्रत्येक विचार गीतामें आ गया है। इसीलिए अनुभवी पुरुषोंने यथार्थ ही

कहा है कि गीता धर्मज्ञानका एक कोष है। गीता हिन्दू-धर्मका एक छोटा ही, परन्तु मुख्य ग्रन्थ है।

यह तो सभी जानते हैं कि गीता श्रीकृष्णने कही है। इस महान् सिखावनको सुननेवाला भक्त अर्जुन इस सिखावनसे इतना समरस हो गया कि उसे भी 'कृष्ण' संज्ञा मिल गयी। भगवान् और भक्तका यह हृद्गत प्रकट करते हुए व्यासदेव इतने एकरस हो गये कि लोग उन्हें भी 'कृष्ण' नामसे जानने लगे। कहनेवाला कृष्ण, सुननेवाला कृष्ण, रचनेवाला कृष्ण—इस तरह इन तीनोंमें मानो अद्वैत उत्पन्न हो गया, मानो तीनोंकी समाधि लग गयी। गीताके अभ्यासीको ऐसी ही एकाग्रता चाहिए।

(२) अर्जुनकी भूमिकाका सम्बन्ध

कुछ लोगोंका खयाल है कि गीताका आरम्भ दूसरे अध्यायसे समझना चाहिए। दूसरे अध्यायके ग्यारहवें श्लोकसे प्रत्यक्ष उपदेशका आरम्भ होता है, तो वहींसे आरम्भ क्यों न समझा जाय? एक व्यक्तिने तो मुझसे कहा—"भगवान्ने अक्षरोंमें अकारको ईश्वरीय विभूति बताया है। इधर अशोच्यानन्वशोचस्त्वम् के आरम्भमें अनायास अ-कार आ गया है। अतः वहींसे आरम्भ मान लेना चाहिए।" इस दलीलको हम छोड़ दें, तो भी यहाँसे आरम्भ मानना अनेक दृष्टियोंसे उचित ही है। फिर भी उसके पहलेके प्रास्ताविक भागका महत्त्व तो है ही। अर्जुन किस भूमिकापर स्थित है, किस बातका प्रतिपादन करनेके लिए गीताकी प्रवृत्ति हुई है, यह इस प्रास्ताविक कथा-भागके बिना अच्छी तरह समझमें नहीं आ सकता।

कुछ लोग कहते हैं कि अर्जुनका क्लैब्य दूर करके उसे युद्धमें प्रवृत्त करनेके लिए गीता कही गयी है। उनके मतमें गीता केवल कर्म-योग ही नहीं बताती, बल्कि युद्ध-योगका भी प्रतिपादन करती है। पर जरा विचार करनेपर इस कथनकी भूल हमें दीख जायगी। अठारह अक्षौहिणी सेना लड़नेके लिए तैयार थी। तो क्या हम यह कहेंगे कि सारी गीता सुनाकर भगवान्ने अर्जुनको उस सेनाकी बराबरीका

बनाया? घबड़ाया तो अर्जुन था, न कि वह सेना। तो क्या सेनाकी योग्यता अर्जुनसे अधिक थी? यह बात तो कल्पनामें भी नहीं आ सकती। अर्जुन, जो लड़ाईसे परावृत्त हो रहा था, सो भयके कारण नहीं। सैकड़ों लड़ाइयोंमें अपना जौहर दिखानेवाला वह महावीर था। उत्तर-गो-ग्रहणके समय उसने अकेले ही भीष्म, द्रोण और कर्णके दाँत खट्टे कर दिये थे। सदा विजयी और सब नरोंमें एक ही सच्चा नर है, ऐसी उसकी ख्याति थी। वीर-वृत्ति उसके रोम-रोममें भरी थी। अर्जुनको छेड़नेके लिए, उत्तेजित करनेके लिए क्लैव्यका आरोप तो कृष्णने भी करके देख लिया, परंतु उनका वह तीर बेकार गया और फिर उन्हें दूसरे ही मुद्दोंको लेकर ज्ञान-विज्ञान-संबंधी व्याख्यान देने पड़े। तब यह निश्चित है कि महज क्लैव्य-निरसन जैसा सरल तात्पर्य गीताका नहीं है।

दूसरे कुछ लोग कहते हैं कि अर्जुनकी अहिंसा-वृत्तिको दूर करके उसे युद्धमें प्रवृत्त करनेके लिए गीता कही गयी है। मेरी दृष्टिसे यह भी कथन ठीक नहीं है। इसकी छानबीन करनेके लिए पहले हमें अर्जुनकी भूमिका देखनी चाहिए। इसके लिए पहले अध्याय और दूसरे अध्यायमें जा पहुँचनेवाली उसकी खाड़ीसे हमें बहुत सहायता मिलेगी।

अर्जुन, जो समर-भूमिमें खड़ा हुआ, सो कृत-निश्चय होकर और कर्तव्य-भावसे। क्षात्रवृत्ति उसके स्वभावमें थी। युद्धको टालनेका भरसक प्रयत्न किया जा चुका था, फिर भी वह टल नहीं पाया था। कम-से-कम माँगका प्रस्ताव और श्रीकृष्ण जैसेकी मध्यस्थता, दोनों बेकार जा चुके थे। ऐसी स्थितिमें अनेक देशोंके राजाओंको एकत्र करके और श्रीकृष्णसे अपना सारथ्य स्वीकृत कराकर वह रणांगणमें खड़ा है और वीरोचित उत्साहसे श्रीकृष्णसे कहता है—"दोनों सेनाओंके बीच मेरा रथ खड़ा कीजिये, जिससे मैं एक बार उन लोगोंके चेहरे तो देख लूँ, जो मुझसे लड़नेके लिए तैयार होकर आये हैं।" कृष्ण ऐसा ही करते हैं। अर्जुन चारों ओर एक निगाह डालता है, तो उसे क्या दिखाई देता है? दोनों ओर अपने ही नाते-रिश्तेदारों, सगे-

संबंधियोंका जबरदस्त जमघट। वह देखता है कि दादा, बाप, लड़के, पोते, आप्त-स्वजन-संबंधियोंकी चार पीढ़ियाँ मरने-मारनेके अंतिम निश्चयसे वहाँ एकत्र हुई हैं। यह बात नहीं कि इससे पहले उसे इन बातोंका अंदाज न हुआ हो; परंतु प्रत्यक्ष दर्शनका कुछ जुदा ही प्रभाव मनपर पड़ता है। उस सारे स्वजन-समूहको देखकर उसके हृदयमें एक उथल-पुथल मचती है। उसे बहुत बुरा लगता है। आजतक उसने अनेक युद्धोंमें असंख्य वीरोंका संहार किया था। उस समय उसे बुरा नहीं लगा था, उसका गांडीव हाथसे छूट नहीं पड़ा था, शरीरमें कंप नहीं होने लगा था, उसकी आँखें भीनी नहीं हो गयी थीं। तो फिर इसी समय ऐसा क्यों हुआ? क्या अशोककी तरह उसके मनमें अहिंसा-वृत्ति का उदय हो गया था? नहीं, यह तो केवल स्वजनासक्ति थी। इस समय भी यदि गुरु, बंधु और आप्त सामने न होते, तो उसने शत्रुओंके मुंड गेंदकी तरह उड़ा दिये होते। परंतु इस आसक्ति-जनित मोहने उसकी कर्तव्य-निष्ठाको ग्रस लिया और तब उसे तत्त्वज्ञान याद हो आया। कर्तव्य-निष्ठ मनुष्यके मोहग्रस्त होनेपर भी नग्न—खुल्लमखुल्ला—कर्तव्यच्युति उसे सहन नहीं होती। वह कोई सद्विचार उसे पहनाता है। यही हाल अर्जुनका हुआ। अब वह झूठमूठ प्रतिपादन करने लगा कि युद्ध ही वास्तवमें एक पाप है। युद्धसे कुलक्षय होगा, धर्मका लोप होगा, स्वैराचार मचेगा, व्यभिचार-वाद फैलेगा, अकाल आ पड़ेगा, समाज-पर तरह-तरहके संकट आयेंगे, आदि अनेक दलीलें देकर वह कृष्णको ही समझाने लगा।

यहाँ मुझे एक न्यायाधीशका किस्सा याद आता है। एक न्याया-धीश था। उसने सैकड़ों अपराधियोंको फाँसीकी सजा दी थी। परंतु एक दिन खुद उसीका लड़का खूनके जुर्ममें उसके सामने पेश किया गया। बेटेपर खूनका जुर्म साबित हुआ और उसे फाँसीकी सजा देनेकी नौबत न्यायाधीशपर आ गयी। तब वह हिचकने लगा। वह बुद्धिवाद बघारने लगा—"फाँसीकी सजा बड़ी अमानुषी है। ऐसी सजा देना मनुष्यको शोभा नहीं देता। इससे अपराधीके सुधरनेकी आशा नष्ट

हो जाती है। खून करनेवालेने भावनाके आवेशमें, जोश और उत्तेजनामें खून कर डाला। परंतु उसकी आँखोंपरसे खूनका जनून उतर जानेपर उस व्यक्तिको संजीदगीके साथ फाँसीके तख्तेपर चढ़ाकर मार डालना समाजकी मनुष्यताके लिए बड़ी लज्जाकी बात है, बड़ा कलंक है" आदि दलीलें वह देने लगा। यदि अपना लड़का सामने न आया होता, तो जज साहब बेखटके जिंदगीभर फाँसीकी सजा देते रहते। किंतु वे अपने लड़केके ममत्वके कारण ऐसी बातें करने लगे। उनकी वह आवाज आंतरिक नहीं थी। वह आसक्ति-जनित थी। 'यह मेरा लड़का है' इस ममत्वमेंसे वह वाङ्मय निकला था।

अर्जुनकी गति भी इस न्यायाधीशकी तरह हुई। उसने जो दलीलें दी थीं, वे गलत नहीं थीं। पिछले महायुद्धमें सारे संसारने ठीक इन्हीं परिणामोंको प्रत्यक्ष देखा है। परंतु सोचनेकी बात यह है कि वह अर्जुनका तत्त्वज्ञान (दर्शन) नहीं, किंतु कोरा प्रज्ञावाद था। कृष्ण इसे जानते थे। इसलिए उन्होंने उसपर जरा भी ध्यान न देकर सीधा उसके मोह-नाशका उपाय शुरू किया। अर्जुन यदि सचमुच अहिंसावादी हो गया होता, तो उसे किसीने कितना ही अवांतर ज्ञान-विज्ञान बताया होता, तो भी असली बातका जवाब मिले बिना उसका समाधान न हुआ होता। परंतु सारी गीतामें इस मुद्देका कहीं भी जवाब नहीं दिया गया, फिर भी अर्जुनका समाधान हुआ है। इन सबका भावार्थ यही है कि अर्जुनकी अहिंसा-वृत्ति नहीं थी, वह युद्ध-प्रवृत्त ही था। युद्ध उसकी दृष्टिसे उसका स्वभाव-प्राप्त और अपरिहार्य रूपसे निश्चित कर्तव्य था। उसे वह मोहके वश होकर टालना चाहता था और गीताका मुख्यतः इस मोहपर ही गदा-प्रहार है।

(३) गीताका प्रयोजन : स्वधर्म-विरोधी मोहका निरास

अर्जुन अहिंसाकी ही नहीं, संन्यासकी भी भाषा बोलने लगा। वह कहता है—"इस रक्त-लांछित क्षात्र-धर्मसे संन्यास ही अच्छा है।" परंतु क्या अर्जुनका वह स्वधर्म था? उसकी वह वृत्ति थी क्या? अर्जुन संन्यासीका वेष तो बड़े मजेमें बना सकता था, पर वैसी

वृत्ति कैसे ला सकता था? संन्यासके नामपर यदि वह जंगलमें जाकर रहता, तो वहाँ हिरन मारना शुरू कर देता। अतः भगवान्‌ने साफ ही कहा—"अर्जुन, जो तू यह कह रहा है कि मैं लड़ूँगा नहीं, वह तेरा भ्रम है। आजतक जो तेरा स्वभाव बना हुआ है, वह तुझे लड़ाये बिना कभी नहीं माननेका।"

अर्जुनको स्वधर्म विगुण मालूम होने लगा। परंतु स्वधर्म कितना ही विगुण हो, तो भी उसीमें रहकर मनुष्यको अपना विकास कर लेना चाहिए; क्योंकि उसीमें रहनेसे विकास हो सकता है। इसमें अभिमान-का कोई प्रश्न नहीं है। यह तो विकासका सूत्र है। स्वधर्म ऐसी वस्तु नहीं है कि जिसे बड़ा समझकर ग्रहण करें और छोटा समझकर छोड़ दें। वस्तुतः वह न बड़ा होता है, न छोटा। वह हमारे ब्योंतका होता है। श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः इस गीता-वचनमें 'धर्म' शब्दका अर्थ हिंदू-धर्म, इसलाम, ईसाई-धर्म आदि जैसा नहीं है। प्रत्येक व्यक्तिका अपना भिन्न-भिन्न धर्म है। मेरे सामने यहाँ जो दो सौ व्यक्ति मौजूद हैं, उनके दो सौ धर्म हैं। मेरा धर्म भी जो दस वर्ष पहले था, वह आज नहीं है। आजका दस वर्ष बाद नहीं रहनेका। चिंतन और अनुभवसे जैसे-जैसे वृत्तियाँ बदलती जाती हैं, वैसे-वैसे पहलेका धर्म छूटता जाता और नवीन धर्म प्राप्त होता जाता है। हठ पकड़कर कुछ भी नहीं करना है।

दूसरेका धर्म भले ही श्रेष्ठ मालूम हो, उसे ग्रहण करनेमें मेरा कल्याण नहीं है। सूर्यका प्रकाश मुझे प्रिय है। उस प्रकाशसे मैं बढ़ता रहता हूँ। सूर्य मुझे वंदनीय भी हैं। परंतु इसलिए यदि मैं पृथ्वीपर रहना छोड़कर उनके पास जाना चाहूँगा, तो जलकर खाक हो जाऊँगा। इसके विपरीत भले ही पृथ्वीपर रहना विगुण हो, सूर्यके सामने पृथ्वी बिल्कुल तुच्छ हो, वह स्व-प्रकाशी न हो, तो भी जबतक सूर्यके तेजको सहन करनेकी सामर्थ्य मुझमें न आ जायगी, तबतक सूर्यसे दूर पृथ्वीपर रहकर ही मुझे अपना विकास कर लेना होगा। मछलियोंसे यदि कोई कहे कि 'पानीसे दूध कीमती है, तुम

दूधमें रहने चलो', तो क्या मछलियाँ उसे मंजूर करेंगी ? मछलियाँ तो पानीमें ही जी सकती हैं, दूधमें मर जायँगी।

दूसरेका धर्म सरल मालूम हो, तो भी उसे ग्रहण नहीं करना चाहिए। बहुत बार सरलता आभासमात्र ही होती है। घर-गृहस्थीमें बाल-बच्चोंकी ठीक सँभाल नहीं की जाती, इसलिए ऊबकर यदि कोई गृहस्थ संन्यास ले ले, तो वह ढोंग होगा और भारी भी पड़ेगा। मौका पाते ही उसकी वासनाएँ जोर पकड़ेंगी। संसारका बोझ उठाया नहीं जाता, इसलिए जंगलमें जानेवाला पहले वहाँ छोटी-सी कुटिया बनायेगा। फिर उसकी रक्षाके लिए बाड़ लगायेगा। ऐसा करते-करते वहाँ भी उसपर सवाया संसार खड़ा करनेकी नौबत आ जायगी। यदि सचमुच मनमें वैराग्यवृत्ति हो, तो फिर संन्यास भी कौन कठिन बात है ? संन्यासको आसान बतानेवाला स्मृति-वचन तो है ही। परंतु खास बात वृत्तिकी है। जिसकी जो वास्तविक वृत्ति होगी, उसीके अनुसार उसका धर्म होगा। श्रेष्ठ-कनिष्ठ, सरल-कठिनका यह प्रश्न नहीं है। विकास सच्चा होना चाहिए। परिणति वास्तविक होनी चाहिए।

परंतु कुछ भावुक व्यक्ति पूछते हैं—"यदि युद्ध-धर्मसे संन्यास सचमुच ही सदा श्रेष्ठ है, तो फिर भगवान्‌ने अर्जुनको सच्चा संन्यासी ही क्यों न बनाया ? उनके लिए क्या यह असंभव था ?" उनके लिए असंभव तो कुछ भी नहीं था। परंतु उसमें अर्जुनका फिर पुरुषार्थ क्या रह जाता ? परमेश्वरने स्वतंत्रता दे रखी है। अतः हर आदमी अपने लिए प्रयत्न करता रहे, इसीमें मजा है। छोटे बच्चे खुद तस्वीरें खींचनेमें आनंद मानते हैं। उन्हें यह पसंद नहीं आता कि कोई उनसे हाथ पकड़कर तस्वीर खिंचाये। शिक्षक यदि बच्चोंके सवाल झट हल कर दिया करें, तो फिर बच्चोंकी बुद्धि बढ़ेगी कैसे ? अतः माँ-बाप और गुरुका काम सिर्फ सुझाव देना है। परमेश्वर अंदरसे हमें सुझाता रहता है। इससे अधिक वह कुछ नहीं करता। कुम्हारकी तरह भगवान् ठोंक-पीटकर अथवा थपथपाकर हरएकका मटका तैयार करे,

तो उसमें खूबी ही क्या ? हम मिट्टीकी हँड़िया तो हैं नहीं, हम तो चिन्मय हैं।

इस सारे विवेचनसे एक बात आपकी समझमें आ गयी होगी कि गीताका जन्म, स्वधर्ममें बाधक जो मोह है, उसके निवारणार्थ हुआ है। अर्जुन धर्म-संमूढ़ हो गया था। स्वधर्मके विषयमें उसके मनमें मोह पैदा हो गया था। श्रीकृष्णके पहले उलहनेके बाद यह बात अर्जुन खुद ही स्वीकार करता है। वह मोह, वह ममत्व, वह आसक्ति दूर करना गीताका मुख्य काम है। इसीलिए सारी गीता सुना चुकनेके बाद भगवान्‌ने पूछा है—"अर्जुन, तुम्हारा मोह चला गया न ?" और अर्जुन जवाब देता है—"हाँ, भगवन्, मोह नष्ट हो गया, मुझे स्वधर्मका भान हो गया।" इस तरह यदि गीताके उपक्रम और उपसंहारको मिलाकर देखें, तो मोह-निरसन ही उसका तात्पर्य निकलता है। गीता ही नहीं, सारे महाभारतका यही उद्देश्य है। व्यासजीने महाभारतके प्रारंभमें ही कहा है कि लोकहृदयके मोहावरणको दूर करनेके लिए मैं यह इतिहास-प्रदीप जला रहा हूँ।

(४) ऋजु-बुद्धिका अधिकारी

आगेकी सारी गीता समझनेके लिए अर्जुनकी यह भूमिका हमारे बहुत काम आयी है; इसलिए तो हम इसका आभार मानेंगे ही, परन्तु इससे और भी एक उपकार है। अर्जुनकी इस भूमिकामें उसके मनकी अत्यंत ऋजुताका पता चलता है। खुद 'अर्जुन' शब्दका अर्थ ही 'ऋजु' अथवा 'सरल स्वभाववाला' है। उसके मनमें जो कुछ भी विकार या विचार आये, वे सब उसने दिल खोलकर भगवान्‌के सामने रख दिये। मनमें कुछ भी छिपा नहीं रखा और वह अंतमें श्रीकृष्णकी शरण गया। सच पूछिये तो वह पहलेसे ही कृष्णकी शरणमें था। कृष्णको सारथी बनाकर जबसे उसने अपने घोड़ोंकी लगाम उनके हाथोंमें पकड़ायी, तभीसे उसने अपनी मनोवृत्तियोंकी लगाम भी उनके हाथोंमें सौंप देनेकी तैयारी कर ली थी। आइये, हम भी ऐसा ही करें। 'अर्जुनके पास तो कृष्ण थे, हमें कृष्ण कहाँ मिलेंगे' ऐसा हम न कहें।

'कृष्ण' नामक कोई व्यक्ति है, ऐसी ऐतिहासिक उर्फ भ्रामक धारणामें हम न पड़ें। अंतर्यामीके रूपमें कृष्ण प्रत्येकके हृदयमें विराजमान है। हमारे सबसे अधिक निकट वही है। तो हम अपने हृदयके सब छल-मल उसके सामने रख दें और उससे कहें—"भगवन्, मैं तेरी शरण हूँ, तू मेरा अनन्य गुरु है। मुझे उचित मार्ग दिखा। जो मार्ग तू दिखायेगा, मैं उसीपर चलूँगा।" यदि हम ऐसा करेंगे, तो वह पार्थ-सारथी हमारा भी सारथ्य करेगा, अपने श्रीमुखसे वह हमें गीता सुनायेगा और हमें विजय-लाभ करा देगा।

रविवार, २१-२-'३२

दूसरा अध्याय

सब उपदेश थोड़ेमें : आत्मज्ञान और समत्वबुद्धि

(५) गीताकी परिभाषा

भाइयो, पिछले अध्यायमें हमने अर्जुनके विषाद-योगको देखा। जब अर्जुनके जैसी ऋजुता (सरल भाव) और हरिशरणता होती है, तो फिर विषादका भी योग बनता है। इसीको 'हृदय-मंथन' कहते हैं। गीताकी इस भूमिकाको मैंने उसके संकल्पकारके अनुसार अर्जुन-विषाद-योग जैसा विशिष्ट नाम न देते हुए विषाद-योग जैसा सामान्य नाम दिया है; क्योंकि गीताके लिए अर्जुन एक निमित्तमात्र है। यह न समझना चाहिए कि पंढरपुर (महाराष्ट्र) के पांडुरंगका अवतार सिर्फ पुंडलीकके ही लिए हुआ; क्योंकि हम देखते हैं कि पुंडलीकके निमित्तसे वह हम जड़ जीवोंके उद्धारके लिए आज हजारों वर्षोंसे खड़ा है। इसी प्रकार गीताकी दया अर्जुनके निमित्तसे क्यों न हो, हम सबके लिए हुई है। अतः गीताके पहले अध्यायके लिए विषाद-योग जैसा सामान्य नाम ही अच्छा मालूम होता है। यह गीतारूपी वृक्ष यहाँसे बढ़ते-बढ़ते अन्तिम अध्यायमें प्रसाद-योगरूपी फलको प्राप्त होने-वाला है। ईश्वरकी इच्छा होगी, तो हम भी अपनी इस कारावासकी मुद्दतमें वहाँतक पहुँच जायँगे।

दूसरे अध्यायसे गीताकी शिक्षाका आरंभ होता है और शुरूमें ही भगवान् जीवनके महासिद्धांत बता रहे हैं। इसमें उनका आशय यह है कि यदि शुरूमें ही जीवनके वे मुख्य तत्त्व गले उतर जायँ, जिनके आधारपर जीवनकी इमारत खड़ी करनी है, तो आगेका मार्ग सरल हो जायगा। दूसरे अध्यायमें आनेवाले 'सांख्य-बुद्धि' शब्दका अर्थ मैं करता हूँ—जीवनके मूलभूत सिद्धांत। इन मूल सिद्धांतोंको अब हमें देख जाना है। परंतु इसके पहले यदि हम इस 'सांख्य' शब्दके प्रसंगसे गीताके पारिभाषिक शब्दोंके अर्थका थोड़ा स्पष्टीकरण कर लें, तो अच्छा होगा।

गीता पुराने शास्त्रीय शब्दोंको नये अर्थोंमें लिखनेकी आदी है। पुराने शब्दोंपर नये अर्थकी कलम लगाना विचार-क्रांतिकी अहिंसक प्रक्रिया है। व्यासदेव इस प्रक्रियामें सिद्धहस्त हैं। इससे गीताके शब्दोंको व्यापक अर्थ प्राप्त हुआ और वह तरोताजा बनी रही एवं अनेक विचारक अपनी-अपनी आवश्यकता और अनुभवके अनुसार अनेक अर्थ ले सके। अपनी-अपनी भूमिकापरसे ये सब अर्थ सही हो सकते हैं, और मैं समझता हूँ कि उनके विरोधकी आवश्यकता न पड़ने देकर हम स्वतंत्र अर्थ भी कर सकते हैं।

इस सिलसिलेमें उपनिषद्में एक सुंदर कथा आती है। एक बार देव, दानव और मानव, तीनों प्रजापतिके पास उपदेशके लिए पहुँचे। प्रजापतिने सबको एक ही अक्षर बताया—'द'। देवोंने कहा—"हम देवता लोग कामी हैं, हमें विषयभोगोंका चस्का लग गया है। अतः हमें ब्रह्माने 'द' अक्षरके द्वारा 'दमन' करनेकी सीख दी है।" दानवोंने कहा—"हम दानव बड़े क्रोधी और दयाहीन हो गये हैं। हमें 'द' अक्षरके द्वारा प्रजापतिने यह शिक्षा दी है कि 'दया' करो।" मानवोंने कहा—"हम मानव बड़े लोभी और धन-संचयके पीछे पड़े हैं, हमें 'द' के द्वारा 'दान' करनेका उपदेश प्रजापतिने दिया है।" प्रजापतिने सभीके अर्थोंको ठीक माना, क्योंकि सबने उनको अपने अनुभवोंसे प्राप्त किया था। गीताकी परिभाषाका अर्थ करते समय उपनिषद्की यह कथा हमें ध्यानमें रखनी चाहिए।

(६) जीवन-सिद्धान्त : १. देहसे स्वधर्माचरण

दूसरे अध्यायमें जीवनके तीन महासिद्धांत पेश किये गये हैं— (१) आत्माकी अमरता और अखंडता, (२) देहकी क्षुद्रता और (३) स्वधर्मकी अबाध्यता। इनमें स्वधर्मका सिद्धांत कर्तव्य-रूप है और शेष दो ज्ञातव्य हैं। पिछले अध्यायमें मैंने स्वधर्मके संबंधमें कुछ बताया है। यह स्वधर्म हमें निसर्गतः ही प्राप्त होता है। स्वधर्मको कहीं खोजने नहीं जाना पड़ता। ऐसी बात नहीं है कि हम आकाशसे गिरे और धरतीपर सँभले। हमारा जन्म होनेसे पहले यह समाज था,

हमारे माँ-बाप थे, अड़ोसी-पड़ोसी थे। ऐसे इस प्रवाहमें हमारा जन्म होता है। अतः जिन माँ-बापकी कोखसे मैं जनमा हूँ, उनकी सेवा करनेका धर्म मुझे जन्मतः ही प्राप्त हो गया है और जिस समाजमें मैंने जन्म लिया, उसकी सेवा करनेका धर्म भी मुझे इस क्रमसे अपने-आप ही प्राप्त हो गया है। सच तो यह है कि हमारे जन्मके साथ ही हमारा स्वधर्म भी जनमता है, बल्कि यह भी कह सकते हैं कि वह तो हमारे जन्मके पहलेसे ही हमारे लिए तैयार रहता है; क्योंकि वह हमारे जन्मका हेतु है। हमारा जन्म उसकी पूर्तिके लिए होता है। कोई-कोई स्वधर्मको पत्नीकी उपमा देते हैं और कहते हैं कि जैसे पत्नीका संबंध अविच्छेद्य माना गया है, वैसे ही यह स्वधर्म-संबंध भी अविच्छेद्य है। लेकिन मुझे यह उपमा भी गौण मालूम होती है। मैं स्वधर्मके लिए माताकी उपमा देता हूँ। मुझे अपनी माताका चुनाव इस जन्ममें करना बाकी नहीं रहा। वह पहले ही निश्चित हो चुकी है। वह कैसी ही क्यों न हो, अब टाली नहीं जा सकती। ऐसी ही स्थिति स्वधर्मकी है। इस जगत्में हमारे लिए स्वधर्मके अतिरिक्त दूसरा कोई आश्रय नहीं है। स्वधर्मको टालते जाना मानो 'स्व' को ही टालने जैसा आत्मघातकीपन है। स्वधर्मके सहारे ही हम आगे बढ़ सकते हैं। अतः यह स्वधर्मका आश्रय कभी किसीको नहीं छोड़ना चाहिए— यह जीवनका एक मूलभूत सिद्धांत स्थिर होता है।

स्वधर्म हमें इतना सहज प्राप्त है कि हमसे अपने-आप उसीका पालन होना चाहिए। परंतु अनेक प्रकारके मोहोंके कारण ऐसा नहीं होता, अथवा बड़ी कठिनाईसे होता है और हुआ भी, तो उसमें विष— अनेक प्रकारके दोष—मिल जाते हैं। स्वधर्मके मार्गमें काँटे बिखेरने-वाले इन मोहोंके बाहरी रूपोंकी तो कोई गिनती ही नहीं है। फिर भी जब हम उनकी छानबीन करते हैं, तो उन सबकी तहमें एक ही बात दिखाई देती है—संकुचित और छिछली देह-बुद्धि। मैं और मेरे शरीरसे संबंध रखनेवाले व्यक्ति, बस, इतनी ही मेरी व्याप्ति—फैलाव—की सीमा है। इस दायरेके बाहर जो हैं, वे सब मेरे लिए गैर अथवा दुश्मन

हैं। भेदकी ऐसी दीवार यह देह-बुद्धि खड़ी कर देती है और तारीफ यह कि जिन्हें मैंने 'मैं' अथवा 'मेरे' मान लिया, उनके भी केवल शरीर ही वह देखती है। देह-बुद्धिके इस दुहरे पेचमें पड़कर हम तरह-तरहके छोटे डबरे बनाने लगते हैं। प्रायः सब लोग इसी कार्यक्रममें लगे रहते हैं। इनमें किसीका डबरा बड़ा, तो किसीका छोटा; परंतु है आखिर वह डबरा ही। इस शरीरके चमड़ेके जितनी ही उसकी गहराई! कोई कुटुंबाभिमानका डबरा बनाकर रहता है, तो कोई देशाभिमानका। ब्राह्मण-ब्राह्मणेतर नामका एक डबरा, हिंदू-मुसलमान नामका दूसरा, ऐसे एक-दो नहीं, अनेक डबरे बने हुए हैं। जिधर देखिये उधर ये डबरे-ही-डबरे! हमारी इस जेलमें भी तो राजनैतिक कैदी और दूसरे कैदी, इस तरहके डबरे बने हुए हैं, मानो इसके बिना हम जी ही नहीं सकते। परंतु इसका नतीजा क्या होता है? यही कि हीन-विकारोंके जंतुओंकी बाढ़ और स्वधर्मरूपी आरोग्यका नाश।

(७) जीवन-सिद्धान्त : २. देहातीत आत्माका भान

ऐसी दशामें स्वधर्मनिष्ठा अकेली पर्याप्त नहीं होती। उसके लिए दूसरे दो और सिद्धांत जाग्रत रखने पड़ते हैं। एक तो यह कि मैं यह मरियल देह नहीं हूँ, देह तो केवल ऊपरकी क्षुद्र पपड़ी है और दूसरा यह कि मैं कभी न मरनेवाला अखंड और व्यापक आत्मा हूँ इन दोनोंको मिलाकर एक पूर्ण तत्त्वज्ञान होता है।

यह तत्त्वज्ञान गीताको इतना आवश्यक जान पड़ता है कि गीता उसीका पहले आवाहन करती है और स्वधर्मका बादमें। कुछ लोग पूछते हैं कि तत्त्वज्ञानसंबंधी ये श्लोक आरंभमें ही क्यों? परंतु मुझे लगता है कि गीतामें यदि कोई श्लोक ऐसे हैं, जिनकी जगह बिलकुल नहीं बदली जा सकती, तो वे ये ही श्लोक हैं।

इतना तत्त्वज्ञान यदि मनमें अंकित हो जाय, तो फिर स्वधर्म बिलकुल भारी नहीं पड़ेगा। यही नहीं, किन्तु स्वधर्मके अतिरिक्त और कुछ करना भारी मालूम पड़ेगा। आत्मतत्त्वकी अखंडता और

देहकी क्षुद्रता, इन बातोंको समझ लेना कोई कठिन नहीं है, क्योंकि ये दोनों सत्य वस्तुएँ हैं। परंतु हमें उनका विचार करना होगा। बार-बार मनमें उनका मंथन करना होगा। इस चामके महत्त्वको घटाकर हमें आत्माको महत्त्व देना सीखना होगा।

यह देह तो पल-पल बदलती रहती है। बचपन, जवानी और बुढ़ापा—इस चक्रका अनुभव किसे नहीं है? आधुनिक वैज्ञानिकोंका तो कहना है कि सात सालमें शरीर बिलकुल बदल जाता है और खूनकी पुरानी एक बूँद भी शेष नहीं रहती। हमारे पूर्वज मानते थे कि बारह वर्षमें पुराना शरीर मर जाता है और इसलिए प्रायश्चित्त, तपश्चर्या, अध्ययन आदिकी भी मीयाद बारह-बारह वर्षकी रखते थे। बहुत वर्षकी जुदाईके बाद जब कोई बेटा अपनी माँसे मिला, तो माँ उसे पहचान न सकी, ऐसे किस्से हम सुनते हैं। तो क्या यही प्रतिक्षण बदलनेवाला, प्रतिक्षण मरणशील देह ही तेरा रूप है? रात-दिन जहाँ मल-मूत्रकी नालियाँ बहती हैं और तुझ जैसा जबर्दस्त धोनेवाला मिल जानेपर भी जिसका अस्वच्छताका व्रत छूटता ही नहीं, क्या वही तू है? वह अस्वच्छ, तू उसे साफ करनेवाला; वह रोगी, तू उसे दवा-पानी देनेवाला; वह साढ़े तीन हाथकी जगह घेरे हुए, तू त्रिभुवन-विहारी; वह नित्य परिवर्तनशील, तू उसके परिवर्तन देखनेवाला; वह मरनेवाला और तू उसके मरणका व्यवस्थापक! तेरा और उसका भेद इतना स्पष्ट होते हुए भी तू इतना संकुचित क्योंकर बनता है? यह क्या कहता है कि इस देहसे जितने संबंध रखते हैं, वे ही मेरे हैं और इस देहकी मृत्युके लिए इतना शोक भी क्या करता है? भगवान् पूछते हैं कि "अरे, देहका नाश क्या शोक करने जैसी बात है?"

देह तो कपड़ेकी तरह है। पुराने फट जाते हैं, इसीसे तो नये धारण किये जा सकते हैं। यदि कोई एक शरीर आत्मासे सदाके लिए चिपका रहता, तो आत्माकी बुरी गति होती। सारा विकास रुक जाता, आनंद हवा हो जाता और ज्ञान-प्रभा मंद पड़ जाती। अतः

देहका नाश शोचनीय नहीं। हाँ, यदि आत्माका नाश होता, तो अलबत्ता वह एक शोचनीय बात होती। पर वह तो अविनाशी है, वह तो मानो एक अखंड बहता हुआ झरना है। उसपर अनेक कलेवर आते और जाते हैं। इसलिए देहके नाते-रिश्तोंके चक्करमें पड़कर शोक करना और ये मेरे तथा ये पराये हैं, ऐसे भेद या टुकड़े करना सर्वथा अनुचित है। यह सारा ब्रह्मांड मानो एक सुन्दर बुनी हुई चादर है। कोई छोटा बच्चा जैसे हाथमें कैंची लेकर चादरके टुकड़े काट देता है, वैसे ही इस देहके बराबर कैंची लेकर उस विश्वात्माके टुकड़े करना कितना लड़कपन और कितनी हिंसा है!

सचमुच, यह बड़े दुःखकी बात है कि जिस भारत-भूमिमें ब्रह्मविद्याने जन्म पाया, उसीमें इन छोटे-बड़े दलों, फिरकों और जातियोंकी चारों ओर भरमार दिखाई देती है और मरनेका तो इतना डर हमारे मनमें घुस बैठा है कि वैसा शायद ही कहीं दूसरी जगह हो। इसमें कोई शक नहीं कि दीर्घकालीन परतंत्रताका ही यह परिणाम है, परंतु यह बात भूल जानेसे भी काम नहीं चलेगा कि वह इस परतंत्रताका एक कारण भी है।

मरणका तो शब्द भी हमें नहीं सुहाता। मरणका नाम लेना ही हमें अमंगल मालूम होता है। ज्ञानदेवको बड़े दुःखके साथ लिखना पड़ा है—

> अगा मर हा बोल न साहती।
> आणि मेलिया तरी रडती॥

जब कोई मर जाता है, तो कितना रोना-चिल्लाना मचाते हैं? मानो वह हमारा एक कर्तव्य ही हो! यहाँतक कि किरायेसे रोनेवाले बुलानेतक बात जा पहुँची है। मृत्यु निकट आ जानेपर भी हम रोगीको नहीं बताते। यदि डॉक्टरने कह दिया है कि यह नहीं बचेगा, तो भी रोगीको अंधकारमें रखेंगे। खुद डॉक्टर भी साफ-साफ

नहीं कहेगा, आखिरी दमतक गलेमें दवाकी शीशियाँ उँड़ेलता रहेगा। इसके बजाय यदि सत्य बात बताकर, धीरज-दिलासा देकर उसे ईश्वर-स्मरणकी ओर लगाया जाय, तो कितना उपकार हो! किंतु उन्हें डर यह लगता है कि कहीं इस धक्केसे यह मटका पहले ही न फूट जाय। परंतु भला क्या निश्चित समयसे पहले यह मटका फूटनेवाला है? और फिर जो मटका दो घंटे बाद फूटनेवाला है, वह थोड़ा पहले ही फूट गया, तो उससे बिगड़ा क्या? इसके मानी यह नहीं कि हम कठोर-हृदय और प्रेमविहीन हो जायँ। किंतु देहासक्ति प्रेम नहीं है। उलटे, देहासक्तिको दूर किये बिना सच्चे प्रेमका उदय ही नहीं होता।

जब देहासक्ति चली जायगी, तब यह मालूम हो जायगा कि देह तो सेवाका एक साधन है और तब देहको उसके योग्य प्रतिष्ठा भी प्राप्त होगी। परंतु आज तो हम देहकी पूजाको ही अपना साध्य मान बैठे हैं। हम यह बात भी भूल गये हैं कि साध्य तो स्वधर्माचरण है। देहको सँभालनेकी एवं उसे खिलाने-पिलानेकी आवश्यकता यदि है, तो वह स्वधर्माचरणके लिए। केवल जीभके चोचले पूरे करनेके लिए उसकी जरूरत न हो। चम्मचसे चाहे हलवा परोसो चाहे दाल-भात, उसे उसका कोई सुख-दुःख नहीं। ऐसी ही स्थिति जीभकी होनी चाहिए—उसे रस-ज्ञान तो हो, पर सुख-दुःख नहीं। शरीरका भाड़ा शरीरको चुका दिया, बस खतम। चर्खेसे सूत कात लेना है, इसलिए उसे तेल देनेकी आवश्यकता है। इसी तरह शरीरसे काम लेना है, इसलिए उसमें कोयला डालना जरूरी है। इस प्रकार यदि हम देहका उपयोग करें, तो मूलतः क्षुद्र होनेपर भी उसका मूल्य बढ़ सकता है और उसे प्रतिष्ठा प्राप्त हो सकती है।

लेकिन हम देहको साधन-रूपसे काममें न लाकर उसीमें डूब जाते हैं और आत्मसंकोच कर लेते हैं। इससे यह देह, जो पहलेसे ही नगण्य है, और भी अधिक क्षुद्र बन जाती है। इसलिए संतजन दृढ़तापूर्वक कहते हैं कि :

देह आणि देहसंबंधें निंदावीं । इतरें वंदावीं श्वान-सूकरें ।

'देह और देह-संबंध निंद्य हैं, श्वान, सूकर आदि वन्द्य हैं।' अरे, तू इस देहकी और देहसे जिनका संबंध हुआ है, उन्हींकी दिन-रात पूजा मत कर। दूसरोंको भी पहचानना सीख—संत इस प्रकार हमें व्यापक होनेकी सीख देते हैं। हम अपने आप्त-इष्ट-मित्रोंके अतिरिक्त दूसरोंके पास अपनी आत्मा कुछ भी ले जाते हैं क्या?

जीव जीवांत घालावा, आत्मा आत्म्यांत मिसळावा।

'जीवमें जीव समाये। आत्मामें आत्मा मिलाये'—ऐसा हम करते हैं क्या? अपने आत्म-हंसको इस पींजरेके बाहरकी हवा खिलाते हैं क्या?—क्या कभी तेरे मनमें ऐसा आता है कि अपने माने हुए दायरेको पारकर कल मैंने नये दस मित्र बनाये। आज पंद्रह हुए। कल पचास होंगे। और ऐसा करते-करते एक दिन सारा विश्व ही मेरा और मैं विश्वका, इस प्रकार अनुभव करने लगूँगा? हम जेलसे अपने नाते-रिश्तेदारोंको पत्र लिखते हैं, इसमें क्या विशेषता है? किन्तु जेलसे छूटे हुए किसी नये मित्र—राजनैतिक कैदी नहीं, चोर कैदी—को पत्र लिखेंगे क्या?

हमारा आत्मा व्यापक होनेके लिए छटपटाता रहता है। वह चाहता है कि सारे जगत्को गले लगा लें। परंतु हम उसे कोठरीमें बंद कर देते हैं। आत्माको हमने कैद कर रखा है। उसकी यादतक हमें नहीं होती। सवेरेसे लेकर शामतक हम देहकी ही सेवामें लगे रहते हैं। दिन-रात यही विचार कि मेरा यह शरीर कितना मोटा हुआ या कितना दुबला हो गया, मानो संसारमें कोई दूसरा आनंद ही नहीं। भोग और स्वादका आनंद तो पशु भी लेते हैं। अब त्याग और स्वाद मिटानेका आनंद भी देखेगा या नहीं? स्वयं भूखसे पीड़ित होते हुए भी भरी थाली दूसरे भूखे मनुष्यको देनेमें क्या आनंद है—इसका अनुभव कर। इसके स्वादको चख। माँ जब बच्चेके लिए कष्ट उठाती है, तब उसे इस स्वादका थोड़ा-सा मजा मिलता है। मनुष्य 'अपना' कहकर जो संकुचित दायरा बनाता रहता है, उसमें भी

उसका उद्देश्य अनजाने यह रहता है कि वह आत्मविकासका स्वाद चखे; क्योंकि उससे देहबद्ध आत्मा थोड़ा और कुछ देरके लिए उससे बाहर निकलता है। परंतु यह बाहर आना किस प्रकारका है ? जिस प्रकार कि जेलकी कोठरीके कैदीका कामके बहाने जेलके अहातेमें आना हो। परंतु आत्माका काम इतनेसे नहीं चलता। आत्माको तो मुक्तानंद चाहिए।

सारांश, (१) साधकको चाहिए कि वह अधर्म और परधर्मके टेढ़े रास्तेको छोड़कर स्वधर्मका सहज और सरल मार्ग पकड़े। स्वधर्मका पल्ला वह कभी न छोड़े। (२) देह क्षणभंगुर है, यह समझ-कर उसका उपयोग स्वधर्मके लिए ही करे। जब आवश्यकता हो, तो उसे स्वधर्मके लिए त्यागनेमें भी संकोच न करे। (३) आत्माकी अखंडता और व्यापकताका भान सतत जाग्रत रखे और चित्तसे 'स्व'-'पर' के भेदको निकाल डाले। जीवनके ये मुख्य सिद्धांत भगवान् बताते हैं। जो मनुष्य इनके अनुसार आचरण करेगा, वह निस्सन्देह एक दिन

'देहाचेनि साधनें, सच्चिदानंदपदवी घेणें'

नरदेहके ही द्वारा सच्चिदानंद-पद लेनेके अनुभवको प्राप्त करेगा।

(८) दोनोंका मेल साधनेकी युक्ति : फलत्याग

भगवान्‌ने जीवनके सिद्धांत बताये तो, किंतु केवल सिद्धांत बता देनेसे काम पूरा नहीं हो सकता। गीतामें वर्णित ये सिद्धांत तो उपनिषदों और स्मृतियोंमें पहलेसे ही मौजूद हैं। गीताने उन्हींको फिरसे उपस्थित किया, तो इसमें गीताकी अपूर्वता नहीं है। उसकी अपूर्वता तो यह बतलानेमें है कि इन सिद्धांतोंको आचरणमें कैसे लायें ? इस महाप्रश्नको हल करनेमें ही गीताकी कुशलता है।

जीवनके सिद्धांतोंको व्यवहारमें लानेकी जो कला या युक्ति है, उसीको 'योग' कहते हैं। 'सांख्य' का अर्थ है—'सिद्धांत' अथवा 'शास्त्र' और 'योग' का अर्थ है 'कला'। ज्ञानदेव साक्षी देते हैं—

योगियां साधली जीवन-कला।

'योगियोंने जीवन-कला साध ली है।' गीता सांख्य और योग—शास्त्र और कला—दोनोंसे परिपूर्ण है। शास्त्र और कला, दोनोंके योगसे जीवन-सौंदर्य खिलता है। कोरा शास्त्र हवाई महल है। संगीत-शास्त्रको समझ तो लिया, किन्तु यदि कंठसे संगीत प्रकट करनेकी कला न सधी, तो नाद-ब्रह्मकी सजावट नहीं होगी। यही कारण है कि भगवान्‌ने सिद्धांतोंके साथ-ही-साथ उनके विनियोग जाननेकी कला भी बतायी है। तो वह भला कौन-सी कला है? देहको तुच्छ मानकर आत्माकी अमरता और अखंडतापर दृष्टि रखकर स्वधर्मका आचरण करनेकी वह कला कौन-सी है?

जो कर्म करते हैं, उनकी दोहरी भावना होती है। एक तो यह कि अपने कर्मका फल हम अवश्य चखेंगे। यह हमारा अधिकार है। और इसके विपरीत दूसरी यह कि यदि हमें फल चखनेको न मिले, तो हम कर्म ही नहीं करेंगे। गीता इन दोनोंके अतिरिक्त एक तीसरी ही भावना या वृत्ति बताती है। वह कहती है—"कर्म तो अवश्य करो, पर फलमें अपना अधिकार मत मानो।" जो कर्म करता है, उसे फलका अधिकार अवश्य है। परंतु तुम उस अधिकारको स्वेच्छासे छोड़ दो। रजोगुण कहता है—"लूँगा तो फलके सहित ही।" और तमोगुण कहता है—"छोड़ूँगा तो कर्म-समेत ही।" ये दोनों एक-दूसरेके भाई ही हैं। अतः तुम इन दोनोंसे ऊपर उठकर शुद्ध सत्त्वगुणी बनो अर्थात् कर्म तो करो, पर फलको छोड़ दो और फलको छोड़कर कर्म करो। पहले और पीछे, कहीं भी फलकी आशा मत रखो।

'फलकी आशा न रखो'—ऐसा कहते हुए गीता यह भी जताती है कि कर्मको उत्तमता और दक्षतासे करना चाहिए। सकाम पुरुषके कर्मकी अपेक्षा निष्काम पुरुषका कर्म अधिक अच्छा होना चाहिए। यह अपेक्षा उचित ही है; क्योंकि सकाम पुरुष तो फलासक्त है, इसलिए फल-संबंधी स्वप्न-चिंतनमें उसका थोड़ा-बहुत समय और शक्ति अवश्य लगेगी। परंतु फलेच्छा-रहित पुरुषका तो प्रत्येक क्षण और सारी शक्ति कर्ममें ही लगी रहेगी। नदीको छुट्टी नहीं, हवाको विश्राम नहीं, सूर्य

सदैव जलता ही रहना जानता है। इसी प्रकार निष्काम कर्ता सतत सेवा-कर्मको ही जानता है। अब यदि ऐसे निरंतर कर्मरत पुरुषका कर्म उत्कृष्ट न होगा, तो किसका होगा ? फिर चित्तकी समता एक बड़ा ही उत्तम गुण है और वह तो निष्काम पुरुषकी बपौती ही है। किसी बिलकुल बाहरी कारीगरीके काममें हस्तकौशलके साथ ही यदि चित्तके समत्वका योग हो, तो यह प्रकट है कि वह काम और भी अधिक सुन्दर बन जायगा। इसके अतिरिक्त सकाम और निष्काम पुरुषकी कर्म-दृष्टिमें जो अंतर है, वह भी निष्काम पुरुषके कर्मके अधिक अनुकूल है। सकाम पुरुष कर्मकी ओर स्वार्थ-दृष्टिसे देखता है। 'मेरा ही कर्म और मुझे ही फल' इस दृष्टिके कारण यदि कर्मकी ओरसे उसका थोड़ा भी ध्यान हट गया, तो उसमें उसे नैतिक दोष नहीं मालूम होता। अधिक हुआ तो व्यावहारिक दोष जान पड़ता है। परंतु निष्काम पुरुषकी तो अपने कर्मके विषयमें नैतिक कर्तव्य-बुद्धि रहती है। अतः वह तत्परतासे इस बातकी सावधानी रखता है कि अपने काममें थोड़ी-सी भी कमी न रह जाय। इसलिए भी उसका कर्म अधिक निर्दोष होगा। किसी भी तरह देखिये, फल-त्याग अत्यंत कुशल एवं यशस्वी तत्त्व सिद्ध होता है। अतः फल-त्यागको योग अथवा जीवनकी कला कहना चाहिए।

यदि निष्काम कर्मकी बात छोड़ दें, तो भी खुद कर्ममें जो आनंद है, वह उसके फलमें नहीं है। अपना कर्म करते हुए जो एक प्रकारकी तन्मयता होती है, वह आनंदका एक स्रोत ही है। चित्रकारसे कहिये—"चित्र मत बनाओ, इसके लिए तुम चाहे जितने पैसे ले लो", तो वह नहीं मानेगा। किसानसे कहिये—"खेतपर मत जाओ, गायें मत चराओ, मोट मत चलाओ, तुम जितना कहोगे, उतना अनाज तुम्हें दे देंगे।" यदि वह सच्चा किसान होगा, तो वह यह सौदा पसंद न करेगा। किसान प्रातःकाल खेतपर जाता है। सूर्यनारायण उसका स्वागत करते हैं। पक्षी उसके लिए गाना गाते हैं। गाय-बैल उसके आसपास घिरे रहते हैं। वह प्रेमसे उन्हें सहलाता है। जो झाड़-पेड़

लगाये हैं, उनको भरनजर देखता है। इन सब कामोंमें एक सात्त्विक आनंद है। यह आनंद ही उस कर्मका मुख्य और सच्चा फल है। इसकी तुलनामें उसका बाह्य फल बिलकुल ही गौण है।

गीता जब मनुष्यकी दृष्टि कर्म-फलसे हटा लेती है, तो वह इस तरकीबसे कर्ममें उसकी तन्मयता सौगुनी बढ़ा देती है। फल-निरपेक्ष पुरुषकी कर्म-विषयक तन्मयता समाधिके दर्जेकी होती है। इसलिए उसका आनंद औरोंसे सौगुना अधिक होता है। इस तरह देखें, तो यह बात तुरंत समझमें आ जाती है कि निष्काम कम स्वतः ही एक महान् फल है। ज्ञानदेवने यह ठीक ही पूछा है—"वृक्षमें फल लगते हैं, पर फलमें अब और क्या फल लगेंगे?" इस देहरूपी वृक्षमें निष्काम स्वधर्माचरण जैसा सुन्दर फल लग चुकनेपर अब अन्य किसी फलकी और क्यों अपेक्षा रखें? किसान खेतमें गेहूँ बोये और गेहूँ बेचकर ज्वारकी रोटी क्यों खाये? सुस्वादु केले लगाये और उन्हें बेचकर मिर्च क्यों खाये? अरे भाई, केले ही खाओ न? पर लोकमतको यह स्वीकार नहीं। केले खानेका भाग्य लेकर भी लोग मिर्चपर ही टूटते हैं। गीता कहती है—"तुम ऐसा मत करो, कर्मको ही खाओ, कर्मको ही पियो और कर्मको ही पचाओ।" कर्म करनेमें ही सब कुछ आ जाता है। बच्चा खेलनेके आनन्दके लिए खेलता है। इससे उसे व्यायाम-का फल अपने-आप ही मिल जाता है। परन्तु उस फलकी ओर उसका ध्यान नहीं रहता। उसका सारा आनंद उस खेलमें ही रहता है।

(९) फल-त्यागके दो उदाहरण

संतजनोंने अपने जीवनके द्वारा यह बात सिद्ध कर दी है। तुका-रामके भक्ति-भावको देखकर शिवाजी महाराजके मनमें उनके प्रति बहुत आदर होता था। एक बार उन्होंने तुकारामके घर पालकी भेजकर उनके स्वागतका आयोजन किया। परंतु तुकारामको अपने स्वागतकी यह तैयारी देखकर भारी दुःख हुआ। उन्होंने अपने मनमें सोचा—"मेरी भक्तिका क्या यह फल? क्या इसीके लिए मैं भक्ति करता हूँ?"

उनको ऐसा प्रतीत हुआ, मानो भगवान् मान-सम्मानका यह फल उनके हाथमें रखकर उन्हें अपनेसे दूर हटा रहा है। उन्होंने कहा—

जाणूनि अंतर। टाळिशील करकर।
तुज लागली हे खोडी। पांडुरंगा बहु कुडी ॥

[मेरे अन्तस्तलको जानते हुए तुम मेरी झंझट टालना चाहते हो ? हे पांडुरंग, तुम्हारी यह आदत बहुत बुरी है।]

"भगवन्, तुम्हारी यह आदत अच्छी नहीं। तुम मुझे यह घुँघचीके दाने देकर टरकाना चाहते हो। मनमें सोचते होगे कि इस आफतको निकाल ही दूँ न ? परंतु मैं भी कच्चे गुरुका चेला नहीं हूँ। मैं तुम्हारे पाँव कसकर बैठ जाऊँगा। भक्ति ही भक्तका स्वधर्म है और भक्तिमें दूसरे-तीसरे फलोंकी शाखाएँ न फूटने देना ही उसकी जीवन-कला है।"

पुण्डलीकका चरित्र फल-त्यागका इससे भी गहरा आदर्श सामने रखता है। पुण्डलीक अपने माँ-बापकी सेवा कर रहा था। उसकी सेवासे प्रसन्न होकर पांडुरंग उसकी भेटके लिए दौड़े आये। परंतु पुण्डलीकने पांडुरंगके चक्करमें पड़कर अपने उस सेवा-कार्यको छोड़नेसे इनकार कर दिया। अपने माँ-बापकी सेवा उसके लिए सच्ची ईश्वर-भक्ति थी। कोई लड़का यदि दूसरोंको लूट-खसोटकर अपने माँ-बापको सुख पहुँचाता हो, अथवा कोई देश-सेवक दूसरे देशका द्रोह करके अपने देशका उत्कर्ष चाहता हो, तो दोनोंकी वह भक्ति नहीं कहलायेगी। वह तो आसक्ति हुई। पुण्डलीक ऐसी आसक्तिमें फँसा नहीं। उसने सोचा कि परमात्मा जिस रूपको धारणकर मेरे सामने खड़ा हुआ है, क्या वह इतना ही है ? उसका यह रूप दिखाई देनेसे पहले सृष्टि क्या प्रेतवत् थी ? वह भगवान्से बोला—

"भगवन्, आप स्वयं मुझे दर्शन देनेके लिए आये हैं यह मैं समझता हूँ, पर मैं 'भी-सिद्धान्त' को माननेवाला हूँ। आप ही अकेले भगवान् हैं, ऐसा मैं नहीं मानता। मेरे लिए तो आप भी भगवान् हैं

और ये माता-पिता भी। इनकी सेवामें लगे रहनेके कारण मैं आपकी ओर ध्यान नहीं दे सकता, इसके लिए क्षमा कीजिये।" इतना कहकर उसने भगवान्‌के खड़े रहनेके लिए एक ईंट सरका दी और स्वयं उसी सेवा-कार्यमें निमग्न हो रहा। तुकाराम इस प्रसंगको लेकर बड़े कुतूहलसे, विनोदपूर्वक कहते हैं—

कां रे प्रेमें मातलासी। उभे केलें विठ्ठलासी।
ऐसा कैसा रे तूं धीट। मागें भिरकाविली वीट॥

'तू कैसा पागल प्रेमी है कि तूने विट्ठलको खड़ा रखा? तू कैसा ढीठ है कि तूने विट्ठलके लिए ईंट सरका दी?'

पुण्डलीकने जो यह 'भी'-सिद्धान्त का उपयोग किया, वह फल-त्यागकी युक्तिका एक अंग है। फल-त्यागी पुरुषकी कर्म-समाधि जैसी गंभीर होती है, वैसी ही उसकी वृत्ति व्यापक, उदार और सम रहती है। इस कारण वह विविध तत्त्वज्ञानके जंजालमें नहीं पड़ता और न अपना सिद्धान्त छोड़ता है। नान्यदस्तीति वादिनः—'यही है, दूसरा बिलकुल नहीं', ऐसे विवादमें वह नहीं पड़ता। 'यह भी सही है और वह भी सही है; परंतु मेरे लिए तो यही सही है', ऐसी उसकी नम्र और निश्चयी वृत्ति रहती है। एक बार एक गृहस्थ एक साधुके पास गया और उसने उससे पूछा—"मोक्ष-प्राप्तिके लिए क्या घर-बार छोड़ना आवश्यक है?" साधुने कहा—"नहीं तो। देखो, जनक जैसोंने जब राजमहलमें रहकर मोक्ष प्राप्त कर लिया, तो फिर तुम्हें घर छोड़नेकी क्या आवश्यकता है?" फिर दूसरा मनुष्य आया और साधुसे उसने पूछा—"स्वामीजी, घर-बार छोड़े बिना क्या मोक्ष मिल सकता है?" साधुने कहा—"कौन कहता है? घरमें रहकर सेंत-मेंतमें ही मोक्ष मिलता होता, तो शुक जैसोंने जो घर-बार छोड़ा, तो क्या वे मूर्ख थे?" बादमें उन दोनों मनुष्योंकी जब एक-दूसरेसे मुलाकात हुई, तो दोनोंमें बड़ा झगड़ा मचा। एक कहने लगा—"साधुने घर-बार छोड़नेके लिए कहा है।" दूसरेने कहा—"नहीं, उन्होंने कहा है कि घर-

बार छोड़नेकी आवश्यकता नहीं है।" तब दोनों साधुके पास आये। साधुने कहा—"दोनोंका कहना ठीक है। जैसी जिसकी भावना, वैसा ही उसका मार्ग और जिसका जैसा प्रश्न, वैसा ही उसका उत्तर। घर छोड़नेकी जरूरत है, यह भी सत्य है और घर छोड़नेकी जरूरत नहीं है, यह भी सत्य है।" इसीको कहते हैं 'भी-सिद्धान्त'।

पुण्डलीकके उदाहरणसे यह मालूम हो जाता है कि फल-त्याग किस मंजिलतक पहुँचानेवाला है। तुकारामको जो प्रलोभन भगवान् देना चाहते थे, उससे पुण्डलीकवाला लालच बहुत ही मोहक था। परंतु वह उसपर भी मोहित नहीं हुआ। यदि हो जाता, तो फँस जाता। अतः एक बार साधनका निश्चय हो जानेपर फिर अंततक उसका आचरण करते रहना चाहिए, फिर बीचमें प्रत्यक्ष भगवान्के दर्शन जैसी बाधा खड़ी हो जाय, तो भी उसके लिए साधन छोड़नेकी आवश्यकता न होनी चाहिए। देह बची है, तो वह साधनके लिए ही है। भगवान्का दर्शन तो हाथमें ही है, वह जाता कहाँ है?

सर्वात्मकपण माझें हिरोनि नेतो कोण ?
मनीं भक्तीची आवडी।

'मेरा सर्वात्मभाव कौन छीन ले जा सकता है? मेरा मन तो तेरी भक्तिमें रँगा हुआ है।'

इसी भक्तिको प्राप्त करनेके लिए हमें यह जन्म मिला है। मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि इस गीता-वचनका अर्थ यहाँतक जाता है कि निष्काम कर्म करते हुए अकर्मकी अर्थात् अंतिम कर्म-मुक्तिकी, यानी मोक्षकी भी, वासना मत रख। वासनासे छुटकारा ही तो मोक्ष है। मोक्षको वासनासे क्या लेना-देना? जब फल-त्याग इस मंजिलतक पहुँच जाता है, तब समझो कि जीवन-कलाकी पूर्णिमा सध गयी।

(१०) आदर्श गुरुमूर्ति

शास्त्र बतला दिया, कला भी बतला दी, किंतु इतनेसे पूरा चित्र आँखोंके सामने खड़ा नहीं होता। शास्त्र निर्गुण है, कला सगुण है;

परंतु सगुण भी साकार हुए बिना व्यक्त नहीं होता। केवल निर्गुण जैसे हवामें रहता है, उसी तरह निराकार सगुणकी हालत भी हो सकती है। इसका उपाय है, जिस गुणीमें गुण मूर्तिमान् हुआ है, उसका दर्शन। इसीलिए अर्जुन कहता है—"भगवन्, आपने जीवनके मुख्य सिद्धांत बता दिये, उन सिद्धांतोंको आचरणमें लानेकी कला भी बतला दी, तो भी इसका स्पष्ट चित्र मेरे सामने खड़ा नहीं होता। अतः मुझे अब चरित्र सुनाइये। ऐसे पुरुषोंके लक्षण बताइये, जिनकी बुद्धिमें सांख्य-निष्ठा स्थिर हो गयी है और फल-त्यागरूपी योग जिनकी रग-रगमें व्याप्त हो गया है। जिन्हें हम 'स्थितप्रज्ञ' कहते हैं, जो फल-त्यागकी पूरी गहराई दिखलाते हैं, कर्म-समाधिमें मग्न हैं और निश्चय-के महा-मेरु हैं, वे बोलते कैसे हैं, बैठते कैसे हैं, चलते कैसे हैं, यह सब मुझे बताइये। वह मूर्ति कैसी होती है, उसे कैसे पहचानें? यह सब कहिये भगवन्!"

इसके लिए भगवान्ने दूसरे अध्यायके अंतिम अठारह श्लोकोंमें स्थितप्रज्ञका गंभीर और उदात्त चरित्र चित्रित किया है। मानो इन अठारह श्लोकोंमें गीताके अठारह अध्यायोंका सार ही एकत्र कर दिया है। स्थितप्रज्ञ गीताकी आदर्श मूर्ति है। यह शब्द भी गीताका अपना स्वतंत्र है। आगे पाँचवें अध्यायमें जीवन्मुक्तका, बारहवेंमें भक्तका, चौदहवेंमें गुणातीतका और अठारहवेंमें ज्ञान-निष्ठाका ऐसा ही वर्णन आया है; परंतु स्थितप्रज्ञका वर्णन इन सबसे अधिक सविस्तर और खोलकर किया है। उसमें सिद्ध-लक्षणके साथ-साथ साधक-लक्षण भी बताये हैं। हजारों सत्याग्रही स्त्री-पुरुष सायंकालीन प्रार्थनामें इन लक्षणोंका पाठ करते हैं। यदि प्रत्येक गाँव और प्रत्येक घरमें वे पहुँचाये जा सकें, तो कितना आनन्द हो! परंतु पहले जब वे हमारे हृदयमें बैठें, तो वे बाहर अपने-आप पहुँच जायँगे। नित्य पाठकी चीज यदि यान्त्रिक हो गयी, तो फिर वह चित्तमें अंकित होनेकी जगह उलटी मिट जायगी। पर यह दोष नित्य पाठका नहीं, मनन न करनेका है

नित्य पाठके साथ-ही-साथ नित्य मनन और नित्य आत्म-परीक्षण आवश्यक है।

स्थितप्रज्ञ यानी स्थिर बुद्धिवाला मनुष्य। यह तो उसका नाम ही बता रहा है। परंतु संयमके बिना बुद्धि स्थिर होगी कैसे? अतः स्थितप्रज्ञको संयम-मूर्ति बताया है। बुद्धि तो हो आत्म-निष्ठ और अंतर-बाह्य इन्द्रियाँ बुद्धिके अधीन हों—यह है संयमका अर्थ। स्थित-प्रज्ञ सारी इंद्रियोंको लगाम चढ़ाकर उन्हें कर्मयोगमें जोतता है। इंद्रियरूपी बैलोंसे वह निष्काम स्वधर्माचरणकी खेती भलीभाँति करा लेता है। अपना प्रत्येक श्वासोच्छ्वास वह परमार्थमें खर्च करता रहता है।

यह इंद्रिय-संयम आसान नहीं है। इंद्रियोंसे बिलकुल काम ही न लेना एक बार आसान हो सकता है। मौन, निराहार आदि बातें इतनी कठिन नहीं हैं। इससे उलटे, इंद्रियोंको खुला छोड़ देना तो सबके लिए सधा-सधाया ही रहता है। परन्तु जिस प्रकार कछुआ खतरेकी जगह अपने सभी अवयवोंको भीतर छिपा लेता है और निर्भय स्थानपर उनसे काम लेता है, इसी तरह विषय-भोगोंसे इंद्रियों-को समेट लेना और परमार्थके काममें उनका उचित उपयोग करना, यह संयम कठिन है। इसके लिए महान् प्रयत्नकी जरूरत है। ज्ञान भी चाहिए। परंतु इतना होनेपर भी ऐसा नहीं है कि वह हमेशा अच्छी तरह सध ही जायगा। तब क्या हम निराश हो जायँ? नहीं, साधकको कभी निराश न होना चाहिए। वह साधनाकी अपनी सब युक्तियाँ काममें लाये और फिर भी कमी रह जाय, तो उसमें भक्ति जोड़ दे। यह बड़ा कीमती सुझाव भगवान्‌ने स्थितप्रज्ञके लक्षणोंमें दिया है। हाँ, वह दिया है गिने-गिनाये शब्दोंमें ही। परंतु गाड़ीभर व्याख्यानों-की अपेक्षा वह अधिक कीमती है; क्योंकि जहाँ भक्तिकी अचूक आव-श्यकता है, वहीं वह उपस्थित की गयी है। स्थितप्रज्ञके लक्षणोंका सवि-स्तर विवरण हमें आज यहाँ नहीं देना है। परंतु हम अपनी इस सारी साधनामें भक्तिका अपना निश्चित स्थान कहीं भूल न जायँ, इसके

लिए उसकी ओर ध्यान दिला दिया। पूर्ण स्थितप्रज्ञ इस जगत्में कौन हो गया है, सो तो भगवान् ही जानें, परंतु सेवापरायण स्थितप्रज्ञके उदाहरणके रूपमें पुण्डलीककी मूर्ति सदैव मेरी आँखोंके सामने आती रहती है और वह मैंने आपके सामने रख भी दी है।

अच्छा, अब स्थितप्रज्ञके लक्षण पूरे हुए, दूसरा अध्याय भी समाप्त हुआ।

(निर्गुण) सांख्य-बुद्धि + (सगुण) योग-बुद्धि + (साकार) स्थितप्रज्ञ
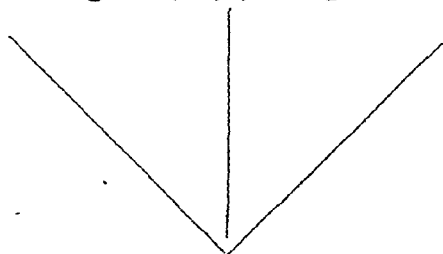
मिलाकर

संपूर्ण जीवन-शास्त्र

इनमेंसे ब्रह्म-निर्वाण यानी मोक्षके सिवा दूसरा क्या फलित हो सकता है ?

रविवार, २८-२-'३२

तीसरा अध्याय

कर्मयोग

(११) फलत्यागीको अनन्त फल मिलता है

भाइयो, दूसरे अध्यायमें हमने सारे जीवन-शास्त्रपर निगाह डाली। अब इस तीसरे अध्यायमें इसी जीवन-शास्त्रका स्पष्टीकरण है। पहले हमने तत्त्वोंका विचार किया, अब उनकी तफसीलमें जायँगे। पिछले अध्यायमें कर्मयोगसंबंधी विवेचन किया था। कर्मयोगमें महत्त्वकी वस्तु है फल-त्याग। कर्मयोगमें फल-त्याग तो है, परन्तु प्रश्न यह उठता है कि फिर फल मिलता भी है या नहीं ? अतः तीसरे अध्यायमें कहते हैं कि कर्मफलोंको छोड़नेसे कर्मयोगी उलटा अनंतगुना फल प्राप्त करता है।

यहाँ मुझे लक्ष्मीकी कथा याद आती है। उसका था स्वयंवर। सारे देव-दानव बड़ी आशा बाँधे आये थे। लक्ष्मीने अपना प्रण पहले प्रकट नहीं किया था। सभा-मंडपमें आकर वह बोली—"मैं उसीके गलेमें वरमाला डालूँगी, जिसे मेरी चाह न होगी।" वे तो सब थे लालची। लक्ष्मी निःस्पृह वर खोजने लगी। इतनेमें शेषनागपर शान्त भावसे लेटी हुई भगवान् विष्णुकी मूर्ति उसे दिखाई दी। उनके गलेमें वरमाला डालकर वह आजतक उनके पैर दबाती हुई बैठी है। न मागे तयाची रमा होय दासी। "जो नहीं चाहता, रमा उसकी दासी बनती है।" यही तो खूबी है।

साधारण मनुष्य अपने फलके आस-पास काँटेकी वाड़ लगाता है। पर इससे वह मिलनेवाले अनन्त फल गँवा बैठता है। सांसारिक मनुष्य अपार कर्म करके अल्पफल प्राप्त करता है; पर कर्मयोगी थोड़ा-सा करके भी अनन्तगुना। यह फर्क सिर्फ एक भावनाके कारण होता

है। टॉल्स्टायने एक जगह लिखा है—"लोग ईसामसीहके बलिदानकी बहुत स्तुति करते हैं। परन्तु ये संसारी जीव तो रोज न जाने अपना कितना खून सुखाते हैं, दौड़-धूप करते हैं! पूरे दो गधोंका बोझ अपनी पीठपर लादकर चक्कर काटनेवाले ये संसारी जीव, इन्हें ईसासे कितना गुना ज्यादा कष्ट, कितनी ज्यादा इनकी दुर्गति! यदि ये इनसे आधे भी कष्ट भगवान्‌के लिए उठायें, तो सचमुच ईसासे भी बढ़ जायँगे।"

संसारी मनुष्यकी तपस्या सचमुच बड़ी होती है, परंतु वह होती है क्षुद्र फलोंके खातिर। जैसी वासना, वैसा ही फल। अपनी चीजकी जो कीमत हम आँकते हैं, उससे ज्यादा कीमत संसारमें नहीं आँकी जाती। सुदामा चिउड़ा लेकर भगवान्‌के पास गये। उस मुट्ठीभर चिउड़ेकी कीमत एक धेला भी शायद न हो; परंतु सुदामाको वे अमोल मालूम होते थे; क्योंकि उनमें भक्तिभाव था। वे अभिमंत्रित थे। उनके कण-कणमें भावना भरी थी। चीज भले ही क्षुद्र क्यों न हो, मंत्रसे उसका मोल, उसकी सामर्थ्य बढ़ जाती है। नोटका वजन भला कितना होगा? उसे सुलगायें, तो एक बूँद पानी भी शायद ही गरम हो। पर उसपर एक मुहर लगी रहती है। उसीसे उसकी कीमत होती है।

कर्मयोगमें भी यही सारी खूबी है। कर्मको नोट ही समझो। भावनारूपी मुहरकी कीमत है, कर्मरूपी कागजके टुकड़ेकी नहीं। एक तरहसे यह मैं मूर्ति-पूजाका ही रहस्य बतला रहा हूँ। मूर्तिपूजाकी कल्पनामें बड़ा सौंदर्य है। इस मूर्तिको कौन तोड़-फोड़ सकता है? यह मूर्ति पहले एक टुकड़ा ही तो थी। मैंने इसमें प्राण डाला। अपनी भावना डाली। भला इस भावनाके कोई टुकड़े कर सकता है? टुकड़े पत्थरके ही हो सकते हैं, भावनाके नहीं। जब मैं अपनी भावना मूर्तिमेंसे निकाल लूँगा, तभी वहाँ पत्थर बच रहेगा और तभी उसके टुकड़े हो सकते हैं।

कर्मका अर्थ हुआ पत्थर या कागजका टुकड़ा। मेरी माँने कागजकी एक चिटपर दो-चार टेढ़ी-मेढ़ी सतरें लिखकर भेज दीं और दूसरे

किसीने पचास पत्रोंमें अंट-संट लिखकर भेजा। अब वजन किसका ज्यादा होगा? परंतु माँकी उन चार सतरोंमें जो भाव है, वह अनमोल है, पवित्र है। उसकी बराबरी वह रद्दी नहीं कर सकती। कर्ममें आर्द्रता चाहिए, भावना चाहिए। हम मजदूरके कामकी पैसेके रूपमें कीमत लगाते हैं और उसे मजदूरी दे देते हैं। परंतु दक्षिणाकी बात ऐसी नहीं है। दक्षिणा भिगोकर दी जाती है। दक्षिणाके संबंधमें यह प्रश्न नहीं उठता कि कितनी दी? बल्कि मार्केकी जो बात देखी जाती है, वह यह है कि उसमें तरी है या नहीं? मनुस्मृतिमें एक बड़ी मजेदार बात कही गयी है। एक शिष्य बारह साल गुरु-गृहमें रहकर पशुसे मनुष्य हुआ। अब वह गुरु-दक्षिणा क्या दे? प्राचीन समयमें पहले ही फीस नहीं ले ली जाती थी। बारह साल पढ़ चुकनेके बाद गुरुको जो कुछ देना हो, सो दे दिया जाता था। मनु कहते हैं—"चढ़ा दो गुरुजीको एकआध पत्र-पुष्प, दे दो एकआध पंखा या खड़ाऊँ, या पानीका कलसा।" इसे आप मजाक मत समझिये, क्योंकि जो कुछ देना है, श्रद्धाका चिह्न समझकर देना है। फूलमें भला क्या वजन है? परंतु उस भक्ति-भावमें ब्रह्मांडके बराबर वजन है।

रुक्मिणीनें एक्या तुळसीदळानें, गिरिधर प्रभु तुळिला।

—'रुक्मिणीने एक ही तुलसीदलसे गिरिधर प्रभुको तोल लिया।'

सत्यभामाके मनभर गहनोंसे काम नहीं चला। परंतु भाव-भक्तिसे पूर्ण एक तुलसी-दल जब रुक्मिणी माताने पलड़ेमें डाल दिया, तो सारा काम बन गया। तुलसी-दल अभिमंत्रित था। अब वह मामूली नहीं रह गया था। कर्मयोगीके कर्मकी भी यही बात है।

कल्पना करो कि दो व्यक्ति गंगा-स्नान करने गये हैं। उनमेंसे एक कहता है—"लोग गंगा-गंगा जो कहते हैं, सो उसमें है क्या? दो हिस्से हाइड्रोजन, एक हिस्सा ऑक्सीजन, ये दो गैस एकत्र कर दिये, यही गंगा हो गयी। इससे अधिक उसमें क्या है?" दूसरा कहता है—"भगवान् विष्णुके पद-कमलोंसे यह निकली है, शंकरके जटाजूटमें

इसने वास किया है, हजारों ब्रह्मर्षियों और राजर्षियोंने इसके तीरपर तपस्या की है, अनंत पुण्य-कृत्य इसके किनारे हुए हैं—ऐसी यह पवित्र गंगामाई है।" इस भावनासे अभिभूत होकर वह उसमें नहाता है। वह ऑक्सीजन-हाइड्रोजनवाला भी नहाता है। अब देह-शुद्धिरूपी फल तो दोनोंको मिला ही। परन्तु उस भक्तको देह-शुद्धिके साथ ही चित्त-शुद्धिरूपी फल भी मिला। यों तो गंगामें बैल भी नहाये, तो उसे देहशुद्धि प्राप्त होगी। शरीरकी गंदगी निकल जायगी। परंतु मनका मल कैसे धुलेगा? एकको देह-शुद्धिका तुच्छ फल मिला, दूसरेको, उसके अलावा भी, चित्त-शुद्धिरूपी अनमोल फल मिला।

स्नान करके सूर्य-नमस्कार करनेवालेको व्यायामका फल तो मिलेगा ही। परंतु वह आरोग्यके लिए नमस्कार नहीं करता, उपासनाके लिए करता है। इससे उसके शरीरको तो आरोग्य-लाभ होता ही है, साथ ही बुद्धिकी प्रभा भी निखरती है। आरोग्यके साथ ही स्फूर्ति और प्रतिभा भी उसे सूर्य-नारायणसे मिलेगी।

कर्म वही, परन्तु भावना-भेदसे उसमें अंतर पड़ जाता है। परमार्थी मनुष्यका कर्म आत्म-विकासक होता है, तो संसारी मनुष्यका कर्म आत्म-बंधक सिद्ध होता है। कर्मयोगी यदि किसान होगा, तो वह स्वधर्म समझकर खेती करेगा। इससे उसकी उदर-पूर्ति अवश्य होगी; परन्तु वह इसलिए कर्म नहीं करता कि उसकी उदर-पूर्ति हो; बल्कि भोजनको वह एक साधन मानेगा, जिससे उसका शरीर खेती करने योग्य रहता है। स्वधर्म उसका साध्य और भोजन उसका साधन हुआ। परंतु जो दूसरा किसान होगा, उसके लिए उदर-पूर्ति साध्य और खेतीरूपी स्वधर्म उसका साधन होगा। ऐसी यह एक-दूसरेसे उल्टी अवस्था है।

दूसरे अध्यायमें स्थितप्रज्ञके लक्षण बताते हुए यह बात मजेदार ढंगसे कही गयी है। जहाँ दूसरे लोग जाग्रत रहते हैं, वहाँ कर्मयोगी सोता रहता है। जहाँ दूसरे लोग निद्रित रहते हैं, वहाँ कर्मयोगी

जाग्रत रहता है। हम उदर-पूर्तिके लिए जाग्रत रहेंगे, तो कर्मयोगी इस बातके लिए जाग्रत रहेगा कि उसका एक क्षण भी बिना कर्मके न जाय। वह खाता भी है, तो मजबूर होकर। इस पेटके मटकेमें इसीलिए कुछ डालता है कि डालना जरूरी है। संसारी मनुष्यको भोजनमें आनंद आता है, योगीको भोजनमें कष्ट होता है। इसलिए वह स्वाद ले-लेकर भोजन नहीं करेगा। संयमसे काम लेगा। एककी जो रात, वही दूसरेका दिन और एकका जो दिन, वही दूसरेकी रात। अर्थात् जो एकका आनंद, वही दूसरेका दुःख और जो एकका दुःख, वही दूसरेका आनंद हो जाता है। संसारी और कर्मयोगी—दोनोंके कर्म तो एक-से ही हैं; परंतु कर्मयोगीकी विशेषता यह है कि वह फलासक्ति छोड़कर कर्ममें ही रमता है। संसारकी तरह योगी खायेगा, पियेगा, सोयेगा। परंतु तत्संबंधी उसकी भावना भिन्न होगी। इसीलिए तो आरंभमें ही स्थितप्रज्ञकी संयम-मूर्ति खड़ी कर दी गयी है, जब कि गीताके अभी सोलह अध्याय बाकी हैं।

संसारी पुरुष और कर्मयोगी, दोनोंके कर्मोंका साम्य और वैषम्य तत्काल दिखाई दे जाता है। फर्ज कीजिये कि कर्मयोगी गो-रक्षाका काम कर रहा है, तो वह किस दृष्टिसे करेगा? उसकी यह भावना रहेगी कि गो-सेवा करनेसे समाजको भरपूर दूध मिलेगा, गायके बहाने मनुष्यसे निचली पशु-सृष्टिसे प्रेम-संबंध जुड़ेगा। यह नहीं कि मुझे वेतन मिलेगा। वेतन तो कहीं गया नहीं है, परन्तु असली आनन्द, सच्चा सुख इस दिव्य भावनामें है।

कर्मयोगीका कर्म उसे इस विश्वके साथ समरस कर देता है। तुलसीको जल चढ़ाये बिना भोजन नहीं करेंगे—यह वनस्पति-सृष्टिके साथ हमने प्रेम-संबंध जोड़ा है। तुलसीको भूखा रखकर मैं कैसे पहले खा लूँ? इस तरह गायके साथ एकरूपता, वनस्पतिके साथ एकरूपता साधते-साधते हमें सारे विश्वसे एकरूपता साधनी है। भारतीय युद्धमें शाम होते ही सब लोग तो सायं-संध्या करनेके लिए चले जाते हैं, परंतु भगवान् श्रीकृष्ण रथके घोड़े खोलकर

उन्हें पानी दिखाते, खरहरा करते और उनके शरीरसे शल्य निकालते हैं। उस सेवामें भगवान्‌को कितना आनंद आता था! कवि यह वर्णन करते हुए अघाते ही नहीं। अपने पीतांबरमें दाना-चंदी लेकर घोड़ोंको देनेवाले उस पार्थ-सारथीका चित्र अपनी आँखोंके सामने खड़ा कीजिये और कर्मयोगके आनंदकी कल्पनाका अनुभव कीजिये। प्रत्येक कम मानो आध्यात्मिक, उच्चतर पारमार्थिक कर्म है। खादीके ही कामको लीजिये। कंधेपर खादीकी गाँठ रखकर फेरी लगानेवाला क्या ऊब नहीं जाता? नहीं, क्योंकि वह इस विचारमें मस्त रहता है कि देशमें जो मेरे करोड़ों नंगे-भूखे भाई-बहन हैं, उन्हें मुझे दो रोटी खिलानी है। उसका वह गजभर खादी बेचना समस्त दरिद्रनारायणके साथ जुड़ा हुआ होता है।

(१२) कर्मयोगके विविध प्रयोजन

निष्काम कर्मयोगमें अद्भुत सामर्थ्य है। ऐसे कर्मसे व्यक्ति और समाज, दोनोंका परम कल्याण होता है। स्वधर्माचरण करनेवाले कर्मयोगीकी शरीर-यात्रा तो चलती ही है, परंतु सदा-सर्वदा उद्योग-रत रहनेके कारण उसका शरीर नीरोग और स्वच्छ रहता है। उसके इस कर्मकी बदौलत उसके समाजका भी, जिसमें वह रहता है, अच्छी तरह योग-क्षेम चलता है। कर्मयोगी किसान, इसलिए कि पैसा ज्यादा मिलेगा, अफीम और तंबाकू नहीं बोयेगा, क्योंकि वह अपने कर्मका संबंध समाज-मंगलके साथ जोड़े हुए है। स्वधर्मरूप कर्म समाजके लिए हितकारी ही होगा। जो व्यापारी यह मानता है कि मेरा यह व्यवहाररूप कर्म समाजके हितके लिए है, वह कभी विदेशी कपड़ा नहीं बेचेगा। उसका व्यापार समाजोपकारक होगा। अपनेको भूलकर अपने आस-पासके समाजसे समरस होनेवाले कर्मयोगी जिस समाजमें पैदा होते हैं, उसमें सुव्यवस्था, समृद्धि और सौमनस्य रहते हैं।

कर्मयोगीके कर्मके फलस्वरूप उसकी शरीर-यात्रा तो चलती ही है, उसकी देह और बुद्धि तेजस्वी रहती है और समाजका भी कल्याण

होता है। इन दो फलोंके अलावा चित्त-शुद्धिका भी महान् फल उसे मिलता है। कर्मणा शुद्धिः ऐसा कहा गया है। कर्म चित्त-शुद्धिका साधन है; परंतु सर्वसाधारण जो कर्म करते हैं, वह नहीं। कर्मयोगी जो अभिमंत्रित कर्म करता है, उसीसे चित्त-शुद्धि होती है। महाभारतमें तुलाधार वैश्यकी कथा है। जाजलि नामक ब्राह्मण तुलाधारके पास ज्ञान-प्राप्तिके लिए जाता है। तुलाधार उससे कहते हैं—"भैया, इस तराजूकी डंडीको सदा सीधा रखना पड़ता है।" इस बाह्यकर्मको करते हुए तुलाधारका मन भी सीधा-सरल हो गया। छोटा बच्चा दूकानमें आ जाय या बड़ी उम्रका, उसकी डंडी सबके लिए एक-सी रहती है, न ऊँची न नीची। उद्योगका मनपर परिणाम होता है। कर्मयोगीके कर्मको एक प्रकारका जप ही समझो। उससे उसकी चित्त-शुद्धि होती है और निर्मल चित्तमें ज्ञानका प्रतिबिंब पड़ता है। अपने भिन्न-भिन्न कर्मोंसे कर्मयोगी अंतमें ज्ञान प्राप्त करते हैं। तराजूकी डंडीसे तुलाधारको समवृत्ति मिली। सेना नाई बाल बनाया करता था। दूसरोंके सिरका मैल निकालते-निकालते उसे ज्ञान हुआ—"देखो, मैं दूसरोंके सिरका तो मैल निकालता हूँ, परंतु क्या खुद कभी अपने सिरका, अपनी बुद्धिका भी मैल मैंने निकाला है?" ऐसी आध्यात्मिक भाषा उसे उस कर्मसे सूझने लगी। खेतका कचरा निकालते-निकालते कर्मयोगीको खुद अपने हृदयका वासना-विकाररूपी कचरा निकालनेकी बुद्धि उपजती है। कच्ची मिट्टीको रौंद-रौंदकर समाजको पक्की हँड़िया देनेवाला गोरा कुम्हार उससे यह शिक्षा लेता है कि मुझे अपने जीवन-की भी हँड़िया पक्की बना लेनी चाहिए। इस तरह वह हाथमें थपकी लेकर 'हँड़िया कच्ची है या पक्की' यों संतोंकी परीक्षा लेनेवाला परीक्षक बन जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि कर्मयोगी जो-जो कर्म या धंधे करता है, उनकी भाषामेंसे ही उसे भव्य ज्ञान प्राप्त हुआ है। वे कर्म क्या थे, मानो उनकी अध्यात्म-शाला ही! उनके वे कर्म उपासनामय, सेवामय थे। वे देखनेमें व्यावहारिक, परंतु वास्तवमें आध्यात्मिक थे।

कर्मयोगीके कर्मसे एक और भी उत्तम फल मिलता है और वह है, समाजको एक आदर्शका मिलना। समाजमें यह तो है ही कि यह पहले जनमा है और यह बादको। जिनका जन्म पहले हुआ है, उनके जिम्मे वादमें पैदा होनेवालोंके लिए उदाहरण बन जानेका काम रहता है। बड़े भाईपर छोटे भाईको, माँ-बापपर बेटे-बेटीको, नेतापर अनुयायियोंको, गुरुपर शिष्यको अपनी कृतिके द्वारा अपना उदाहरण पेश करनेकी जिम्मेदारी है। ऐसा उदाहरण कर्मयोगियोंके सिवा और कौन उपस्थित कर सकता है?

कर्मयोगी सदैव कर्म-रत रहता है; क्योंकि कर्ममें ही उसे आनंद मालूम होता है। इससे समाजमें दंभ नहीं बढ़ता। कर्मयोगी स्वयं-तृप्त होता है, तो भी कर्म किये बिना उससे रहा नहीं जाता। तुकाराम कहते हैं—"भजनसे भगवान् मिल गया, तो क्या इसलिए मैं भजन छोड़ दूँ? भजन तो अब हमारा सहज धर्म हो गया।"

आधीं होता संतसंग। तुका झाला पांडुरंग।
त्याचें भजन राहीना। मूळस्वभाव जाईना॥

—'पहले संतसंग हुआ, जिससे तुकाराम पांडुरंग बन गया। उसके भजनका तार अब टूटता नहीं। भला मूल स्वभाव भी कहीं छूटता है?'

कर्मकी सीढ़ीसे चढ़कर शिखरतक पहुँच गये। परंतु कर्मयोगी तब भी सीढ़ी नहीं छोड़ता। वह उससे छूट ही नहीं सकती। उसकी इंद्रियोंको उन कर्मोंको करनेकी सहज आदत ही पड़ जाती है। इस तरह स्वधर्म-कर्मरूपी सेवाकी सीढ़ीका महत्त्व वह समाजको जँचाता रहता है।

समाजसे ढोंगका मिटना बहुत ही बड़ी चीज है। ढोंग-पाखंडसे समाज डूब जाता है। ज्ञानी यदि खामोश बैठ जाय, तो उसे देखकर दूसरे भी हाथ-पर-हाथ धरकर बैठने लगेंगे। ज्ञानी तो नित्य-तृप्त होनेके कारण आंतरिक सुखमें तल्लीन रहकर खामोश रहेगा; परंतु दूसरा मनुष्य भीतरसे रोता हुआ भी कर्म-शून्य हो जायगा।

एक अंतस्तृप्त होकर स्वस्थ है, तो दूसरा मनमें कुढ़ता हुआ भी स्वस्थ है—ऐसी भयानक स्थिति है। इसमें दंभ, पाखंड बढ़ेगा। अतः सारे संत शिखरपर पहुँचकर भी साधनका पल्ला बड़ी सतर्कतासे पकड़े रहे, आमरण स्वकर्माचरण करते रहे। माता बच्चोंके गुड्डा-गुड़ियोंके खेलोंमें रस लेती है। वह यह समझते हुए भी कि ये बनावटी हैं, उनके खेलोंमें शरीक होकर उनमें रुचि उत्पन्न करती है। माँ यदि उन खेलोंमें शरीक न हो, तो बच्चोंको उनमें मजा नहीं आयेगा। कर्मयोगी तृप्त होकर कर्म छोड़ देगा, तो दूसरे अतृप्त रहते हुए भी कर्म छोड़ देंगे, हालाँकि मनमें भूखे और निरानंद रहेंगे।

अतः कर्मयोगी मामूली आदमीकी तरह ही कर्म करता रहता है। वह यह नहीं मानता कि मैं कोई विशिष्ट मनुष्य हूँ। औरोंकी अपेक्षा अनंतगुना परिश्रम वह करता है। अमुक कर्म पारमार्थिक है, ऐसी छाप लगानेकी जरूरत नहीं है। कर्मका विज्ञापन करनेकी जरूरत नहीं है। यदि तुम उत्कृष्ट ब्रह्मचारी हो, तो अपने कर्ममें औरोंकी अपेक्षा सौगुना उत्साह दीखने दो। कम खाना मिलनेपर भी तिगुना काम होने दो, समाजकी सेवा अपने द्वारा अधिक होने दो। अपना ब्रह्मचर्य अपने आचार-व्यवहारमें दीखने दो। चंदनकी सुगंध बाहर फैलने दो।

सार यह है कि कर्मयोगी फलकी इच्छा छोड़नेसे ऐसे अनंत फल प्राप्त करेगा, उसकी शरीर-यात्रा चलती रहेगी, शरीर और बुद्धि, दोनों सतेज रहेंगे। जिस समाजमें वह विचरेगा, वह समाज सुखी होगा। उसकी चित्त-शुद्धि होकर ज्ञान भी मिलेगा और समाजसे ढोंग, पाखंड मिटकर जीवनका पवित्र आदर्श हाथ लगेगा। कर्मयोगकी यह अनुभव-सिद्ध महिमा है।

(१३) कर्मयोग-व्रतोंका अन्तराय

कर्मयोगी अपना कर्म औरोंकी अपेक्षा उत्कृष्ट रीतिसे करेगा; क्योंकि उसके लिए कर्म ही उपासना है, कर्म ही पूजा-विधान है। मैंने भगवान्‌का पूजन किया। फिर पूजाका नैवेद्य प्रसादके रूपमें पाया। परंतु क्या

यह नैवेद्य उस पूजाका फल है ? जो नैवेद्यके लिए पूजन करेगा, उसे प्रसादका अंश तो तुरंत मिलेगा ही। परंतु जो कर्मयोगी है, वह अपने पूजा-कर्मके द्वारा परमेश्वर-दर्शनरूपी फल चाहता है। वह उस कर्मकी कीमत इतनी थोड़ी नहीं समझता कि सिर्फ प्रसाद ही मिल जाय। वह अपने कर्मकी कीमत कम आँकनेके लिए तैयार नहीं है। स्थूल नापसे वह अपने कर्मोंको नहीं नापता। जिसकी स्थूल दृष्टि है, उसे फल भी स्थूल ही मिलेगा। खेतीकी एक कहावत है—'गहरा बो, पर गीला बो।' महज गहरे जोतनेसे काम नहीं चलेगा, नीचे तरी भी होनी चाहिए। गहराई और तरी, दोनों होंगी तो भुट्टा बड़ा, कलाईके बराबर निकलेगा। अतः कर्म गहरा अर्थात् उत्कृष्ट होना चाहिए। फिर उसमें ईश्वर-भक्ति, ईश्वरार्पणतारूपी तरी भी होनी चाहिए। कर्मयोगी गहरा कर्म करके उसे ईश्वरार्पण कर देता है।

परमार्थके संबंधमें कुछ वाहियात कल्पनाएँ हमारे अंदर फैल गयी हैं। लोग समझते हैं कि जो परमार्थी हो गया, उसे हाथ-पाँव हिलानेकी जरूरत नहीं, काम-काज करनेकी जरूरत नहीं। कहते हैं, जो खेती करता है, खादी बुनता है, वह कैसा परमार्थी ? परंतु कोई यह नहीं पूछता कि जो भोजन करता है, वह कैसा परमार्थी ? कर्मयोगियोंका परमेश्वर तो कहीं घोड़ोंको खरहरा करता है, राजसूय-यज्ञके समय जूठी पत्तलें उठाता है, जंगलमें गायें चराने जाता है। वह द्वारकानाथ फिर जब कभी गोकुल जाता था, तो बंसी बजाते हुए गायें चराता था। सो संतोंने तो घोड़ोंको खरहरा करनेवाला, गायें चरानेवाला, रथ हाँकनेवाला, पत्तल उठानेवाला, लीपनेवाला, कर्मयोगी परमेश्वर खड़ा किया है और खुद संत भी कोई दरजीका, तो कोई कुम्हारका, कोई बुनकरका, तो कोई मालीका, कोई धान कूटने-पीसनेका, तो कोई बनियेका, कोई नाईका, तो कोई मरे ढोर खींचनेका काम करते-करते मुक्त पदवीको प्राप्त हुए हैं।

ऐसे इस दिव्य कर्मयोगके व्रतसे मनुष्य दो कारणोंसे डिगता है। इस सिलसिलेमें हमें इन्द्रियोंका विशिष्ट स्वभाव ध्यानमें रखना

चाहिए। हमारी इन्द्रियाँ सदैव "यह चाहिए और वह नहीं चाहिए" ऐसे द्वंद्वोंसे घिरी रहती हैं। जो चाहिए, उसके लिए राग अर्थात् प्रीति और जो न चाहिए, उसके प्रति मनमें द्वेष उत्पन्न होता है। ऐसे ये राग-द्वेष, काम-क्रोध मनुष्यको नोच-नोचकर खाते हैं। कर्मयोग वैसे कितना बढ़िया, कितना रमणीय, कितना अनंत फलदायी है! परंतु ये काम-क्रोध 'इसे ले और उसे छोड़' ऐसा झगड़ा हमारे गले बाँधकर दिन-रात हमारे पीछे पड़े रहते हैं। अतः भगवान् इस अध्यायके अंतमें खतरेकी घंटी बजाते हैं कि इनका संग छोड़ो, इनसे बचो। स्थितप्रज्ञ जिस प्रकार संयमकी मूर्ति होता है, उसी प्रकार कर्मयोगीको बनना चाहिए।

रविवार, ६-३-'३२

चौथा अध्याय

कर्मयोग सहकारी साधना : विकर्म

(१४) कर्मको विकर्मका साथ चाहिए

भाइयो, पिछले अध्यायमें हमने निष्काम कर्मयोगका विवेचन किया है। स्वधर्मको टालकर यदि हम अवान्तर धर्म स्वीकार करेंगे, तो निष्कामतारूपी फल अशक्य ही है। स्वदेशी माल बेचना व्यापारीका स्वधर्म है। परंतु इस स्वधर्मको छोड़कर जब वह सात समुंदर पारका विदेशी माल बेचने लगता है, तब उसके सामने यही हेतु रहता है कि बहुत नफा मिले। तो फिर उस कर्ममें निष्कामता कहाँ-से आयेगी ? अतएव कर्मको निष्काम बनानेके लिए स्वधर्म-पालनकी अत्यंत आवश्यकता है। परंतु यह स्वधर्माचरण भी 'सकाम' हो सकता है। अहिंसाकी ही बात हम लें। जो अहिंसाका उपासक है, उसके लिए हिंसा तो वर्ज्य है। परंतु यह संभव है कि ऊपरसे अहिंसक होते हुए भी वह वास्तवमें हिंसामय हो; क्योंकि हिंसा मनका एक धर्म है। सहज बाहरसे हिंसाकर्म न करनेसे ही मन अहिंसामय हो जायगा, सो बात नहीं। तलवार हाथमें लेनेसे हिंसा-वृत्ति अवश्य प्रकट होती है, परंतु तलवार छोड़ देनेसे मनुष्य अहिंसामय होता ही है, सो बात नहीं। ठीक यही बात स्वधर्माचरणकी है। निष्कामताके लिए पर-धर्मसे तो बचना ही होगा। परंतु यह तो निष्कामताका आरंभमात्र हुआ। इससे हम साध्यतक नहीं पहुँच गये।

निष्कामता मनका धर्म है। इसकी उत्पत्तिके लिए एक स्वधर्मा-चरणरूपी साधन ही काफी नहीं है। दूसरे साधनोंका भी सहारा लेना पड़ेगा। अकेली तेल-बत्तीसे दिया नहीं जल जाता। उसके

लिए ज्योतिकी जरूरत होती है। ज्योति होगी, तो अँधेरा दूर होगा। यह ज्योति कैसे जगायें? इसके लिए मानसिक संशोधनकी जरूरत है। आत्म-परीक्षणके द्वारा चित्तकी मलिनता—कूड़ा-कचरा—धो डालना चाहिए। तीसरे अध्यायके अंतमें यही मार्केकी बात भगवान्ने बतायी थी। इसीमेंसे चौथे अध्यायका जन्म हुआ है।

गीतामें 'कर्म' शब्द 'स्वधर्म' के अर्थमें व्यवहृत हुआ है। हमारा खाना, पीना, सोना, ये कर्म ही हैं, परंतु गीताके 'कर्म' शब्दसे ये सब क्रियाएँ सूचित नहीं होती हैं। कर्मसे वहाँ मतलब स्वधर्माचरणसे है। परन्तु इस स्वधर्माचरणरूपी कर्मको करके निष्कामता प्राप्त करनेके लिए और भी एक वस्तुकी सहायता जरूरी है। वह है काम और क्रोधको जीतना। चित्त जबतक गंगाजलकी तरह निर्मल और प्रशांत न हो जाय, तबतक निष्कामता नहीं आ सकती। इस तरह चित्त-संशोधनके लिए जो-जो कर्म किये जायँ, उन्हें गीता 'विकर्म' कहती है। 'कर्म', 'विकर्म' और 'अकर्म', ये तीन शब्द इस चौथे अध्यायमें बड़े महत्त्वके हैं। 'कर्म' का अर्थ है, स्वधर्माचरणकी बाहरी—स्थूल—क्रिया। इस बाहरी क्रियामें चित्तको लगाना ही 'विकर्म' है। ऊपरसे हम किसीको नमस्कार करते हैं, परन्तु सिर झुकानेकी उस ऊपरी क्रियाके साथ ही यदि भीतरसे मन भी न झुकता हो, तो बाह्य क्रिया व्यर्थ है। अंतर्बाह्य—भीतर और बाहर—दोनों एक होना चाहिए। बाहरसे मैं शिव-पिण्डपर सतत जल-धारा गिराते हुए अभिषेक करता हूँ। परन्तु इस जल-धाराके साथ ही यदि मानसिक चिन्तनकी धार भी अखंड न चलती रहती हो, तो उस अभिषेककी क्या कीमत रही? फिर तो वह शिव-पिण्ड भी पत्थर और मैं भी पत्थर ही! पत्थरके सामने पत्थर बैठा—यही उसका अर्थ होगा। निष्काम कर्मयोग तभी सिद्ध होता है, जब हमारे बाह्य कर्मके साथ अंदरसे चित्तशुद्धिरूपी कर्मका भी संयोग होता है।

'निष्काम कर्म' इस शब्द-प्रयोगमें 'कर्म' पदकी अपेक्षा 'निष्काम' पदको ही अधिक महत्त्व है, जिस तरह 'अहिंसात्मक असहयोग'

शब्द-प्रयोगमें 'असहयोग' की बनिस्बत 'अहिंसात्मक' विशेषणको ही अधिक महत्त्व है। अहिंसाको दूर हटाकर यदि केवल असहयोगका अवलंबन करेंगे, तो वह एक भयंकर चीज बन सकती है। उसी तरह स्वधर्माचरणरूपी कर्म करते हुए यदि मनका विकर्म उसमें नहीं जुड़ा है, तो उसे धोखा समझना चाहिए।

आज जो लोग सार्वजनिक सेवा करते हैं, वे स्वधर्मका ही आचरण करते हैं। जब लोग गरीब, कंगाल, दुःखी और मुसीबतमें होते हैं, तब उनकी सेवा करके उन्हें सुखी बनाना प्रवाह-प्राप्त धर्म है। परंतु इससे यह अनुमान न कर लेना चाहिए कि जितने भी लोग सार्वजनिक सेवा करते हैं, वे सब कर्मयोगी हो गये हैं। लोक-सेवा करते हुए यदि मनमें शुद्ध भावना न हो, तो उस लोक-सेवाके भयानक होनेकी संभावना है। अपने कुटुम्बकी सेवा करते हुए जितना अहंकार, जितना द्वेष-मत्सर, जितना स्वार्थ आदि विकार हम उत्पन्न करते हैं, उतना सब लोक-सेवामें भी हम उत्पन्न करते हैं और इसका प्रत्यक्ष दर्शन हमें आजकलकी लोक-सेवामंडलियोंके जमघटमें भी हो जाता है।

(१५) उभय संयोगसे अकर्म-स्फोट

कर्मके साथ मनका मेल होना चाहिए। इस मनके मेलको ही गीता 'विकर्म' कहती है। बाहरका स्वधर्मरूप सामान्य कर्म और यह आंतरिक विशेष कर्म। यह विशेष कर्म अपनी-अपनी मानसिक आवश्यकताके अनुसार भिन्न-भिन्न होता है। विकर्मके ऐसे अनेक प्रकार, नमूनेके तौरपर, चौथे अध्यायमें बताये गये हैं। उसीका विस्तार आगे छठे अध्यायसे किया गया है। इस विशेष कर्मका, इस मानसिक अनुसंधानका योग जब हम करेंगे, तभी उसमें निष्कामताकी ज्योति जगेगी। कर्मके साथ जब विकर्म मिलता है, तो फिर धीरे-धीरे निष्कामता हमारे अंदर आती रहती है। यदि शरीर और मन भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं, तो साधन भी दोनोंके लिए भिन्न-भिन्न ही होंगे। जब इन दोनोंका मेल बैठ जाता है, तो साध्य हमारे हाथ लग जाता है। मन एक तरफ और शरीर दूसरी तरफ, ऐसा न हो जाय, इसलिए शास्त्रकारोंने

दुहरा मार्ग बताया है। भक्तियोगमें बाहरसे तप और भीतरसे जप बताया है। उपवास आदि बाहरी तपके चलते हुए यदि भीतरसे मानसिक जप न हो, तो वह सारा तप व्यर्थ चला जाता है। तपसंबंधी मेरी भावना सतत सुलगती, जगमगाती रहनी चाहिए। 'उपवास' शब्दका अर्थ ही है, भगवान्के पास बैठना। इसलिए कि परमात्माके नजदीक हमारा चित्त रहे, बाहरी भोगोंका दरवाजा बन्द करनेकी जरूरत है। परन्तु बाहरसे विषयभोगोंको छोड़कर यदि मनमें भगवान्का चिन्तन न किया जाय, तो फिर इस बाहरी उपवासकी क्या कीमत रही ? ईश्वरका चिंतन न करते हुए यदि उस समय खाने-पीनेकी चीजोंका ही चिंतन करते रहें, तो फिर वह बड़ा ही भयंकर भोजन हो जायगा। यह जो मानसिक भोजन, मनमें विषयोंका चिंतन रहा, उससे बढ़कर भयंकर वस्तु दूसरी नहीं। तंत्रके साथ मंत्र होना चाहिए। केवल बाह्यतंत्रका कोई महत्त्व नहीं। केवल कर्महीन मंत्रका भी कोई महत्त्व नहीं। हाथमें भी सेवा हो और हृदयमें भी सेवा हो, तभी सच्ची सेवा हमारे हाथों बन पड़ेगी।

यदि बाह्य कर्ममें हृदयकी आर्द्रता न रही, तो वह स्वधर्माचरण सूखा रह जायगा। उसमें निष्कामतारूपी फूल-फल नहीं लगेंगे। मान लो, हमने किसी रोगीकी सेवा-शुश्रूषा शुरू की, परंतु उस सेवा-कर्मके साथ यदि मनमें कोमल दया-भाव न हो, तो वह रुग्णसेवा नीरस मालूम होगी और उससे जी ऊब उठेगा। वह एक बोझ होगी। रोगीको भी वह सेवा एक बोझ मालूम पड़ेगी। उस सेवामें यदि मनका सहयोग न हो, तो उससे अहंकार पैदा होगा। 'मैं आज उसके काम आया हूँ, तो उसे भी मेरे काम आना चाहिए। उसे मेरी तारीफ करनी चाहिए। लोगोंको मेरा गौरव करना चाहिए'—आदि अपेक्षाएँ मनमें उत्पन्न होंगी। अथवा हम त्रस्त होकर कहेंगे—"हम इसकी इतनी सेवा करते हैं, फिर भी यह बड़बड़ाता रहता है।" बीमार आदमी वैसे ही चिड़चिड़ा रहता है। उसके ऐसे स्वभावसे ऐसा सेवक, जिसके मनमें सच्चा सेवा-भाव नहीं होगा, ऊब जायगा।

कर्मके साथ जब आंतरिक भावका मेल हो जाता है, तो वह कर्म कुछ निराला ही हो जाता है। तेल और बत्तीके साथ जब ज्योतिका मेल होता है, तब प्रकाश उत्पन्न होता है। कर्मके साथ विकर्मका मेल होनेपर निष्कामता आती है। बारूदमें बत्ती लगानेसे धड़ाका होता है। उस बारूदमें एक शक्ति उत्पन्न होती है। कर्मको बंदूककी बारूद समझो। उसमें विकर्मकी बत्ती या आग लगी कि काम हुआ। जबतक विकर्म आकर नहीं मिलता, तबतक वह कर्म जड़ है। उसमें चैतन्य नहीं। एक बार जहाँ विकर्मकी चिनगारी उसमें गिरी कि फिर उस कर्ममें जो सामर्थ्य पैदा होती है, वह अवर्णनीय है। चिमटी-भर बारूद जेबमें पड़ी रहती है, हाथमें उछलती रहती है, पर जहाँ उसमें बत्ती लगी कि शरीरकी चिन्दी-चिन्दी उड़ी। स्वधर्माचरणकी अनंत सामर्थ्य इसी तरह गुप्त रहती है। उसमें विकर्मको जोड़िये, फिर देखिये कि कैसे-कैसे बनाव-बिगाड़ होते हैं। उसके स्फोटसे अहंकार, काम, क्रोधके प्राण उड़ जायँगे और उसमेंसे उस परम ज्ञानकी निष्पत्ति हो जायगी।

कर्म ज्ञानका पलीता है। एक लकड़ीका बड़ा-सा टुकड़ा कहीं पड़ा है। उसे आप जला दीजिये। वह जगमग अंगार हो जाता है। उस लकड़ी और उस आगमें कितना अंतर है? परंतु उस लकड़ीकी ही वह आग होती है। कर्ममें विकर्म डाल देनेसे कर्म दिव्य दिखाई देने लगता है। माँ बच्चेकी पीठपर हाथ फेरती है। एक पीठ है, जिसपर एक हाथ योंही इधर-उधर फिर गया। परंतु इस एक मामूली कर्मसे उन माँ-बेटेके मनमें जो भावनाएँ उठीं, उनका वर्णन कौन कर सकेगा? यदि कोई ऐसा समीकरण बिठाने लगेगा कि इतनी लंबी-चौड़ी पीठपर इतने वजनका एक मुलायम हाथ फिराइये, तो इससे वह आनंद उत्पन्न होगा, तो एक दिल्लगी ही होगी। हाथ फिरानेकी यह क्रिया बिलकुल क्षुद्र है, परंतु उसमें माँका हृदय उँड़ेला हुआ है। वह विकर्म उँड़ेला हुआ है। इसीसे यह अपूर्व आनंद प्राप्त होता है। तुलसी-रामायणमें एक प्रसंग आया है। राक्षसोंसे लड़कर बंदर आते

हैं। वे जख्मी हो गये हैं। बदनसे खून बह रहा है। परंतु प्रभु रामचन्द्रके एक बार प्रेमपूर्वक दृष्टिपात मात्रसे उन बंदरोंकी वेदना मिट गयी।

राम कृपा करि चितवा सबही।
भये बिगतस्रम बानर तबही॥

अब यदि दूसरे मनुष्यने रामकी उस समयकी आँख और दृष्टिका फोटो लेकर किसीकी ओर उतनी आँखें फाड़कर देखा होता, तो क्या उसका वैसा प्रभाव पड़ा होता ? वैसा करनेका यत्न हास्यास्पद है।

कर्मके साथ जब विकर्मका जोड़ मिल जाता है, तो शक्ति-स्फोट होता है और उसमेंसे अकर्म निर्माण होता है। लकड़ी जलनेपर राख हो जाती है। पहलेका वह इतना बड़ा लकड़ीका टुकड़ा, अंतमें चिमटी-भर बेचारी राख रह जाती है उसकी ! खुशीसे उसे हाथमें ले लीजिये और सारे बदनपर मल लीजिये। इस तरह कर्ममें विकर्मकी ज्योति जला देनेसे अंतमें अकर्म हो जाता है। कहाँ लकड़ी और कहाँ राख ? 'कः केन संबंधः !' उनके गुण-धर्मोंमें अब बिलकुल साम्य नहीं रह गया। परंतु इसमें कोई शक नहीं है कि वह राख उस लकड़ीके लट्ठेकी ही है।

कर्ममें विकर्म उँडलनेसे अकर्म होता है, इसका अर्थ क्या ? इसका अर्थ यह कि ऐसा मालूम ही नहीं होता कि कोई कर्म किया है। उस कर्मका बोझ नहीं मालूम होता। करके भी अकर्ता रहते हैं। गीता कहती है कि मारकर भी तुम मारते नहीं। माँ बच्चेको पीटती है, इसलिए तुम तो उसे पीटकर देखो। तुम्हारी मार बच्चा नहीं सहेगा। माँ मारती है, फिर भी वह उसके आँचलमें मुँह छिपाता है; क्योंकि माँके बाह्य कर्ममें चित्त-शुद्धिका मेल है। उसका यह मारना-पीटना निष्काम भावसे है। उस कर्ममें उसका स्वार्थ नहीं है। विकर्मके कारण, मनकी शुद्धिके कारण कर्मका कर्मत्व उड़ जाता है। रामकी वह दृष्टि, आंतरिक विकर्मके कारण सहज प्रेम-सुधा-सागर हो गयी थी; परन्तु रामको उस कर्मका कोई श्रम नहीं हुआ था। चित्त-शुद्धिसे किया हुआ कर्म निर्लेप रहता है। उसका पाप-पुण्य बाकी नहीं रहता;

नहीं तो कर्मका कितना बोझ, कितना जोर, हमारी बुद्धि और हृदयपर पड़ता है। यदि यह खबर आज दो बजे उड़े कि कल ही सारे राजनैतिक कैदी छूट जानेवाले हैं, तो फिर देखो, कैसी भीड़ चारों ओर हो जाती है। चारों ओर हलचल मच जाती है। हम कर्मके अच्छे-बुरे होनेकी वजहसे मानो व्यग्र रहते हैं। कर्म हमें चारों ओरसे घेर लेता है, मानो कर्मने हमारी गर्दन धर दबायी है। जिस तरह समुद्रका प्रवाह जोरसे जमीनमें धँसकर खाड़ियाँ बना देता है, उसी तरह कर्मका यह जंजाल चित्तमें घुसकर क्षोभ पैदा करता है। सुख-दुःखके द्वंद्व निर्माण होते हैं। सारी शांति नष्ट हो जाती है। कर्म हुआ और होकर चला भी गया; परंतु उसका वेग बाकी बच ही रहता है। कर्म चित्तपर हावी हो जाता है। फिर उसकी नींद हराम हो जाती है।

परंतु ऐसे इस कर्ममें यदि विकर्मको मिला दें, तो फिर चाहे जितने कर्म करें, उनका श्रम नहीं मालूम होता। मन ध्रुवकी तरह शांत, स्थिर और तेजोमय बना रहता है। कर्ममें विकर्म डाल देनेसे वह अकर्म हो जाता है, मानो कर्मको करके फिर उसे पोंछ दिया हो।

(१६) अकर्मकी कला संतोंसे पूछ

यह कर्मका अकर्म कैसे होता है? यह कला किसके पास मिलेगी? संतोंके पास। इस अध्यायके अंतमें भगवान् कहते हैं—"संतोंके पास जाकर बैठो और उनसे शिक्षा लो।" कर्मका अकर्म कैसे हो जाता है, इसका वर्णन करनेमें भाषा समाप्त हो जाती है। उसकी पूरी कल्पना करनेके लिए संतोंके चरणोंमें बैठना चाहिए। परमेश्वरका वर्णन भी तो है—

शान्ताकारं भुजगशयनम्

परमेश्वर हजार फनोंके शेषनागपर सोते हुए भी शांत हैं। इसी तरह संत हजारों कर्म करते हुए भी रत्तीभर क्षोभ-तरंग अपने मानस-सरोवर में नहीं उठने देते। यह खूबी संतोंके गाँव गये बिना समझमें नहीं आ सकती।

वर्तमान कालमें पुस्तकें बहुत सस्ती हो गयी हैं। एक-एक, दो-दो आनेमें गीता, 'मनाचे श्लोक'* आदि मिल जाते हैं। गुरुओंकी भी कमी नहीं। शिक्षा उदार और सस्ती है। विद्यापीठ तो मानो ज्ञानकी खैरात ही बाँटते हैं। परंतु ज्ञानामृत-भोजनकी डकार किसीको नहीं आती। पुस्तकोंके इस पहाड़को देखकर संत-सेवाकी जरूरत दिन-पर-दिन ज्यादा दिखाई देने लगी है। पुस्तकोंकी मजबूत कपड़ेकी जिल्दके बाहर ज्ञान नहीं आता। ऐसे अवसरपर मुझे एक अभंग हमेशा याद आ जाया करता है—

काम क्रोध आड पडिले पर्वत
राहिला अनन्त पैलीकडे ॥

'काम क्रोधके पहाड़ रास्तेमें अड़े हैं। अनन्त उनके उस पार हैं।'

काम-क्रोधरूपी पहाड़ोंके परले पार नारायण रहता है। उसी तरह इन पुस्तकोंकी राशिके पीछे ज्ञान-राजा छिपा बैठा है। पुस्तकालयों और ग्रंथालयोंके चारों ओर छा जानेपर भी अभीतक मनुष्य सब जगह संस्कारहीन और ज्ञानहीन बंदर ही दिखाई देता है। बड़ौदामें बहुत बड़ी लाइब्रेरी है। एक बार एक सज्जन एक बड़ी-सी पुस्तक लेकर जा रहे थे। उसमें तस्वीरें थीं। वे यह समझकर ले जा रहे थे कि वह अंग्रेजी पुस्तक है। मैंने पूछा—"कौन-सी पुस्तक है?" उन्होंने पुस्तक आगे बढ़ा दी। मैंने कहा—"यह तो फ्रेंच है", तो उन्होंने कहा—"अच्छा, फ्रेंच आ गयी?" परम पवित्र रोमन लिपि, बढ़िया तस्वीर, सुंदर जिल्द, फिर ज्ञानकी क्या कमी रही!

अंग्रेजीमें हर साल कोई दस हजार नयी किताबें तैयार होती हैं। यही हाल दूसरी भाषाओंका समझिये। ज्ञानका इतना प्रसार होते हुए भी मनुष्यका दिमाग अबतक खोखला ही कैसे बना हुआ है? कोई कहता है, स्मरणशक्ति कमजोर हो गयी है। कोई कहता है, एकाग्रता नहीं होती। कोई कहता है कि जो कुछ पढ़ते हैं, सब ही सच

---

* समर्थ रामदासकृत मराठी पुस्तक।

मालूम होता है। और कोई कहता है, अजी, विचार करनेको फुरसत ही नहीं मिलती ! श्रीकृष्ण कहते हैं—"अर्जुन, बहुत कुछ सुन-सुनाकर तेरी बुद्धि चक्करमें पड़ गयी है। वह जबतक स्थिर नहीं होगी, तबतक तुझे योगप्राप्ति नहीं हो सकती। सुनना और पढ़ना अब बन्द करके संतोंकी शरण ले ! वहाँसे जीवन-ग्रंथ पढ़नेको मिलेगा। वहाँका 'मौन व्याख्यान' सुनकर तू 'छिन्न-संशय' हो जायगा। वहाँ जानेसे तुझे मालूम हो जायगा कि लगातार सेवा-कर्म करते हुए भी मन कैसे अत्यंत शांत रह सकता है; बाहरसे कर्मका जोर रहते हुए भी हृदयमें कैसे अखंड संगीतरूपी सितार मिलाया जा सकता है।"

रविवार, १३-३-'३२

पाँचवाँ अध्याय

दोहरी अकर्मावस्था : योग और संन्यास

(१७) बाह्य कर्म मनका दर्पण

संसार बड़ी भयानक वस्तु है। बहुत बार उसे समुद्रकी उपमा देते हैं। समुद्रमें जहाँ देखिये, पानी-ही-पानी दिखाई देता है। वही हाल संसारका है। जिधर देखो, उधर संसार भरा-ही-भरा दीख पड़ता है। यदि कोई व्यक्ति घर-बार छोड़कर सार्वजनिक सेवामें लग जाता है, तो वहाँ भी उसके मनमें संसार अपना पड़ाव डाले बैठा ही मिलता है। कोई यदि गुफामें जाकर बैठ जाय, तो भी उसकी बित्तेभर लँगोटीमें संसार ओत-प्रोत रहता है। वह लँगोटी उसकी ममताका सार-सर्वस्व बन बैठती है। जैसे छोटे-से नोटमें हजार रुपये भरे रहते हैं, वैसे ही उस छोटी-सी लँगोटीमें भी अपार आसक्ति भरी रहती है। घर-जंजाल छोड़ा, विस्तार कम किया, तो इतनेसे संसार कम नहीं हो जाता। $\frac{१}{२}\frac{०}{०}$ कहो या $\frac{१}{२}$ कहो, दोनोंका मतलब एक ही है। चाहे घरमें रहो या जंगलमें, आसक्ति तो पास ही बनी रहती है। संसार लेशमात्र भी कम नहीं होता। दो योगी भले ही हिमालयकी गुफामें जाकर बैठ जायँ, पर वहाँ भी एक-दूसरेकी कीर्ति उनके कानोंमें जा पड़े, तो वे जल-भुन जायँगे। सार्वजनिक सेवाके क्षेत्रमें भी ऐसा ही दृश्य दिखाई देता है।

इस प्रकार यह संसार-प्रपंच हाथ धोकर हमारे पीछे पड़ा है, जिससे स्वधर्माचरणकी मर्यादामें रहते हुए भी संसारसे पिंड नहीं छूटता। बहुतेरा उखाड़-पछाड़ करना छोड़ दिया और झंझटें भी कम कर दीं, अपना संसार-प्रपंच भी नाममात्रका रख दिया, तो भी वहाँ ममत्व भरा रहता है। राक्षस जैसे कभी छोटे हो जाते हैं, कभी बड़े, वही हाल इस संसारका है। छोटे हों या बड़े, आखिर वे हैं तो राक्षस ही। ऐसे ही दुर्निवारत्व, चाहे महलोंमें हो या झोपड़ीमें,

है एक-सा ही। स्वधर्मका बंधन डालकर यद्यपि संसारको समतोल रखा, तो भी वहाँ अनेक झगड़े पैदा हो जायँगे और तुम्हारा जी वहाँसे ऊब उठेगा। वहाँ भी अनेक संस्था और अनेक व्यक्तियोंसे तुम्हारा संबंध बँधेगा और तुम त्रस्त हो जाओगे। कहने लगोगे—कहाँ इस आफतमें आ फँसा! लेकिन तुम्हारा मन कसौटीपर भी तभी चढ़ेगा। केवल स्वधर्माचरणको अपनानेसे ही अलिप्तता नहीं आ जाती। कर्मकी व्याप्तिको कम करना अलिप्त होना नहीं है।

फिर अलिप्तता कैसे प्राप्त हो? उसके लिए मनोमय प्रयत्न होना चाहिए। मनका सहयोग जबतक न हो, तबतक कोई भी बात सिद्ध नहीं हो सकती। माँ-बाप किसी संस्थामें अपना लड़का भेज देते हैं। वह वहाँ सबेरे उठता है, सूर्य-नमस्कार करता है, चाय नहीं पीता। परंतु घर आते ही दो-चार दिनोंमें वह सब कुछ छोड़ देता है। ऐसे अनुभव हमें होते हैं। मनुष्य कोई मिट्टीका ढेला तो है नहीं। उसके मनको हम जो आकार देना चाहते हैं, वह उसके मनमें बैठना तो चाहिए न? मन यदि आकारमें नहीं बैठा, तो कहना चाहिए कि बाहरकी यह सारी तालीम व्यर्थ हो गयी! इसलिए साधनमें मानसिक सहयोगकी बहुत आवश्यकता है।

साधनके रूपमें बाहरसे स्वधर्माचरण और भीतरसे मनका विकर्म, दोनों बातें चाहिए। बाह्य कर्मकी भी आवश्यकता है ही। कर्म किये बिना मनकी परीक्षा नहीं होती। प्रातःकालके प्रशांत समयमें हमें अपना मन अत्यंत शांत मालूम होता है। परंतु जहाँ जरा बच्चा रोया नहीं कि हमारी उस मनःशांतिकी असली कीमत हमें मालूम हो जाती है। अतः कर्मको टालनेसे काम नहीं चलेगा। बाह्य कर्मोंसे हमारे मनका स्वरूप प्रकट होता है। पानी ऊपरसे साफ़ दीखता है। परंतु उसमें पत्थर डालिये, तुरंत ही अंदरकी गंदगी ऊपर तैर आयेगी। वैसी ही दशा हमारे मनकी है। मनके अंतःसरोवरमें नीचे घुटनेभर गंदगी जमा रहती है। बाहरी वस्तुसे उसका स्पर्श होते ही वह दिखाई देने लगती है। हम कहते हैं, उसे गुस्सा आ गया। तो यह

गुस्सा कहीं बाहरसे आ गया? वह तो अंदर ही था। मनमें यदि न होता, तो वह बाहर दिखाई ही न देता।

लोग कहते हैं—"सफेद खादी नहीं चाहिए, वह मैली हो जाती है। रंगीन खादी मैली नहीं होती।" पर मैली तो वह भी होती है। हाँ, अलबत्ता मैली दिखाई नहीं देती। सफेद खादीका मैल दीख जाता है। वह कहती है—"मैं मैली हूँ, मुझे धो डालो।" यह मुँहसे बोलनेवाली खादी लोगोंको पसंद नहीं आती। इसी तरह हमारा कर्म भी बोलता है। कर्म यह बतला देता है कि आप क्रोधी हैं, स्वार्थी हैं या और कुछ हैं। कर्म वह दर्पण है, जो हमारा स्वरूप हमें दिखा देता है। अतः हमें कर्मका आभारी होना चाहिए। दर्पणमें यदि हमारा चेहरा मैला-कुचैला दिखाई दे, तो क्या हम उसे फोड़ डालेंगे? नहीं, उलटा उसका आभार मानेंगे। मुँह धो-धाकर फिर उसमें चेहरा देखेंगे। इसी तरह यदि कर्मकी बदौलत हमारे मनका पाप-दोष बाहर आता है, तो क्या इसलिए हम कर्मसे बचना चाहेंगे? इस कर्मको टालनेसे क्या हमारा मन निर्मल हो जायगा? अतः कर्म करते रहें और निर्मल होनेका उत्तरोत्तर उद्योग करते रहें।

कोई मनुष्य गुफामें जा बैठता है। वहाँ उसका किसीसे भी संपर्क नहीं होता। वह समझने लगता है कि अब मैं बिलकुल शांत-मति हो गया? परंतु गुफा छोड़कर उसे किसीके यहाँ भिक्षा माँगने जाने दीजिये। वहाँ कोई खिलाड़ी लड़का दरवाजेकी साँकल खटखटाता है। वह बालक तो उस नाद-ब्रह्ममें तल्लीन हो जाता है, परंतु उस भोले-भाले बच्चेका वह साँकल बजाना उस योगीको सहन नहीं होता। वह कहता है—"बच्चेने क्या खट-खट लगा रखी है!" गुफामें रहकर उसने अपने मनको इतना कमजोर बना लिया है कि जरा-सा भी धक्का उसे सहन नहीं होता। जरा खट-खट हुई कि बस, उसकी शांति रफूचक्कर होने लगती है। मनकी ऐसी दुर्बल स्थिति अच्छी नहीं।

सारांश यह कि अपने मनका स्वरूप समझनेके लिए कर्म बड़े काम-की चीज है। जब दोष दिखाई देंगे, तो वे दूर भी किये जा सकेंगे।

यदि दोष मालूम ही न हों, तो प्रगति रुकी, विकास समाप्त। कर्म करेंगे तो दोष दिखाई देंगे। उन्हें दूर करनेके लिए विकर्मकी योजना करनी पड़ती है। भीतर जब ऐसे विकर्मके प्रयत्न रात-दिन जारी रहने लगें, तो फिर स्वधर्मका आचरण करते हुए भी अलिप्त कैसे रहें, काम-क्रोधातीत, लोभ-मोहातीत कैसे रहें, यह बात यथासमय समझमें आ जायगी। कर्मको निर्मल रखनेका सतत प्रयत्न हो, तो फिर आगे चलकर निर्मल कर्म अपने-आप होने लगेगा। निर्विकार कर्म जब एकके बाद एक सहज भावसे होने लगते हैं, तो फिर सहसा यह पता भी नहीं लगता कि कर्म कब हो गया। जब कर्म सहज हो जाता है, तो वह अकर्म हो जाता है। सहज कर्मको ही 'अकर्म' कहते हैं, यह हमने चौथे अध्यायमें देख लिया है। 'कर्मका अकर्म' कैसे होता है, सो संत-चरणोंमें बैठनेसे मालूम होगा, यह भी भगवान्‌ने चौथे अध्यायके अन्तमें बता दिया है। इस अकर्म-स्थितिका वर्णन करनेके लिए वाणी अपर्याप्त है।

(१८) अकर्म दशाका स्वरूप

कर्मकी सहजताको समझनेके लिए हम अपने परिचयका एक उदाहरण लें। छोटा बच्चा पहले चलना सीखता है। उस समय उसे कितना कष्ट होता है। किंतु हमें उसकी इस लीलासे आनंद होता है। हम कहते हैं, 'देखो, लल्ला चलने लगा।' परंतु पीछे वही चलना सहज हो जाता है। वह चलता भी रहता है और बातचीत भी करता रहता है। चलनेकी ओर ध्यान भी नहीं रहता। यही बात खानेके संबंधमें है। हम छोटे बच्चेका अन्नप्राशन कराते हैं, मानो खाना कोई बड़ा काम हो। परंतु पीछे वही खाना एक सहज कर्म हो जाता है। मनुष्य जब तैरना सीखता है, तो कितना कष्ट होता है! पहले दम भर आता है, पर बादमें तो उलटे जब दूसरी मेहनतसे थक जाता है, तो कहता है कि 'चलो, जरा तैर आयें तो थकान निकल जाय।' अब वह तैरना कष्टकर नहीं मालूम होता। शरीर यों ही सहज भावसे पानीपर तैरता रहता है। श्रमित होना मनका धर्म है। मन जब कर्मोंमें व्यस्त

रहता है, तो श्रम मालूम होता है; परंतु कर्म जब सहज होने लगते हैं, तो फिर उनका बोझ नहीं मालूम होता। कर्म मानो अकर्म हो जाता है। कर्म आनंदमय हो जाता है।

कर्मको अकर्म कर देना हमारा ध्येय है, इसके लिए स्वधर्माचरण-रूपी कर्म करने हैं। उन्हें करते हुए दोष नजर आयेंगे, जिन्हें दूर करनेके लिए विकर्मका पल्ला पकड़ना होगा। ऐसा अभ्यास करते रहनेसे मनकी फिर ऐसी स्थिति हो जाती है कि कर्ममें त्रास या कष्ट बिलकुल नहीं मालूम होता। हजारों कर्म हाथोंसे होते रहनेपर भी मन निर्मल और शांत रहता है। आप आकाशसे पूछिये—"भाई आकाश, तुम गर्मीमें झुलसते होगे, वर्षामें भींगते होगे और सर्दीमें ठिठुरते होगे।" तो वह क्या जवाब देगा ? वह कहेगा—"मुझे क्या-क्या होता है, इसका फैसला तुम करो, मैं कुछ नहीं जानता।"

पिसें नेसलें कीं नागवें
लोकीं येऊन जाणावें।

—'पागल नंगा है या कपड़े पहने है, इसका फैसला लोग करें। पागलको इसका भान नहीं।'

इसका भावार्थ यही है कि स्वधर्माचरणसंबंधी कर्म, विकर्मकी सहायतासे निर्विकार बनानेकी आदत होते-होते, स्वाभाविक हो जाते हैं। बड़े-बड़े विकट अवसर भी फिर मुश्किल नहीं मालूम होते। कर्मयोगकी यह ऐसी कुंजी है। कुंजी न हो तो तालेको तोड़ते-तोड़ते हाथोंमें छाले पड़ जायँगे। परंतु कुंजी हाथ लग जानेपर पलभरमें सब कुछ खुल जायगा। कर्मयोगकी इस कुंजीके कारण सब कर्म निरुपद्रवी मालूम होते हैं। यह कुंजी मनोजयसे मिलती है। अतः मनोजयका अविरत प्रयत्न होना चाहिए। कर्म करते हुए जो मनोमल दिखाई दें, उन्हें धो डालनेका प्रयत्न करना चाहिए। तो फिर बाह्य कर्मोंकी झंझट नहीं मालूम होती। कर्मका अहंकार ही मिट जाता है। काम-क्रोधके वेग नष्ट हो जाते हैं। क्लेशोंका अनुभवतक नहीं होता। कर्मका भी भान बाकी नहीं रहता।

एक बार मुझे एक भले आदमीने पत्र लिखा—"अमुक संख्यामें रामनामका जप करना है। तुम भी इसमें शरीक होओ और बताओ कि रोज कितना जप करोगे।" वह बेचारा अपनी बुद्धिके अनुसार उद्योग कर रहा था। उसे बुरा कहनेकी दृष्टिसे यह नहीं कह रहा हूँ। परंतु राम-नाम कोई गिनतीकी चीज नहीं है। माँ बच्चेकी सेवा करती है, तो क्या वह उसकी रिपोर्ट छपाने जाती है। यदि वह रिपोर्ट छपवाने लगी, तो 'थैंक्यू' कहकर उसके ऋणसे बरी हो सकेंगे। परंतु माता रिपोर्ट नहीं लिखती। वह तो कहती है—"मैंने क्या किया? मैंने कुछ नहीं किया। यह क्या मेरे लिए कोई बोझ है?" विकर्मकी सहायतासे मन लगाकर, हृदय उँडेलकर जब मनुष्य कर्म करता है, तब वह कर्म रहता ही नहीं, अकर्म हो जाता है। वहाँ क्लेश, कष्ट, अटपटा जैसा कुछ नहीं रहता।

इस स्थितिका वर्णन नहीं किया जा सकता। एक धुँधली-सी कल्पना करायी जा सकती है। सूर्य उगता है, पर उसके मनमें क्या कभी यह भाव आता है कि मैं अँधेरा मिटाऊँगा, पंछियोंको उड़नेकी प्रेरणा करूँगा, लोगोंको कर्म करनेमें प्रवृत्त करूँगा? वह जहाँ उगता है, वहीं खड़ा रहता है। उसका अस्तित्वमात्र ही विश्वको गति देता है। परंतु सूर्यको उसका पता नहीं। आप यदि सूर्यसे कहेंगे—"हे सूर्यदेव, आपके अनंत उपकार हैं, आपने कितना अँधेरा दूर कर दिया", तो वह चक्करमें पड़ जायगा। कहेगा—"जरा-सा अँधेरा लाकर मुझे दिखाओ। यदि उसे मैं दूर कर सका, तो मैं कहूँगा कि यह मेरा कर्तृत्व है।" क्या सूर्यके पास अँधेरा ले जाया जा सकेगा? सूर्यके अस्तित्वसे अंधकार दूर होता होगा, उसके प्रकाशमें कोई सद्ग्रंथ पढ़ता होगा, तो कोई असद्ग्रंथ भी पढ़ता होगा, कोई आग लगाता होगा, तो कोई किसीका भला करता होगा। परंतु इस पाप-पुण्यका जिम्मेदार सूर्य नहीं है। सूर्य कहता है—"प्रकाश मेरा सहज धर्म है। मेरे पास यदि प्रकाश न होगा, तो फिर होगा क्या? मैं जानता ही नहीं कि मैं प्रकाश दे रहा हूँ। मेरा होना ही प्रकाश है। प्रकाश देनेकी

क्रियाका कष्ट मैं नहीं जानता। मुझे नहीं प्रतीत होता कि मैं कुछ कर रहा हूँ।"

सूर्यका यह प्रकाश-दान जैसा स्वाभाविक है, वैसा ही हाल संतोंका है। उनका जीवित रहना ही मानो प्रकाश देना है। आप यदि किसी ज्ञानी मनुष्यसे कहें कि "आप महात्मा सत्यवादी हैं" तो वह कहेगा— "मैं यदि सत्यपर न चलूँ, तो करूँ क्या? मैं विशेष क्या करता हूँ?" ज्ञानी पुरुषमें असत्यता हो ही नहीं सकती।

अकर्मकी यह ऐसी भूमिका है। साधन इतने नैसर्गिक और स्वाभाविक हो जाते हैं कि उनका आना-जाना मालूम ही नहीं पड़ता। इन्द्रियाँ उनकी सहज आदी हो जाती हैं। सहज बोलणें हितउपदेश। 'सहज बोलना, हित उपदेश' वाली स्थिति हो जाती है। जब ऐसी स्थिति प्राप्त हो जाती है, तब कर्म अकर्म हो जाता है। ज्ञानी पुरुषके लिए सत्कर्म सहज हो जाते हैं। किलकिलाते रहना पक्षियोंका सहज धर्म है। माँकी याद आना बच्चोंका सहज धर्म है। इसी तरह ईश्वरका स्मरण होना संतोंका सहज धर्म हो जाता है। सुबह होते ही 'कुकडूं-कूं' करना मुर्गेका सहज धर्म है। स्वरोंका ज्ञान कराते हुए भगवान् पाणिनिने मुर्गेकी बांगका उदाहरण दिया है। पाणिनिके समयसे आजतक मुर्गा सुबह बांग देता है। पर क्या इसके लिए उसे किसीने मानपत्र अर्पण किया है? मुर्गेका वह सहज धर्म है। उसी तरह सच बोलना, भूतमात्रके प्रति दया, किसीका दोष न देखना, सबकी सेवा-शुश्रूषा करना आदि सत्पुरुषोंके कर्म सहज रूपसे होते रहते हैं। उन्हें किये बिना वे जिन्दा नहीं रह सकते। किसीने भोजन किया, तो क्या हम उसका गौरव करते हैं? खाना, पीना, सोना जैसे सांसारिकोंके सहज कर्म हैं, वैसे ही सेवा-कर्म ज्ञानियोंके लिए सहज कर्म हैं। उपकार करना उनका स्वभाव हो जाता है। ज्ञानी यदि कहे कि 'मैं उपकार नहीं करूँगा', तो उसके लिए यह असंभव है। ऐसे ज्ञानी पुरुषका कर्म, अकर्म दशाको पहुँच गया है, ऐसा समझना चाहिए। इसी दशाको 'संन्यास' नामक अति पवित्र पदवी दी

गयी है। संन्यास ही परम धन्य अकर्म दशा है। इसी दशाको 'कर्म-योग' भी कहना चाहिए। कर्म करता रहता है, अतः वह 'योग' है; परंतु करते हुए भी वह करता है, ऐसा मालूम नहीं होता, इसलिए वही 'संन्यास' है। वह कुछ ऐसी युक्तिसे कर्म करता है कि उसका लेप उसे नहीं लगता; इसलिए वह 'योग' है और करके भी कुछ नहीं किया, इसलिए वह 'संन्यास' है।

(१९) अकर्मका एक पक्ष : योग

'संन्यास' की आखिर कल्पना क्या है? कुछ कर्म छोड़ना, कुछ कर्म करना, यह कल्पना है क्या? नहीं, ऐसी बात नहीं है। संन्यासकी व्याख्या ही है—"सब कर्मोंको छोड़ना।" सब कर्मोंसे मुक्त होना, कर्म जरा भी न करना संन्यास है। परंतु कर्म न करनेका अर्थ क्या? कर्म बड़ी विचित्र वस्तु है। सर्व-कर्म-संन्यास होगा कैसे? कर्म तो आगे-पीछे, अगल-बगल, सब ओर व्याप्त हो रहा है। अजी, बैठे तो भी क्रिया ही हुई न? 'बैठना' यह क्रिया-पद है। केवल व्याकरणकी दृष्टिसे ही वह क्रिया नहीं हुई, परंतु सृष्टि-शास्त्रमें भी 'बैठना' क्रिया ही है। सतत बैठे रहनेसे पैर दुखने लगते हैं। बैठनेमें भी श्रम तो है ही। जहाँ न करना भी कर्म सिद्ध होता है, वहाँ कर्म-संन्यास होगा भी कैसे? भगवान्‌ने अर्जुनको विश्वरूप दिखलाया। सर्वत्र फैला हुआ वह विश्वरूप देखकर अर्जुन डर गया और घबराकर उसने आँखें मूँद लीं। परंतु आँखें मूँदकर देखा, तो वह भीतर भी दिखाई देने लगा। अब आँखें मूँद लेनेपर भी जो दीखता है, उससे कैसे बचा जाय? न करनेसे भी जो होता है, उसे कैसे टाला जाय?

एक मनुष्यकी बात है। उसके पास सोनेके अनेक बहुमूल्य गहने थे। वह उन्हें एक बड़े संदूकमें बंद करके रखना चाहता था। नौकर एक खासा बड़ा-सा लोहेका संदूक बनवा लाया। उसे देखकर उसने कहा—"तू कैसा बेवकूफ है रे गँवार! तुझे सुन्दरताकी कोई कल्पना भी है क्या? ऐसे बेश-कीमती जेवर रखना है, तो क्या भद्दे मनहूस

लोहेके संदूकमें रखे जायँगे ? जा, अच्छा सोनेका संदूक बनाकर ला !" नौकर सोनेका संदूक बनवा लाया। "अब ताला भी सोनेका ही ले आ। सोनेके संदूकमें सोनेका ही ताला फबेगा।" वह व्यक्ति गया था जेवरको छिपाने, उसे ढाँककर रखने, लेकिन वह सोना छिपा या खुला ? चोरोंको जेवर खोजनेकी जरूरत ही नहीं रही। संदूक उड़ाया और काम बना। सारांश यह है कि कर्म न करना भी कर्म करनेका ही एक प्रकार हो जाता है। इतना व्यापक जो कर्म है, उसका संन्यास किया कैसे जाय ?

ऐसे कामोंका संन्यास करनेकी रीति ही यह है कि ऐसी तरकीब साधी जाय, जिससे दुनियाभरके कर्म करते हुए भी वे सब गलकर बह जायँ। जब ऐसा हो सकेगा, तभी कह सकते हैं कि 'संन्यास-प्राप्ति' हुई। कर्म करके भी उन सबका 'गल जाना' यह बात आखिर है कैसी ? सूर्यके जैसी है। सूर्य रात-दिन कर्म कर रहा है। रातको भी वह कर्म करता ही है। उसका प्रकाश दूसरे गोलार्द्धमें काम करता रहता है। परंतु इतना कर्म करते हुए भी ऐसा कहा जाता है कि वह कुछ भी नहीं करता। इसीलिए चौथे अध्यायमें भगवान् कहते हैं—"मैंने यह योग पहले सूर्यको सिखाया। फिर विचार करनेवाले, मनन करनेवाले मनुने सूर्यसे इसे सीखा।" चौबीस घंटे कर्म करते हुए भी सूर्य लेशमात्र कर्म नहीं करता। इसमें कोई संदेह नहीं कि यह स्थिति सचमुच अद्भुत है।

(२०) अकर्मका दूसरा पक्ष : संन्यास

परंतु यह तो संन्यासका सिर्फ एक प्रकार हुआ। वह कर्म करके भी नहीं करता, यह उसकी स्थितिका एक पहलू हुआ। वह कुछ भी कर्म नहीं करता, फिर भी सारी दुनियाको कर्म करनेमें प्रवृत्त करता है, यह उसका दूसरा पहलू है। उसमें अपरंपार प्रेरक शक्ति है। अकर्मकी खूबी भी यही है। अकर्ममें अनंत कार्यके लिए आवश्यक शक्ति भरी रहती है। भापका भी ऐसा ही है न ? भापको रोककर रखिये, तो

कितना प्रचंड कार्य करती है। उस रोकी हुई भापमें अपार शक्ति आ जाती है। वह बड़े-बड़े जहाज और रेलगाड़ियोंको बात-की-बातमें खींच ले जाती है। सूर्यकी भी ऐसी ही बात है। वह लेशमात्र भी कर्म नहीं करता, परंतु चौबीस घंटे लगातार काम करता है। उससे पूछेंगे तो वह कहेगा—"मैं कुछ नहीं करता।" रात-दिन कर्म करते हुए न करना जैसे सूर्यका एक पहलू हुआ, वैसे ही कुछ न करते हुए रात-दिन अनंत कर्म करना, यह दूसरा पहलू हुआ। संन्यास इन दोनों प्रकारोंसे विभूषित है।

दोनों असाधारण हैं। एक प्रकारमें कर्म प्रकट है और अकर्मावस्था गुप्त है। दूसरे प्रकारमें अकर्मावस्था प्रकट दिखाई देती है, परंतु उसकी बदौलत अनंत कर्म होते रहते हैं। इस अवस्थामें अकर्ममें कर्म लबालब भरा रहता है। इसलिए उससे प्रचंड कार्य होता है। ऐसे व्यक्तिमें और आलसीमें बड़ा अंतर है। आलसी मनुष्य थक जायगा, ऊब जायगा। लेकिन यह अकर्मी संन्यासी कर्म-शक्तिको रोक करके रखता है। लेशमात्र भी कर्म नहीं करता। वह हाथ-पाँवसे, किसी इंद्रियसे कोई कर्म नहीं करता। परंतु कुछ न करते हुए भी वह अनंत कर्म करता है।

किसी मनुष्यको गुस्सा आ गया। यदि हमारी किसी भूलसे वह गुस्सा हुआ है, तो हम उसके पास जाते हैं। वह चुप रहता है, बोलता नहीं। अब उसके अबोलका, उस कर्मत्यागका कितना प्रचंड परिणाम होता है। दूसरा बड़बड़ करता रहेगा। दोनों हैं तो गुस्सेमें ही, परंतु एक चुप है, दूसरा बड़बड़ाता है। दोनों हैं गुस्सेके ही नमूने। न बोलना भी है तो क्रोधका ही एक रूप। उससे भी कार्य होता है। माँ या बापने बच्चेसे बोलना बंद कर दिया, तो उसका परिणाम कितना प्रचंड होता है। उस बोलनेके कर्मको छोड़ देनेसे, उस कर्मको न करनेसे ही इतना प्रचंड कर्म होता है कि प्रत्यक्ष कर्म करने-पर भी उसका उतना परिणाम नहीं हो सकता था। उस अबोलका जो प्रभाव हुआ, वह बोलनेसे नहीं हो सकता। ज्ञानी पुरुषकी ऐसी ही

स्थिति होती है। उसका अकर्म ही, उसका खामोश बैठना ही प्रचंड कर्म करता है, प्रचंड सामर्थ्य उत्पन्न करता है। अकर्मी रहकर वह इतने कर्म करता है कि वे सब क्रियाके द्वारा प्रकट ही नहीं हो सकते। इस तरह यह संन्यासका दूसरा प्रकार है।

ऐसे संन्यासीकी सारी प्रवृत्ति, उसके सारे उद्योग एक आसनपर आकर बैठ जाते हैं।

> उद्योगाची धांव बैसली आसनीं
> पडिलें नारायणीं मोटळ हें।
> सकळ निश्चिती झाली हा भरंवसा
> नाहीं गर्भवासा येणें ऐसा।
> आपुलिये सत्ते नाहीं आम्हां जिणें
> अभिमान तेणें नेला देवें।
> तुका म्हणे चळे एकाचिये सत्ते
> आपुले मी रितेपणें असें॥

—'उद्योगोंकी भगदड़ शांत हो गयी है। नारायणने यह गठरी ठीकसे बांध दी है। मैं पूर्णतः निश्चिन्त हो गया हूँ और यह विश्वास हो गया है कि अब मेरा गर्भवास छूट गया। मैं अब अपनी सत्तासे नहीं जीता। भगवान्‌ने मेरा यह अभिमान छीन लिया है। तुका कहता है कि अब सब एककी ही सत्तासे चलता है। मैं अब खोखला-सा हो गया हूँ।'

तुकाराम कहते हैं—'मैं अब खाली हो गया हूँ। गठरी होकर पड़ा हूँ। सब उद्योग समाप्त हो गये।' तुकाराम खाली हो गये, परंतु उस खाली बोरेमें प्रचंड प्रेरक शक्ति है। सूर्य स्वतः आवाज नहीं लगाता, परंतु उसके दीखते ही पंछी उड़ने लगते हैं, मेमने नाचने लगते हैं, गायें वनमें चरने जाती हैं, व्यापारी दूकान खोलते हैं, किसान खेत-पर जाते हैं, संसारके नाना व्यवहार शुरू हो जाते हैं। सूर्य बना रहे, यही पर्याप्त है। उतने हीसे अनंत कर्म शुरू हो जाते हैं। इस

अकर्मावस्थामें अनंत कर्मोंकी प्रेरणा भरी रहती है, सामर्थ्य ठसाठस भरी रहती है। ऐसा यह संन्यासका दूसरा अद्भुत प्रकार है।

(२१) दोनोंकी तुलना शब्दोंसे परे

पाँचवें अध्यायमें संन्यासके दो प्रकारोंकी तुलना की गयी है। एक चौबीसों घंटे कर्म करके भी कुछ नहीं करता और दूसरा क्षणभर भी कुछ न करके सब कुछ करता है। एक बोलकर न बोलनेका प्रकार, तो दूसरा न बोलकर बोलनेका प्रकार। इन दो प्रकारोंकी यहाँ तुलना की गयी है। ये जो दिव्य प्रकार हैं, उनका अवलोकन करें, विचार करें, मनन करें, इसमें अपूर्व आनंद है।

यह विषय ही अपूर्व और उदात्त है। सचमुच संन्यासकी यह कल्पना बहुत ही पवित्र और भव्य है। जिस किसीने यह विचार—यह कल्पना—पहले-पहल खोज निकाली, उसे जितने धन्यवाद दिये जायँ, थोड़े हैं। यह बड़ी उज्ज्वल कल्पना है। मानवीय बुद्धिने, मानवीय विचारने अबतक जो ऊँची उड़ानें मारी हैं, उन सबमें ऊँची उड़ान संन्यासतक पहुँची है। इससे आगे अभीतक कोई उड़ान न मार सका। उड़ान मारना तो जारी है, परंतु मैं नहीं कह सकता कि विचार और अनुभवमें इतनी ऊँची उड़ान किसीने मारी हो। इन दो प्रकारोंसे युक्त संन्यासकी कोरी कल्पना ही आँखोंके सामने आनेसे अपूर्व आनंद होता है। किंतु भाषा और व्यवहारके इस जगत्में जब आते हैं, तब वह आनंद कम हो जाता है। जान पड़ता है, नीचे गिर रहे हैं। मैं अपने मित्रोंसे इसके विषयमें हमेशा कहता रहता हूँ। आज कितने ही वर्षोंसे मैं इन दिव्य विचारोंका मनन कर रहा हूँ। यहाँ भाषा अधूरी पड़ती है। शब्दोंकी कक्षामें यह आता ही नहीं।

करके सब कुछ कर डाला और सब कुछ करके भी लेशमात्र नहीं किया—कितनी उदात्त, रसमय और काव्यमय कल्पना है यह ! अब काव्य और क्या बाकी रहा ? जो कुछ काव्यके नामसे प्रसिद्ध है, वह सब इस काव्यके आगे फीका है। इस कल्पनामें जो आनंद, जो उत्साह, जो स्फूर्ति और जो दिव्यता है, वह किसी भी काव्यमें नहीं। इस

तरह यह पाँचवाँ अध्याय ऊँची—बड़ी ऊँची—भूमिकापर प्रतिष्ठित किया गया है। चौथे अध्यायतक कर्म, विकर्म बताकर यहाँ खूब ही ऊँची उड़ान मारी है। यहाँ अकर्म दशाके दो प्रकारोंकी प्रत्यक्ष तुलना ही की है। यहाँ भाषा लड़खड़ाती है। कर्मयोगी श्रेष्ठ या कर्मसंन्यासी श्रेष्ठ? कर्म कौन ज्यादा करता है, यह कहना सम्भव ही नहीं है। सब करके भी कुछ न करना और कुछ भी न करते हुए सब कुछ करना, ये दोनों योग ही हैं; परन्तु तुलनाके लिए एकको 'योग' कहा है, दूसरेको 'संन्यास'।

(२२) भूमिति और मीमांसकोंका दृष्टान्त

तो अब इनकी तुलना कैसे की जाय? इसके लिए उदाहरणोंसे ही काम लेना पड़ेगा। जब उदाहरण देने जाते हैं, तो प्रतीत होता है, मानो नीचे गिर रहे हैं। परंतु नीचे गिरना ही होगा। सच पूछिये तो पूर्ण कर्म-संन्यास अथवा पूर्ण कर्म-योग, ये कल्पनाएँ ऐसी हैं, जो इस शरीरमें नहीं समा सकतीं। वे इस देहको फोड़ डालेंगी। परंतु जो महापुरुष इन कल्पनाओंके नजदीकतक पहुँच गये हैं, उनके उदाहरणसे हमें काम चलाना होगा। उदाहरण तो सदा अधूरे ही रहनेवाले हैं; परन्तु थोड़ी देरके लिए यही मान लेना होगा कि वे पूर्ण हैं।

रेखा-गणितमें कहते हैं कि 'कल्पना करो' कि 'सा' 'रे' 'ग' एक त्रिकोण है। भला 'कल्पना' क्यों करें? क्योंकि इस त्रिकोणकी रेखाएँ यथार्थ रेखाएँ नहीं हैं। रेखाकी तो व्याख्या ही यह है कि उसमें लंबाई है, पर चौड़ाई नहीं। तख्तेपर विना चौड़ाईके यह लंबाई दिखाई कैसे जाय? लंबाई जहाँ आयी कि चौड़ाई आ ही जाती है। जो भी रेखा हम खींचेंगे, उसमें कुछ-न-कुछ चौड़ाई रहेगी ही। इसलिए भूमिति-शास्त्रमें रेखा 'मानें' बिना काम ही नहीं चलता। भक्ति-शास्त्रमें क्या ऐसी ही बात नहीं है? वहाँ भी भक्त कहता है—इस छोटी-सी शालग्रामकी वटियामें अखिल ब्रह्मांड है, यह 'मानो'। यदि कोई कहे—"यह क्या पागलपन है!" तो उससे कहो—"तुम्हारी यह भूमिति क्या पागलपन है? बिलकुल स्पष्टतः मोटी रेखा दिखाई पड़ती

है और कहते हो कि इसे बिना चौड़ाईकी मानो, यह क्या पागलपन है! खुर्दबीनसे देखोगे, तो वह आधा इंच चौड़ी दिखाई देगी। जैसे तुम अपनी भूमितिमें मानते हो, वैसे ही भक्ति-शास्त्र कहता है कि इस शालग्राममें परमेश्वर मानो।" अब कोई यदि यह कहे कि "परमेश्वर न टूटता है, न फूटता। तुम्हारा यह शालग्राम तो टूट जायगा, लगाऊँ एक चोट?" तो यह समझदारी नहीं कही जायगी; क्योंकि जब भूमितिमें 'मानो' चलता है, तो फिर भक्ति-शास्त्रमें क्यों न चलना चाहिए? बिन्दुको कहते हैं 'मानो' और तख्तेपर बिन्दु (प्रत्यक्ष) बनाते हैं। बिन्दु भी क्या, एक खासा वर्तुल होता है। बिन्दुकी व्याख्या यानी ब्रह्मकी ही व्याख्या है। बिन्दुकी न लंबाई, न चौड़ाई, न मोटाई—कुछ भी नहीं। किन्तु व्याख्या तो ऐसी करते हैं और फिर उसे तख्तेपर बनाकर दिखाते हैं। पर बिन्दु तो वास्तवमें अस्तित्वमात्र है, त्रि-परिमाण-रहित है। सारांश यह कि सच्चा त्रिकोण, सच्चा बिन्दु व्याख्यामें ही रहता है, परन्तु हमें उसे मानकर चलना पड़ता है। भक्ति-शास्त्रमें भी शालग्राममें न टूटने-फूटनेवाला सर्वव्यापी परमेश्वर मानना पड़ता है। हम भी ऐसे ही काल्पनिक दृष्टांत लेकर इनकी तुलना करेंगे।

मीमांसकोंने तो एक बड़ा मजा ही किया है। परमेश्वर कहाँ है—इसकी मीमांसा करते हुए उन्होंने बड़ा सुंदर निरूपण किया है। वेदोंमें इंद्र, अग्नि, वरुण आदि देवता हैं। इन देवताओंका विचार मीमांसामें करते हुए एक ऐसा प्रश्न पूछा जाता है—"यह इंद्र कैसा है? इसका रूप कैसा है? यह रहता कहाँ है?" मीमांसक उत्तर देते हैं—'इंद्र' शब्द ही इंद्रका रूप है। 'इंद्र' शब्दमें ही वह रहता है। 'इ' और उसपर 'अनुस्वार', फिर 'द्र'—यही उसका स्वरूप है। वही उसकी मूर्ति, वही परिमाण। वरुण देवता कैसे? वैसे ही। पहले 'व', फिर 'रु', फिर 'ण'। व रु ण—यह वरुणका रूप। इसी तरह अग्नि आदि देवताओंके विषयमें समझिये। ये सारे देवता अक्षर-रूप-धारी हैं। देवता सब अक्षर-मूर्ति हैं, इस कल्पनामें—इस विचारमें—

बड़ी मिठास है। देवकी कल्पना—देव वस्तु किसी आकारमें न समाने जैसी है। उस कल्पनाको प्रदर्शित करनेके लिए अक्षर यही एक चिह्न पर्याप्त होगा। ईश्वर कैसा है? तो पहले 'ई', फिर 'श्व', फिर 'र'। आखिरमें 'ॐ' ने तो कमाल ही कर डाला। 'ॐ' अक्षर ही ईश्वर हो गया। ईश्वरके लिए वह एक संज्ञा ही बन गया। ऐसी संज्ञाएँ बनानी पड़ती हैं; क्योंकि मूर्तिमें—आकारमें—ये विशाल कल्पनाएँ समा ही नहीं सकतीं; परंतु मनुष्यकी इच्छा बड़ी जबर्दस्त होती है। वह इन कल्पनाओंको मूर्तिमें प्रविष्ट करनेका प्रयत्न करता ही है।

(२३) संन्यासी और योगी एक ही : शुक-जनकवत्

संन्यास और योग, ये बहुत ऊँची उड़ानें हैं। पूर्ण संन्यास और पूर्ण योगकी कल्पना इस देहमें नहीं समा सकती। भले ही देहमें ये ध्येय न समा सकें, तो भी विचारमें जरूर समा जाते हैं। पूर्ण योगी और पूर्ण संन्यासी तो व्याख्यामें ही रहनेवाले हैं। वे ध्येयभूत और अप्राप्य ही रहेंगे, परंतु उदाहरणके तौरपर ऐसे व्यक्ति लेने होंगे, जो इन कल्पनाओंके अधिक-से-अधिक नजदीक पहुँच पाये होंगे। फिर भूमितिकी तरह कहना होगा कि इसे 'पूर्ण योगी' और इसे 'पूर्ण संन्यासी' समझो। संन्यासका उदाहरण देते समय शुक, याज्ञवल्क्यके नाम लिये जाते हैं। इधर कर्मयोगीके रूपमें जनक और श्रीकृष्णका नाम खुद भगवद्गीतामें ही लिया गया है। लोकमान्यने 'गीता-रहस्य' में एक नामावली ही दे दी है। "जनक, श्रीकृष्ण आदि इस मार्गसे गये, शुक, याज्ञवल्क्य आदि उस मार्गसे गये।" परंतु थोड़ा विचार करनेसे यह सूची, भीगे हाथसे जिस तरह लिखा हुआ मिटाया जाता है उस तरह, मिटा दी जायगी। याज्ञवल्क्य संन्यासी थे, जनक कर्मयोगी थे। यानी संन्यासी याज्ञवल्क्यके कर्मयोगी जनक शिष्य थे, लेकिन उसी जनकके शिष्य शुकदेव संन्यासी हुए। याज्ञवल्क्यके शिष्य जनक और जनकके शिष्य शुक। संन्यासी, फिर कर्मयोगी, फिर संन्यासी—ऐसी यह मालिका बनती है। इस तरह योग और संन्यास एक ही परंपरामें आ जाते हैं।

शुकदेवसे व्यासने कहा—"बेटा शुक, तुम ज्ञानी तो हो, परंतु गुरुकी मोहर (छाप) अभी तुमपर नहीं लगी। इसलिए तुम जनकके पास जाओ।" शुकदेव चले। जनक तीसरी मंजिलपर अपने विशाल भवनमें बैठे थे। शुक थे वनवासी। नगर देखते-देखते चले। जनकने शुकदेवसे पूछा—"क्यों आये ?" शुकने कहा—"ज्ञान पानेके लिए।" "किसने भेजा ?" "व्यासदेवने।" "कहाँसे आये ?" "आश्रमसे।" "आते हुए यहाँ बाजारमें क्या-क्या देखा ?" "चारों तरफ एक ही शकरकी मिठाई सजी हुई दिखाई दी।" "और क्या देखा ?" "चलते-बोलते शकरके पुतले देखे।" "फिर क्या देखा ?" "यहाँ आते हुए शकरकी सख्त सीढ़ियाँ मिलीं।" "फिर क्या मिला ?" "शकरके चित्र यहाँ भी सर्वत्र देखे।" "अब क्या दीख रहा है ?" "शकरका एक पुतला शकरके दूसरे पुतलेसे बात कर रहा है।" जनकने कहा—"जाओ, तुम्हें सब ज्ञान मिल चुका।" शुकदेवको जनकसे उनके हस्ताक्षरका जो प्रमाणपत्र चाहिए था, वह मिल गया। मुद्दा यह कि कर्मयोगी जनकने संन्यासी शुकदेवको शिष्यके रूपमें पास किया। शुक तो संन्यासी थे ही, परन्तु प्रसंग कैसा मजेदार है !

परीक्षितको शाप मिला—सात दिनमें तुम मर जाओगे। परीक्षितको मरनेकी तैयारी करनी थी। उसे ऐसा गुरु चाहिए था, जो यह सिखाये कि मरें कैसे। उसने शुकाचार्यको बुलाया। शुकाचार्य जो आकर बैठे, तो २४×७=१६८ घंटे पल्थी मारकर भागवत सुनाते रहे। जो आसन जमाया, सो फिर छोड़ा ही नहीं। एक-सी कथा कहते ही रहे। 'तो इसमें कौन बड़ी बात है ?' बड़ी बात यह कि सतत सात दिनतक उनको भारी श्रम करना पड़ा, फिर भी वह उन्हें कुछ नहीं मालूम हुआ। सतत कर्म करते रहकर भी मानो वे कर्म कर ही नहीं रहे थे। श्रमकी भावना ही वहाँ नहीं थी। सार यह कि संन्यास और कर्मयोग, ये दोनों भिन्न हैं ही नहीं।

इसलिए भगवान् कहते हैं—

एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति।

संन्यास और योगमें जो एकरूपता देखेगा, कहना होगा कि उसीने वास्तविक रहस्य समझा है। एक न करके करता है और दूसरा करके भी नहीं करता। जो सचमुच श्रेष्ठ संन्यासी है, जिसकी सदैव समाधि लगी रहती है, जो बिलकुल निर्विकार है, ऐसा संन्यासी पुरुष दस दिन हमारे-आपके बीच आकर रहने दो। कितना प्रकाश, कितनी स्फूर्ति उससे मिलेगी! अनेक वर्षोंतक कामका ढेर लगाकर भी जो नहीं हुआ, वह केवल उसके दर्शनसे—अस्तित्वमात्रसे हो जायगा। फोटो देखकर यदि मनमें पावनता उत्पन्न होती है, मृत लोगोंके चित्रोंसे यदि भक्ति, प्रेम और पवित्रता हृदयमें उत्पन्न होती है, तो जीवित संन्यासी-को देखनेसे कितनी प्रेरणा प्राप्त होगी! संन्यासी और योगी, दोनों लोकसंग्रह करते हैं। एक जगह यदि बाहरसे कर्मत्याग दिखाई दिया, तो भी उस कर्मत्यागमें कर्म ठसाठस भरा हुआ है। उसमें अनंत स्फूर्ति भरी हुई है। ज्ञानी संन्यासी और ज्ञानी कर्मयोगी, दोनों एक ही सिंहा-सनपर बैठनेवाले हैं। संज्ञा भिन्न-भिन्न होनेपर भी अर्थ एक ही है। एक ही तत्त्वके ये दोनों पहलू या प्रकार हैं। यंत्र जब वेगसे घूमता है, तो वह ऐसा दिखाई देता है, मानो स्थिर है, घूम नहीं रहा है। संन्यासी-की भी स्थिति ऐसी ही होती है। उसकी शांतिमेंसे, स्थिरतामेंसे अनंत शक्ति, अपार प्रेरणा निकलती है। महावीर, बुद्ध, निवृत्तिनाथ ऐसी ही विभूतियाँ थीं। संन्यासीके सभी उद्योगोंकी दौड़ एक आसन-पर आकर स्थिर हो जाय, तो भी वह प्रचंड कर्म करता है। सारांश यह कि योगी ही संन्यासी है और संन्यासी ही योगी है। दोनोंमें कुछ भी भेद नहीं है। शब्द अलग-अलग हैं, पर अर्थ एक ही है। जैसे पत्थरके मानी पाषाण और पाषाणके मानी पत्थर हैं, वैसे ही कर्मयोगीके मानी संन्यासी और संन्यासीके मानी कर्मयोगी हैं।

(२४) तो भी संन्याससे श्रेष्ठ माना है कर्मयोगको

बात यद्यपि ऐसी है, तो भी भगवान्‌ने एक तुर्रा लगा रखा है। भगवान् कहते हैं—"संन्याससे कर्मयोग श्रेष्ठ है।" जब दोनों ही एक-से

हैं, तो फिर भगवान् ऐसा क्यों कहते हैं ? या फिर यह दिल्लगी है ? जब भगवान् कहते हैं कि कर्मयोग श्रेष्ठ है, तब वे साधककी दृष्टिसे कहते हैं। बिलकुल कर्म न करते हुए सब कर्म करनेकी विधि एक सिद्धके लिए शक्य है, साधकके लिए नहीं। परंतु सब कर्म करके भी कुछ न करना, इस तरीकेका थोड़ा-बहुत अनुकरण किया जा सकता है। एक विधि ऐसी है, जो साधकके लिए शक्य नहीं, सिर्फ सिद्धके ही लिए शक्य है। दूसरी ऐसी है, जो साधकके लिए भी थोड़ी-बहुत शक्य है। बिलकुल कर्म न करते हुए कर्म कैसे करना, यह साधकके लिए एक पहेली ही रहेगी। यह उसकी समझमें नहीं आ सकता। कर्मयोग साधकके लिए एक मार्ग भी है और मुकाम—पड़ाव—भी है, परंतु संन्यास तो आखिरी मंजिलपर ही है, मार्गमें नहीं है। इसी कारण साधककी दृष्टिसे संन्यास-की अपेक्षा कर्मयोगी श्रेष्ठ है।

इसी न्यायसे भगवान्ने आगे बारहवें अध्यायमें निर्गुणकी अपेक्षा सगुणको विशेष माना है। सगुणमें सब इन्द्रियोंके लिए काम है, निर्गुणमें ऐसा नहीं है। निर्गुणमें हाथ बेकार, पाँव बेकार, आँखें बेकार—सब इंद्रियाँ कर्म-शून्य ही रहती हैं। साधकसे यह सब नहीं सध सकता। परंतु सगुणमें ऐसी बात नहीं है। आँखोंसे रूप देख सकते हैं, कानोंसे कीर्तन सुन सकते हैं, हाथसे पूजा कर सकते हैं, लोगोंकी सेवा कर सकते हैं, पाँवसे तीर्थयात्रा हो सकती है—इस तरह सब इन्द्रियोंको काम देकर उनसे वैसा-वैसा काम कराते हुए धीरे-धीरे उन्हें हरिमय बना देना सगुणमें शक्य रहता है। परंतु निर्गुणमें यह सब बंद—जीभ बंद, कान बंद, हाथ-पैर बंद। यह सारा 'बंदी' प्रकार देखकर बेचारा साधक घबरा जाता है! फिर उसके चित्तमें निर्गुण बैठेगा कैसे ? वह यदि खामोश बैठा रहेगा, तो उसके चित्तमें अंट-शंट विचार आने लगेंगे। इन्द्रियोंका यह स्वभाव ही है कि उन्हें कहते हैं कि न करो, तो वे जरूर करेंगी। विज्ञापनोंमें क्या ऐसा नहीं होता ? ऊपर लिखते हैं 'मत पढ़ो।' तो पाठक मनमें कहता है कि यह जो न पढ़नेको लिखा है, तो पहले इसीको पढ़ो न! 'मत पढ़ो' कहना इसी उद्देश्यसे होता है कि पाठक

उसे जरूर पढ़े। मनुष्य अवश्य ही उसे ध्यानपूर्वक पढ़ता है। निर्गुणमें मन भटकता रहेगा। सगुण भक्तिकी बात ऐसी नहीं। वहाँ आरती है, पूजा है, सेवा है, भूत-दया है, इन्द्रियोंके लिए वहा काम है। इन इन्द्रियोंको ठीक काममें लगाकर फिर मनसे कहो—"अब जाओ जहाँ जी चाहे।" परंतु तब मन नहीं जानेका। वहीं रम रहेगा, अनजाने ही एकाग्र हो जायगा। परंतु यदि उसे जान-बूझकर एक स्थानपर बैठाना चाहोगे, तो वह भाग ही छूटेगा। भिन्न-भिन्न इन्द्रियोंको उत्तम, सुन्दर काममें लगा दो, फिर मनको खुशीसे भटकनेके लिए कह दो। वह नहीं भटकेगा। उसे जानेकी बिलकुल छुट्टी दे दो, तो वह कहेगा—"लो, मैं यहीं बैठ गया।" यदि उसे हुक्म दिया कि "चुप बैठो" तो कहेगा "मैं यह चला।"

देहधारी मनुष्यके लिए सुलभताकी दृष्टिसे निर्गुणकी अपेक्षा सगुण श्रेष्ठ है। कर्म करते हुए भी उसे उड़ा देनेकी युक्ति कर्म न करते हुए कर्म करनेकी अपेक्षा श्रेष्ठ है; क्योंकि उसमें सुलभता है। कर्मयोगमें प्रयत्न—अभ्यास—के लिए जगह है। सब इन्द्रियोंको अपने वशमें करके धीरे-धीरे सब उद्योगोंसे मन हटा लेनेका अभ्यास कर्म-योगमें किया जा सकता है। यह युक्ति आज न सधी, तो भी सधने जैसी है। कर्मयोग अनुकरण-सुलभ है, यही संन्यासकी अपेक्षा उसकी विशेषता है, परंतु पूर्णावस्थामें कर्मयोग और संन्यास, दोनों एक ही हैं। पूर्ण संन्यास और पूर्ण कर्मयोग, दोनों एक ही हैं। नाम दो हैं, देखनेमें अलग-अलग हैं, परंतु असलमें दोनों हैं एक ही। एक कारमें कर्मका भूत बाहर नाचता हुआ दिखाई देता है, परंतु भीतर शांति है। दूसरे प्रकारमें कुछ न करते हुए त्रिभुवनको हिला डालनेकी शक्ति है। जो दीख पड़ता है, वह नहीं है—यह दोनोंके स्वरूप हैं। पूर्ण कर्मयोग संन्यास है, तो पूर्ण संन्यास कर्मयोग है। कोई भेद नहीं, परंतु साधकके लिए कर्मयोग सुलभ है। पूर्णावस्थामें दोनों एक ही हैं।

ज्ञानदेवको चांगदेवने एक पत्र भेजा। वह सिर्फ कोरे कागजका पत्र था। चांगदेवसे ज्ञानदेव उम्रमें छोटे थे। 'चिरंजीव' लिखते हैं,

तो ज्ञानदेव ज्ञानमें श्रेष्ठ। 'पूज्य' लिखते हैं, तो उम्रमें कम। तब सिरनामा क्या लिखें? यह कुछ निश्चय नहीं हो पाता था। अतः चांगदेवने कोरा कागज ही भेज दिया। वह पहले निवृत्तिनाथके हाथमें पड़ा। उन्होंने उसे पढ़कर ज्ञानदेवको दे दिया। ज्ञानदेवने पढ़ा और मुक्ताबाईको दे दिया। मुक्ताबाईने पढ़कर कहा—"चांगदेव, इतना बड़ा हो गया है, पर है अभी कोरा-का-कोरा ही।" निवृत्तिनाथ-ने और ही अर्थ पढ़ा था। उन्होंने कहा—"चांगदेव कोरे हैं, शुद्ध हैं, निर्मल हैं, उपदेश देनेके योग्य।" फिर ज्ञानदेवसे पत्रका जवाब देनेके लिए कहा। ज्ञानदेवने ६५ ओवियों* का पत्र भेजा। उसे 'चांगदेव-पासष्टी' कहते हैं। इस पत्रकी ऐसी मनोरंजक कथा है। लिखा हुआ पढ़ना सरल है, परंतु न लिखा हुआ पढ़ना कठिन। उसका पढ़ना कभी समाप्त नहीं होता। इसी तरह संन्यासी रीता-कोरा दिखाई दे, तो भी उसमें अपरंपार कर्म भरा रहता है।

संन्यास और कर्मयोग—पूर्ण रूपमें दोनोंकी कीमत एक-सी है; परन्तु कर्मयोगकी व्यावहारिक कीमत और ज्यादा है। किसी एक नोटकी कीमत पाँच रुपये है। सोनेका सिक्का भी पाँच रुपयेका होता है। जबतक सरकार स्थिर है, तबतक दोनोंकी कीमत एक-सी है, परंतु यदि सरकार बदल गयी, तो फिर व्यवहारमें उस नोटकी कीमत एक पाई भी नहीं रहती। मगर सोनेके सिक्केकी कीमत जरूर कुछ-न-कुछ मिल जायगी; क्योंकि आखिर वह सोना है। पूर्णावस्थामें कर्मत्याग और कर्मयोग, दोनोंकी कीमत एक-सी है; क्योंकि ज्ञान दोनोंमें समान रहता है। ज्ञानकी कीमत अनंत है। अनंतमें कुछ भी मिलाओ, कीमत अनंत ही रहती है, गणितशास्त्रका यह सिद्धान्त है। कर्म-त्याग और कर्मयोग जब परिपूर्ण ज्ञानमें मिल जाते हैं, तो दोनोंकी कीमत बराबर हो जाती है; परंतु ज्ञानको यदि दोनों ओरसे हटा लिया, तो फिर कर्म-त्यागकी अपेक्षा कर्मयोग ही

---

* एक प्रचलित मराठी छन्द।

साधकके लिए श्रेष्ठ सिद्ध होगा। ठोस, शुद्ध ज्ञान दोनों ओर लिया जाय तो कीमत एक-सी है। मंजिलपर पहुँच जानेपर ज्ञान+कर्म= ज्ञान+कर्माभाव। परंतु ज्ञानको दोनों ओरसे घटा दीजिये, तो फिर कर्मके अभावकी अपेक्षा कर्म ही साधककी दृष्टिसे श्रेष्ठ ठहरेगा। न करके करना साधककी समझमें ही नहीं आ सकता। करके न करना वह समझ सकता है। कर्मयोग मार्गमें भी है और मुकामपर भी है; परंतु संन्यास सिर्फ मुकामपर ही है, मार्गमें नहीं। यदि यही बात शास्त्रकी भाषामें कहनी हो, तो कर्मयोग साधन भी है और निष्ठा भी; परंतु संन्यास सिर्फ निष्ठा है। निष्ठाका अर्थ है, अंतिम अवस्था।

रविवार, २०-३-'३२

छठा अध्याय

चित्तवृत्ति-निरोध

(२५) आत्मोद्धारकी आकांक्षा

पाँचवें अध्यायमें हम कल्पना और विचारके द्वारा देख सके कि मनुष्य ऊँची-से-ऊँची उड़ान कहाँतक मार सकता है। कर्म, विकर्म, अकर्म मिलकर सारी साधना पूर्ण होती है। कर्म स्थूल वस्तु है। जो-जो स्वधर्म-कर्म हम करें, उनमें हमारे मनका सहयोग होना चाहिए। मानसिक शिक्षणके लिए जो कर्म किया जाय, वह विकर्म, विशेष कर्म अथवा सूक्ष्म कर्म है। आवश्यकता कर्म और विकर्म, दोनों-की है। इन दोनोंका प्रयोग करते-करते अकर्मकी भूमिका तैयार होती है। हमने पिछले अध्यायमें देख लिया कि इस भूमिकामें कर्म और संन्यास, दोनों एकरूप ही हो जाते हैं। अब छठे अध्यायके आरंभमें फिर कहा है कि कर्मयोगीकी भूमिका संन्यासीकी भूमिकासे अलग दिखाई देनेपर भी अक्षरशः एकरूप है। केवल दृष्टिका अन्तर है। पाँचवें अध्यायमें जिस अवस्थाका वर्णन किया गया है, उसके साधन खोजना, यह बादके अध्यायोंका विषय है।

कई लोगोंकी ऐसी एक भ्रामक कल्पना है कि परमार्थ, गीता आदि ग्रन्थ साधुओंके लिए हैं। एक गृहस्थने कहा—"मैं कोई साधु नहीं हूँ।" इसका अर्थ यह हुआ कि साधु नामके कोई प्राणी हैं, जिनमेंसे वे नहीं हैं। जैसे घोड़े, सिंह, भालू, गाय आदि प्राणी हैं, वैसे ही साधु नामके भी कोई प्राणी हैं और परमार्थकी कल्पना केवल उन्हींके लिए है। शेष जो व्यावहारिक जगत्में रहते हैं, वे मानो किसी और जातिके हैं। उनके विचार अलग, आचार अलग! इस कल्पनाने साधु-संत और व्यावहारिक लोग, ऐसी दो अलग-अलग जातियाँ बना दी हैं। 'गीता-रहस्य' में तिलक महाराजने इस बातकी ओर ध्यान

खींचा है। 'गीता-ग्रन्थ सर्वसाधारण व्यावहारिक लोगोंके लिए है' उनका यह कथन मैं अक्षरशः सही मानता हूँ। भगवद्गीता सारे संसारके लिए है। परमार्थ-विषयक समस्त साधन प्रत्येक व्यावहारिक मनुष्यके लिए है। परमार्थ सिखाता है कि अपना व्यवहार शुद्ध और निर्मल रखकर मनका समाधान और शांति कैसे प्राप्त की जाय? व्यवहार शुद्ध कैसे किया जाय—यह बतानेके लिए गीता है। जहाँ-जहाँ तुम व्यवहार करते हो, वहाँ-वहाँ गीता आती है। परंतु वह आपको वहाँकी वहाँ रखना नहीं चाहती। आपका हाथ पकड़कर वह अंतिम मंजिलतक आपको ले जायगी। एक प्रसिद्ध कहावत है कि 'पर्वत यदि मुहम्मदके पास न आये, तो मुहम्मद पर्वतके पास जायगा।' मुहम्मदको यह चिंता है कि मेरा संदेश जड़ पर्वततक भी पहुँचे। पर्वत जड़ है, इसलिए मुहम्मद उसके आनेकी बाट नहीं जोहता रहेगा। यही बात गीता-ग्रंथकी है। कैसा ही दीन-दुर्बल हो, गँवार हो, गीता उसके पास पहुँच जायगी। परंतु इसलिए नहीं कि उसे जहाँ-का-तहाँ रख दे, बल्कि इसलिए कि उसे हाथ पकड़कर आगे ले जाय, ऊपर उठाये। गीता चाहती है कि मनुष्य अपना व्यवहार शुद्ध करके परमोच्च स्थितिको प्राप्त करे। इसीके लिए गीताका जन्म हुआ है।

अतएव "मैं जड़ हूँ, व्यवहारी हूँ, सांसारिक जीव हूँ"—ऐसा कहकर अपने आस-पास बाड़ मत लगाओ। मत कहो कि "मेरे हाथोंसे क्या होगा? इस साढ़े तीन हाथके शरीरमें ही मेरा सारसर्वस्व है।" ऐसी बंधनोंकी दीवारें अपने आस-पास खड़ी करके पशुवत् व्यवहार मत करो। तुम तो आगे बढ़नेकी—ऊपर चढ़नेकी हिम्मत रखो।

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।

ऐसी हिम्मत रखो कि मैं अपनेको अवश्य ऊपर चढ़ा ले जाऊँगा। यह मानकर कि मैं क्षुद्र सांसारिक जीव हूँ, मनकी शक्तिको मार मत डालो। कल्पनाके पंख काट मत डालो। अपनी कल्पनाको विशाल

बनाओ। चंडूलका उदाहरण अपने सामने रखो। प्रातःकाल सूर्यको देखकर चंडूल कहता है कि मैं सूर्यतक उड़ जाऊँगा। वैसा ही हमें बनना चाहिए। अपने दुर्बल पंखोंसे चंडूल बेचारा कितना ही ऊँचा उड़े, तो भी वह सूर्यतक कैसे पहुँचेगा? परंतु अपनी कल्पना-शक्तिद्वारा वह सूर्यको अवश्य पा सकता है। हमारा आचरण इससे उलटा होता है। हम जितने ऊँचे जा सकते थे, उतने भी न जाकर अपनी कल्पना और भावनाओंपर रुकावटें डालकर अपने-आपको और नीचे गिरा लेते हैं; जो शक्ति प्राप्त है, उसे भी अपनी हीन-भावनासे नष्ट कर लेते हैं। जहाँ कल्पनाके ही पाँव टूट गये, तो फिर नीचे गिरनेके सिवा क्या गति होगी? अतः कल्पनाका रुख हमेशा ऊपरकी ओर होना चाहिए। कल्पनाकी सहायतासे मनुष्य आगे बढ़ता है, अतः कल्पनाको सिकोड़ मत डालो।

> घोपट मार्गा सोडुं नको।
> संसारामधिं ऐस आपुला उगा च भटकत फिरूं नको।

—'स्थूल मार्गको मत छोड़ो। संसारमें पड़े रहो। इधर उधर व्यर्थ भटकते मत फिरो।'

ऐसा रोना मत रोते रहो। आत्माका अपमान मत कर लो। साधकके पास यदि विशाल कल्पना होगी, आत्म-विश्वास होगा, तभी वह टिक सकेगा। इसीसे उद्धार होगा। परंतु धर्म तो साधु-संतोंके लिए ही है, साधु-संतोंके पास गये भी, तो यह प्रशस्ति-पत्र लेनेके लिए कि 'तुम जिस स्थितिमें हो, उसमें यही व्यवहार उचित है' ऐसी कल्पना छोड़ दो। ऐसी भेदात्मक कल्पनाएँ करके अपनेको बंधनमें मत डालो। यदि उच्च आकांक्षा नहीं रखोगे, तो एक पग भी आगे नहीं बढ़ सकोगे।

यह दृष्टि, यह आकांक्षा, यह महान् भावना यदि हो, तब तो साधनोंका जोड़-तोड़ आवश्यक है; नहीं तो फिर सारा किस्सा ही समाप्त। बाह्य कर्मकी सहायताके लिए मानसिक साधनरूपी विकर्म बताया है। कर्मकी सहायताके लिए विकर्म निरंतर चाहिए। इन

दोनोंकी सहायतासे अकर्म नामक जो दिव्य स्थिति प्राप्त होती है, वह और उसके प्रकार पाँचवें अध्यायमें देखे। इस छठे अध्यायसे विकर्मके प्रकार बताये गये हैं। मानसिक साधना बतायी गयी है। इस मानसिक साधनाको समझानेसे पहले गीता कहती है—

"भैया जीव, तुम देव हो सकते हो। तुम यह दिव्य आकांक्षा रखो। मनको मुक्त बनाकर उसके पंखोंको सुदृढ़ बनाओ।" साधनाके—विकर्मके—भिन्न-भिन्न प्रकार हैं। भक्ति-योग, ध्यान, ज्ञान-विज्ञान, गुण-विकास, आत्मानात्म-विवेक आदि नाना प्रकार हैं।

छठे अध्यायमें 'ध्यान-योग' नामक साधन-प्रकार बताया गया है।

(२६) चित्तकी एकाग्रता

ध्यान-योगमें तीन बातें मुख्य हैं—(१) चित्तकी एकाग्रता, (२) चित्तकी एकाग्रताके लिए उपयुक्त जीवनकी परिमितता और (३) साम्यदशा या सम-दृष्टि। इन तीन बातोंके बिना सच्ची साधना नहीं हो सकती। चित्तकी एकाग्रताका अर्थ है, चित्तकी चंचलतापर अंकुश। जीवनकी परिमितताका अर्थ है, सब क्रियाओंका नाप-तौलकर होना। सम-दृष्टिका अर्थ है, विश्वकी ओर देखनेकी उदार दृष्टि। इन तीन बातोंको लेकर ध्यान-योग बन जाता है। इस त्रिविध साधनाके भी साधन हैं। वे हैं अभ्यास और वैराग्य। इन पाँचों बातोंकी थोड़ी-सी चर्चा हम यहाँ करें।

पहले चित्तकी एकाग्रताको लीजिये। प्रत्येक काममें चित्तकी एकाग्रता आवश्यक है। व्यावहारिक बातोंमें भी चित्तकी एकाग्रता चाहिए। यह बात नहीं कि व्यवहारमें अलग गुणोंकी जरूरत है और परमार्थमें अलग। व्यवहारको शुद्ध करनेका ही अर्थ है, परमार्थ। कैसा भी व्यवहार हो, उसका यश और अपयश आपकी एकाग्रतापर अवलंबित है। व्यापार, व्यवहार, शास्त्र-शोधन, राजनीति, कूटनीति किसीको भी ले लीजिये, इनमें जो कुछ यश मिलेगा, वह उन-उन पुरुषोंके चित्तकी एकाग्रताके अनुसार मिलेगा। नेपोलियनके

लिए कहा जाता है कि वह युद्धकी व्यवस्था जहाँ एक बार ठीक-ठीक लगा देता कि फिर समर-भूमिमें गणितके सिद्धांत हल किया करता था। डेरों-तंबुओंपर गोले बरसते, सैनिक मरते, परंतु नेपोलियनका चित्त अपने गणितमें ही मग्न रहता। मैं यह नहीं कहता कि नेपोलियनकी एकाग्रता बहुत बढ़ी हुई थी। उससे भी ऊँचे दर्जेकी एकाग्रताके उदाहरण दिये जा सकेंगे, परंतु एकाग्रता उसके पास कितनी थी, यह देखो। खलीफा उमरकी भी ऐसी ही बात कही जाती है। बीच लड़ाईमें जब नमाजका वक्त हो जाता, तो वह वहीं समरभूमिमें चित्त एकाग्र करके घुटने टेककर नमाज पढ़ने लगता और उसका चित्त इतना एकाग्र हो जाता कि उसे यह होश भी नहीं रहता कि किसके आदमी कट-मर रहे हैं। पहलेके मुसलमानोंकी इस परमेश्वर-निष्ठाके ही कारण, इस एकाग्रताके ही कारण इसलाम-धर्म इतना फैला था।

उस दिन मैंने एक कहानी सुनी। एक फकीर था। उसके शरीरमें तीर चुभ गया। इससे उसे बड़ी वेदना हो रही थी। तीर खींचनेकी चेष्टा करते, तो हाथ लगाते ही वेदना और बढ़ जाती थी। इससे वह तीर भी नहीं खींचा जा सकता था। क्लोरोफार्म जैसी बेहोश करनेकी दवा उस समय थी नहीं। बड़ी समस्या खड़ी हो गयी। कुछ लोग उस फकीरको जानते थे। वे आगे आकर बोले—"तीर अभी मत निकालो। यह फकीर नमाज पढ़ने बैठेगा, तब निकाल लेंगे।" शामकी नमाजका वक्त हुआ। फकीर नमाज पढ़ने लगा। पलभरमें ही उसका चित्त इतना एकाग्र हो गया कि तीर उसके बदनसे निकाल लिया गया, तो भी उसे मालूम नहीं हुआ। कैसी जबर्दस्त है यह एकाग्रता!

सारांश यह कि व्यवहार हो या परमार्थ, चित्तकी एकाग्रताके बिना उसमें सफलता मिलनी कठिन है। यदि चित्त एकाग्र रहेगा, तो फिर सामर्थ्यकी कभी कमी न पड़ेगी। साठ वर्षके बूढ़े होनेपर भी किसी नौजवानकी तरह तुममें उत्साह और सामर्थ्य दीख पड़ेगी। मनुष्य ज्यों-ज्यों बुढ़ापेकी तरफ जाय, त्यों-त्यों उसका मन अधिक मजबूत

होता जाना चाहिए। फलको ही देखिये न ? पहले वह हरा होता है, फिर पकता है, फिर सड़ता है, गलता है और मिट जाता है, परन्तु उसका भीतरका बीज उत्तरोत्तर कड़ा होता जाता है। यह बाहरी शरीर सड़ जायगा, गिर जायगा, परंतु बाहरी शरीर फलका सार-सर्वस्व नहीं है। उसका सार-सर्वस्व, उसकी आत्मा तो है बीज। यही बात शरीरकी है। शरीर भले ही बूढ़ा होता चला जाय, परन्तु स्मरणशक्ति तो बढ़ती ही रहनी चाहिए, बुद्धि तेजस्वी होनी चाहिए। परन्तु ऐसा होता नहीं। मनुष्य कहता है—"आजकल मेरी स्मरण-शक्ति कम हो गयी है।" "क्यों?" "अब बुढ़ापा आ गया है।" तुम्हारा जो ज्ञान, विद्या या स्मृति है, वह तुम्हारा बीज है। शरीर बूढ़ा होने-से ज्यों-ज्यों ढीला पड़ता जाय, त्यों-त्यों आत्मा बलवान् होती जानी चाहिए। यह बिना एकाग्रताके नहीं हो सकता।

(२७) एकाग्रता कैसे साधें ?

अब एकाग्रता तो होनी चाहिए, पर वह हो कैसे? उसके लिए क्या करना चाहिए? भगवान् कहते हैं, आत्मामें मनको स्थिर करके न किंचिदपि चिन्तयेत्—दूसरा कुछ भी चिन्तन न करे।

परन्तु यह सधे कैसे? मनको बिलकुल शांत करना बड़े महत्त्वकी बात है। विचारोंके चक्रको जोरसे रोके बिना एकाग्रता होगी कैसे? बाहरी चक्र तो किसी तरह रोक भी लिया जाय, परंतु भीतरी चक्र तो चलता ही रहता है। चित्तकी एकाग्रताके लिए ये बाहरी साधन जैसे-जैसे काममें लाते हैं, वैसे-वैसे भीतरके चक्र अधिक वेगसे चलने लगते हैं। आप आसन जमाकर तनकर बैठ जाइये, आँखें स्थिर कर लीजिये। परन्तु इतनेसे मन एकाग्र नहीं हो सकेगा। मुख्य बात यह है कि मनका चक्र बंद करना सधना चाहिए।

बात यह है कि बाहरका यह अपरंपार संसार, जो हमारे मनमें भरा रहता है, उसको बंद किये बिना एकाग्रता अशक्य है। अपने आत्माकी अपार ज्ञान-शक्ति हम बाह्य क्षुद्र वस्तुओंमें खर्च कर डालते

लिए कहा जाता है कि वह युद्धकी व्यवस्था जहाँ एक बार ठीक-ठीक लगा देता कि फिर समर-भूमिमें गणितके सिद्धांत हल किया करता था। डेरों-तंबुओंपर गोले बरसते, सैनिक मरते, परंतु नेपोलियनका चित्त अपने गणितमें ही मग्न रहता। मैं यह नहीं कहता कि नेपोलियनकी एकाग्रता बहुत बढ़ी हुई थी। उससे भी ऊँचे दर्जेकी एकाग्रताके उदाहरण दिये जा सकेंगे, परंतु एकाग्रता उसके पास कितनी थी, यह देखो। खलीफा उमरकी भी ऐसी ही बात कही जाती है। बीच लड़ाईमें जब नमाजका वक्त हो जाता, तो वह वहीं समरभूमिमें चित्त एकाग्र करके घुटने टेककर नमाज पढ़ने लगता और उसका चित्त इतना एकाग्र हो जाता कि उसे यह होश भी नहीं रहता कि किसके आदमी कट-मर रहे हैं। पहलेके मुसलमानोंकी इस परमेश्वर-निष्ठाके ही कारण, इस एकाग्रताके ही कारण इसलाम-धर्म इतना फैला था।

उस दिन मैंने एक कहानी सुनी। एक फकीर था। उसके शरीरमें तीर चुभ गया। इससे उसे बड़ी वेदना हो रही थी। तीर खींचनेकी चेष्टा करते, तो हाथ लगाते ही वेदना और बढ़ जाती थी। इससे वह तीर भी नहीं खींचा जा सकता था। क्लोरोफार्म जैसी बेहोश करनेकी दवा उस समय थी नहीं। बड़ी समस्या खड़ी हो गयी। कुछ लोग उस फकीरको जानते थे। वे आगे आकर बोले—"तीर अभी मत निकालो। यह फकीर नमाज पढ़ने बैठेगा, तब निकाल लेंगे।" शामकी नमाजका वक्त हुआ। फकीर नमाज पढ़ने लगा। पलभरमें ही उसका चित्त इतना एकाग्र हो गया कि तीर उसके बदनसे निकाल लिया गया, तो भी उसे मालूम नहीं हुआ। कैसी जबर्दस्त है यह एकाग्रता!

सारांश यह कि व्यवहार हो या परमार्थ, चित्तकी एकाग्रताके बिना उसमें सफलता मिलनी कठिन है। यदि चित्त एकाग्र रहेगा, तो फिर सामर्थ्यकी कभी कमी न पड़ेगी। साठ वर्षके बूढ़े होनेपर भी किसी नौजवानकी तरह तुममें उत्साह और सामर्थ्य दीख पड़ेगी। मनुष्य ज्यों-ज्यों बुढ़ापेकी तरफ जाय, त्यों-त्यों उसका मन अधिक मजबूत

होता जाना चाहिए। फलको ही देखिये न? पहले वह हरा होता है, फिर पकता है, फिर सड़ता है, गलता है और मिट जाता है, परन्तु उसका भीतरका बीज उत्तरोत्तर कड़ा होता जाता है। यह बाहरी शरीर सड़ जायगा, गिर जायगा, परंतु बाहरी शरीर फलका सार-सर्वस्व नहीं है। उसका सार-सर्वस्व, उसकी आत्मा तो है बीज। यही बात शरीरकी है। शरीर भले ही बूढ़ा होता चला जाय, परन्तु स्मरणशक्ति तो बढ़ती ही रहनी चाहिए, बुद्धि तेजस्वी होनी चाहिए। परन्तु ऐसा होता नहीं। मनुष्य कहता है—"आजकल मेरी स्मरण-शक्ति कम हो गयी है।" "क्यों?" "अब बुढ़ापा आ गया है।" तुम्हारा जो ज्ञान, विद्या या स्मृति है, वह तुम्हारा बीज है। शरीर बूढ़ा होने-से ज्यों-ज्यों ढीला पड़ता जाय, त्यों-त्यों आत्मा बलवान् होती जानी चाहिए। यह बिना एकाग्रताके नहीं हो सकता।

(२७) एकाग्रता कैसे साधें ?

अब एकाग्रता तो होनी चाहिए, पर वह हो कैसे? उसके लिए क्या करना चाहिए? भगवान् कहते हैं, आत्मामें मनको स्थिर करके न किंचिदपि चिन्तयेत्—दूसरा कुछ भी चिन्तन न करे।

परन्तु यह सधे कैसे? मनको बिलकुल शांत करना बड़े महत्त्वकी बात है। विचारोंके चक्रको जोरसे रोके बिना एकाग्रता होगी कैसे? बाहरी चक्र तो किसी तरह रोक भी लिया जाय, परंतु भीतरी चक्र तो चलता ही रहता है। चित्तकी एकाग्रताके लिए ये बाहरी साधन जैसे-जैसे काममें लाते हैं, वैसे-वैसे भीतरके चक्र अधिक वेगसे चलने लगते हैं। आप आसन जमाकर तनकर बैठ जाइये, आँखें स्थिर कर लीजिये। परन्तु इतनेसे मन एकाग्र नहीं हो सकेगा। मुख्य बात यह है कि मनका चक्र बंद करना सधना चाहिए।

बात यह है कि बाहरका यह अपरंपार संसार, जो हमारे मनमें भरा रहता है, उसको बंद किये बिना एकाग्रता अशक्य है। अपने आत्माकी अपार ज्ञान-शक्ति हम बाह्य क्षुद्र वस्तुओंमें खर्च कर डालने

हैं, लेकिन ऐसा नहीं होना चाहिए। जिस तरह दूसरेको न लूटते हुए स्वयं अपने प्रयत्नसे धनी हो जानेवाला पुरुष आवश्यकताके बिना खर्च नहीं करता, उसी तरह हमें भी अपने आत्माकी ज्ञान-शक्ति क्षुद्र बातोंके चिंतनमें खर्च नहीं करनी चाहिए। यह ज्ञान-शक्ति हमारी अमूल्य थाती है, परंतु हम उसे स्थूल विषयोंमें खर्च कर डालते हैं। यह साग अच्छा नहीं बना, इसमें नमक कम पड़ा। अरे भाई, कितनी रत्ती नमक कम पड़ा? नमक तनिक-सा कम पड़ा, इस महान् विचारमें ही हमारा ज्ञान खर्च हो जाता है! बच्चोंको पाठशालाकी चहारदीवारी-के अंदर ही पढ़ाते हैं, क्योंकि कहते हैं कि यदि पेड़के नीचे पढ़ायेंगे, तो कौए, कोयल और चिड़ियाँ देखकर उनका मन एकाग्र नहीं होगा। बच्चे ही जो ठहरे! कौए, चिड़ियाँ नहीं दिखाई दीं, तो हो गयी एकाग्रता! परंतु अब हम हो गये हैं घोड़ेके बराबर। हमारे अब सींग निकल आये हैं। यदि हमें सात-सात दीवारोंके अंदर भी किसीने बंद कर दिया, तो भी हमारे मनकी एकाग्रता नहीं हो सकती; क्योंकि दुनिया-की छोटी-से-छोटी बातोंकी चर्चा हमें करनी है। जो ज्ञान परमेश्वरकी प्राप्ति करा सकता है, उसे हम साग-सब्जीके जायकेकी चर्चा करनेमें ही खो देते हैं और उसमें कृतार्थता मानते हैं।

दिन-रात ऐसा यह भयानक संसार हमारे चारों ओर, भीतर-बाहर, धू-धू करता रहता है। प्रार्थना अथवा भजन करनेमें भी हमारा हेतु बाहरी ही रहता है। परमेश्वरसे तन्मय होकर एक क्षणके लिए भी संसारको भुलानेकी भावना ही नहीं रहती। प्रार्थना भी एक दिखावा है। ऐसी जहाँ मनकी स्थिति है, वहाँ आसन जमाकर बैठना और आँख मूँदना सब व्यर्थ है। मनकी दौड़ निरंतर बाहर ही होते रहनेसे मनुष्यकी सारी सामर्थ्य नष्ट हो जाती है। किसी भी प्रकारकी व्यवस्था, नियंत्रण-शक्ति मनुष्यमें नहीं रहती। इसका अनुभव आज हमारे देशमें पग-पगपर हो रहा है। वास्तवमें भारतवर्ष तो परमार्थ-भूमि है। यहाँके लोग पहले ही ऊँची हवामें उड़नेवाले समझे जाते हैं। पर ऐसे देशमें हमारी-आपकी क्या दशा है? छोटी-छोटी बातोंकी

इतनी चिंताके साथ चर्चा और पिष्टपेषण करते हैं कि जिसे देखकर दुःख होता है। क्षुद्र विषयोंमें ही हमारा चित्त डूबा रहता है।

कथा पुराण ऐकतां। झोपें नाडिलें तत्त्वतां
खाटेवरी पडतां। व्यापी चिंता तळमळ
ऐसी गहन कर्मगति। काय तयासी रडती॥

—'कथा पुराण-श्रवणमें वस्तुतः निद्रा सताती है और बिस्तरपर लेटनेसे चिन्ता व्याकुल करती रहती है। कर्मकी ऐसी गहन गति है। उसपर रोनेसे क्या लाभ?'

कथा-पुराण सुननेके लिए जाते हैं, वहाँ नींद आ घेरती है और नींद लेने जाते हैं, तो वहाँ चिंता और विचार-चक्र शुरू हो जाता है। एक ओर शून्याग्रता, तो दूसरी ओर अनेकाग्रता। एकाग्रताका कहीं पता नहीं। इतना यह मनुष्य इंद्रियोंका गुलाम है। एक बार किसीने पूछा—"आँखें अधमुँदी रखनी चाहिए, ऐसा क्यों कहा गया है?" मैंने कहा—"सरल ही उत्तर देता हूँ। आँखें बिलकुल मूँद लें, तो नींद लग जाती है। खुली रखें, तो चारों ओर दृष्टि जाकर एकाग्रता नहीं होती। आँखें मूँदनेसे नींद लग जाती है, यह तमोगुण हुआ। खुली रखनेसे दृष्टि सब जगह जाती है, यह रजोगुण हुआ। इसलिए बीचकी स्थिति कही है।"

तात्पर्य यह है कि मनकी स्थिति बदले बिना एकाग्रता नहीं हो सकती। मनकी स्थिति शुद्ध होनी चाहिए। केवल आसन जमाकर बैठनेसे वह नहीं प्राप्त हो सकती। इसके लिए हमारे सब व्यवहार शुद्ध होने चाहिए। व्यवहार शुद्ध करनेके लिए उसका उद्देश्य बदलना चाहिए। व्यवहार व्यक्तिगत लाभके लिए, वासनातृप्तिके लिए अथवा बाहरी बातोंके लिए नहीं करना चाहिए।

व्यवहार तो हम दिनभर करते रहते हैं। आखिर दिनभरकी इस उधेड़बुनका हेतु क्या है?

याजसाठीं केला होता अट्टहास
शेंवटचा दीस गोड व्हावा ॥

—'यह सारा परिश्रम इसीलिए तो है कि अन्तकी घड़ी मीठी हो।

सारी उधेड़बुन, सारी दौड़-धूप इसीलिए न कि हमारा अंतिम दिवस मधुर हो जाय? जिन्दगीभर कड़ुआ विष क्यों पचाते हैं? इसीलिए कि अंतिम घड़ी, वह मरण पवित्र हो जाय। दिनकी अंतिम घड़ी शामको आती है। आजके दिनका सारा काम यदि पवित्र भावसे किया जाय, तो रातकी प्रार्थना मधुर होगी। वह दिनका अंतिम क्षण यदि मधुर हो गया, तो दिनका सारा काम सफल समझो। तब मेरा मन एकाग्र हो जायगा।

एकाग्रताके लिए ऐसी जीवन-शुद्धि आवश्यक है। बाह्य वस्तुओंका चिंतन छूटना चाहिए। मनुष्यकी आयु बहुत नहीं है, परंतु इस थोड़ी-सी आयुमें भी परमेश्वरीय सुखका स्वाद लेनेकी सामर्थ्य है। दो मनुष्य बिलकुल एक ही साँचेमें ढले, एक-सी छाप लगे हुए। दो आँखें, उनके बीच एक नाक और उस नाकमें दो नासा-पुट। इस तरह बिलकुल एक-से होकर भी एक मनुष्य देव-तुल्य होता है, तो दूसरा पशु-तुल्य। ऐसा क्यों होता है? एक ही परमेश्वरके बाल-बच्चे

अवघी एकाची च वीण।

'सब एक ही खानिके।'

हैं, तो फिर यह फर्क क्यों पड़ता है? इन दो व्यक्तियोंकी जाति एक है, ऐसा विश्वास नहीं होता। एक नरका नारायण है, तो दूसरा नरका वानर!

मनुष्य कितना ऊँचा उठ सकता है, इसका नमूना दिखानेवाले लोग पहले भी हो गये हैं और आज भी हमारे बीच हैं। यह अनुभवकी बात है। इस नर-देहमें कितनी शक्ति है, इसको दिखानेवाले संत पहले हो गये हैं और आज भी हैं। इस देहमें रहकर यदि मनुष्य ऐसी अद्भुत करनी कर सकता है, तो फिर भला मैं क्यों न कर सकूँगा? मैं

अपनी कल्पनाको मर्यादामें क्यों बाँध लूँ? जिस नर-देहमें रहकर दूसरे नर-वीर हो गये, वही नर-देह मुझे भी मिली है, फिर मेरी ऐसी दशा क्यों? कहीं-न-कहीं मुझसे भूल हो रही है। मेरा यह चित्त सदैव बाहर जाता रहता है। दूसरेके गुण-दोष देखनेमें वह बहुत वाहियात हो गया है। परन्तु मुझे दूसरेके गुण-दोष देखनेकी जरूरत क्या है?

कासया गुणदोष पाहूं आणिकांचे।
मज काय त्यांचें उणें असे॥

—'दूसरोंके गुण-दोष क्या देखूँ! मुझमें क्या उनकी कमी है?'

खुद मुझमें क्या दोष कम हैं! यदि मैं सदैव दूसरोंकी छोटी-छोटी बातें देखनेमें ही तल्लीन रहा, तो फिर मेरे चित्तकी एकाग्रता सधेगी कैसे? उस दशामें मेरी स्थिति दो ही प्रकारकी हो सकती है—एक तो शून्य-अवस्था अर्थात् नींद और दूसरी अनेकाग्रता। तमोगुण और रजोगुणमें ही मैं उलझता रहूँगा।

भगवान्‌ने यह अवश्य कहा है कि चित्तकी एकाग्रताके लिए इस तरह बैठो, इस तरह आँखें रखो, इस तरह आसन जमाओ आदि; परन्तु इन सबसे लाभ तभी होगा, जब पहले चित्तकी एकाग्रताके हम कायल हों। मनुष्यके चित्तमें पहले यह जम जाय कि चित्तकी एकाग्रता आवश्यक है, फिर तो मनुष्य स्वतः ही उसकी साधना और मार्ग ढूँढ़ निकालेगा।

(२८) जीवनकी परिमितता

चित्तकी एकाग्रतामें सहायक दूसरी बात है, जीवनकी परिमितता। हमारा सब काम नपा-तुला होना चाहिए। गणित-शास्त्रका यह रहस्य हमारी सब क्रियाओंमें आ जाना चाहिए। औषध जैसे नाप-तौलकर ली जाती है, वैसे ही आहार-निद्रा भी नपी-तुली होनी चाहिए। सब जगह नाप-तौल चाहिए। प्रत्येक इन्द्रियपर पहरा बैठाना चाहिए। मैं ज्यादा तो नहीं खाता, अधिक तो नहीं सोता, जरूरतसे ज्यादा तो नहीं देखता—ऐसा ध्यान बारीकीसे निरन्तर रखना चाहिए।

एक साहब किसी व्यक्तिके बारेमें कह रहे थे कि वे किसीके कमरेमें जाते, तो एक मिनटमें उनकी निगाहमें आ जाता था कि उसमें कहाँ क्या रखा है ? मैंने मनमें कहा—"भगवन्, यह महिमा मुझे न प्राप्त हो।" क्या मैं उसका मंत्री हूँ, जो पाँच-पचास चीजोंकी सूची मनमें रखूँ ? या मुझे चोरी करनी है? साबुन यहाँ था, घड़ी वहाँ थी, इससे मुझे क्या करना है ? इस ज्ञानकी मुझे क्या जरूरत ? आँखोंकी यह फजूलियात मुझे छोड़ देनी चाहिए। यही बात कानकी है। कानपर भी पहरा रखो। कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि यदि कुत्तोंकी तरह हमारे कान होते, तो कितना अच्छा होता! जिधर चाहते, उधर एक क्षणमें उन्हें हिलाया करते। मनुष्यके कानमें परमात्माने यह कसर ही रख दी। परन्तु कानकी यह वाहियात शक्ति हमें नहीं चाहिए। वैसे ही यह मन भी बहुत जबर्दस्त है। जरा कहीं खटका हुआ, आहट हुई कि गया उधर ध्यान। अतः जीवनमें नियमन और परिमितता लाओ। खराब चीज न देखें। खराब किताब न पढ़ें। निन्दास्तुति न सुनें। सदोष वस्तु तो दूर, निर्दोष वस्तुओंका भी जरूरतसे ज्यादा सेवन न करें। लोलुपता किसी भी प्रकारकी न होनी चाहिए। शराब, पकौड़ी, रसगुल्ले तो होने ही नहीं चाहिए, परंतु संतरे, केले, मोसम्वी भी बहुत नहीं चाहिए। फल-आहार यों शुद्ध आहार है, परन्तु वह भी अनाप-शनाप नहीं होना चाहिए। जीभका स्वेच्छाचार भीतरी मालिकको सहन न होना चाहिए। इन्द्रियोंपर धाक रहनी चाहिए कि यदि हम ऊट-पटाँग करेंगे, तो भीतरका मालिक हमें जरूर सजा देगा। नियमित आचरणको ही जीवनकी परिमितता कहते हैं।

(२९) मंगल-दृष्टि

तीसरी बात है, समदृष्टि होना। समदृष्टिका अर्थ ही है—शुभ-दृष्टि। शुभदृष्टि प्राप्त हुए बिना चित्त एकाग्र नहीं हो सकता। सिंह इतना बड़ा वनराज है, परंतु चार कदम चलकर पीछे देखता है। हिंसक सिंहको एकाग्रता कैसे प्राप्त होगी ? शेर, कौए, बिल्ली, इनकी

आँखें हमेशा फिरती रहती हैं। उनकी निगाह चौकन्नी, घबरायी हुई होती है। हिंस्र प्राणियोंका ऐसा ही हाल रहेगा। साम्य-दृष्टि आनी चाहिए। यह सारी सृष्टि मंगलमय मालूम होनी चाहिए। जैसे मुझे खुद अपनेपर विश्वास है, वैसा ही सारी सृष्टिपर मेरा विश्वास होना चाहिए। यहाँ डरनेकी बात ही क्याँ है? सब कुछ शुद्ध और पवित्र है।

विश्वं तद् भद्रं यदवन्ति देवाः।

यह विश्व मंगलमय है, क्योंकि परमेश्वर उसकी देखभाल करता है। अंग्रेज-कवि ब्राउनिंगने भी ऐसा ही कहा है—

"ईश्वर आकाशमें विराजमान है और संसार सब ठीक तरहसे चल रहा है।"

संसारमें कुछ भी बिगाड़ नहीं है। अगर बिगाड़ कहीं है, तो वह है मेरी दृष्टिमें। जैसी मेरी दृष्टि, वैसी यह सृष्टि। यदि मैं लाल रंगका चश्मा चढ़ा लूँगा, तो सारी सृष्टि लाल-ही-लाल दिखाई देगी, जलती हुई दिखाई देगी।

रामदास रामायण लिखते जाते और शिष्योंको पढ़कर सुनाते जाते थे। हनुमान् भी गुप्त रूपसे उसे सुननेके लिए आकर बैठते थे। समर्थ रामदासने लिखा था—"हनुमान् अशोक-वनमें गये। वहाँ उन्होंने सफेद फूल देखे।" यह सुनते ही वहाँ झटसे हनुमान् प्रकट हो गये और बोले—"मैंने सफेद फूल नहीं देखे, लाल देखे थे। तुमने गलत लिखा है। उसे सुधार लो।" समर्थने कहा—"मैंने ठीक लिखा है। तुमने सफेद ही फूल देखे थे।" हनुमान्ने कहा—"मैं स्वतः वहाँ गया था और मैं ही झूठा?" अंतमें झगड़ा रामचन्द्रजीके पास गया। उन्होंने कहा—"फूल तो सफेद ही थे; परन्तु हनुमान्की आँखें क्रोधसे लाल हो रही थीं, इसलिए वे शुभ्र फूल उन्हें लाल दिखाई दिये।" इस मधुर कथाका आशय यही है कि संसारकी ओर देखनेकी जैसी हमारी दृष्टि होगी, संसार भी हमें वैसा ही दिखाई देगा।

यदि हमारे मनको इस बातका निश्चय न हो कि यह सृष्टि शुभ है, तो चित्तकी एकाग्रता नहीं हो सकती। जबतक मैं यह समझता

रहूँगा कि सृष्टि बिगड़ी हुई है, तबतक मैं सशंक दृष्टिसे चारों ओर देखता रहूँगा। कवि पक्षियोंकी स्वतंत्रताके गीत गाते हैं। उनसे कहना चाहिए कि जरा एक बार पक्षी होकर देखो तो। फिर उनकी आजादीकी सही कीमत मालूम हो जायगी। पक्षियोंकी गर्दन बराबर आगे-पीछे एक-सी नाचती रहती है। उन्हें सतत दूसरोंका भय लगा रहता है। चिड़ियाको आसनपर ला बिठाओ। क्या वह एकाग्र हो जायगी? मेरे जरा निकट जाते ही वह फुर्रसे उड़ जायगी। वह डरेगी कि कहीं यह मुझे मारने तो नहीं आ रहा है? जिनके दिमागमें ऐसी भयानक कल्पना है कि यह सारी दुनिया भक्षक है—संहारक है, उन्हें शांति कहाँ? जबतक यह खयाल दिमागसे न निकलेगा कि अपना रक्षक मैं अकेला ही हूँ, बाकी सब भक्षक हैं, तबतक एकाग्रता नहीं सध सकती। समदृष्टिकी भावना करना ही उसका उत्तम मार्ग है। आप सर्वत्र मांगल्य देखने लग जाइये, चित्त अपने आप शान्त हो जायगा।

किसी दुःखी मनुष्यको कल-कल बहनेवाली नदीके किनारे ले जाइये। उसके स्वच्छ-शांत प्रवाहको देखकर उसकी बेचैनी कम हो जायगी। वह अपना दुःख भूल जायगा। उस झरनेमें, उस प्रवाहमें इतनी शक्ति कहाँसे आ गयी? परमेश्वरकी शुभ शक्ति उससे प्रकट हुई है। वेदोंमें झरनोंका बड़ा ही सुन्दर वर्णन है—

अतिष्ठन्तीनाम् अनिवेशनानाम्।

ऐसे ये झरने हैं। झरना अखंड बहता है, उसका अपना कोई घर-बार नहीं, वह संन्यासी है। ऐसा पवित्र झरना एक क्षणमें मेरे मनको एकाग्र बना देता है। ऐसे सुन्दर झरनेको देखकर प्रेमका, ज्ञानका स्रोत मेरे मनमें क्यों न उमड़ पड़े?

यह बाहरका जड़ पानी भी यदि मेरे मनको इतनी शांति प्रदान कर सकता है, तो फिर मेरी मानस-दरीमें यदि भक्ति और ज्ञानका चिन्मय झरना बहने लगे, तो मेरे मनको कितनी शांति प्राप्त होगी!

मेरे एक मित्र हिमालयमें—काश्मीरमें—घूम रहे थे। वहाँके पवित्र पर्वतोंके, सुन्दर जल-प्रवाहोंके वर्णन लिख-लिखकर मुझे भेजते थे। मैंने उन्हें उत्तर दिया कि जो जल-स्रोत, जो पर्वत-माला, जो शुभ समीर तुम्हें अनुपम आनंद देते हैं, उन सबका अनुभव मुझे अपने हृदयमें हो सकता है। अपनी अंतःसृष्टिमें मैं नित्य उन सब रमणीय दृश्योंको देखता हूँ। अतः तुम्हारे बुलानेपर भी मैं अपने हृदयके इस भव्य-दिव्य हिमालयको छोड़कर नहीं आऊँगा।

स्थावराणां हिमालयः।

स्थिरताकी मूर्तिके रूपमें जिस हिमालयकी उपासना स्थिरता लानेके लिए करनी है, उसका वर्णन सुनकर यदि मैंने अपना कर्तव्य छोड़ दिया, तो उससे क्या लाभ ?

सारांश, चित्तको जरा शांत कीजिये। चित्तको मंगल-दृष्टिसे देखिये, तो फिर आपके हृदयमें अनंत झरने बहने लगेंगे। कल्पनाओंके दिव्य तारे हृदयाकाशमें चमकने लगेंगे। पत्थर और मिट्टीकी शुभ वस्तु देखकर यदि चित्त शांत हो जाता है, तो फिर अंतःसृष्टिके दृश्य देखकर क्यों न होगा ? एक बार मैं त्रावणकोर गया था। एक दिन समुद्र-किनारे बैठा था। वह अपार समुद्र, उसकी घू-घू गर्जना, सायं-कालका समय, मैं स्तब्ध, निश्चेष्ट बैठा था। मेरे मित्रने वहीं समुद्र-किनारे कुछ फल वगैरा खानेके लिए ला दिये। उस समय वह सात्त्विक आहार भी मुझे विषकी तरह लगा। समुद्रकी वह ॐ-ॐ गर्जना मुझे मामनुस्मर युद्ध्य च—इस गीता-वचनकी याद दिला रही थी। समुद्र सतत स्मरण कर रहा था और कर्म भी कर रहा था। एक लहर आयी, वह गयी और दूसरी आयी। उसे एक क्षणके लिए विश्रांति नहीं। यह दृश्य देखकर मेरी भूख-प्यास उड़ गयी थी। आखिर उस समुद्रमें ऐसा क्या था ? उस खारे पानीकी लहरोंको उछलते हुए देखकर यदि मेरा हृदय उछलने लगता है, तो फिर ज्ञान और प्रेमके अथाह सागरके हृदयमें हिलोरें मारनेपर मैं कैसा नाच उठूँगा ! वैदिक ऋषिके हृदयमें ऐसा ही समुद्र हिलोरें मारता था—

अंतःसमुद्रे हृदि अंतरायुषि
घृतस्य धारा अभिचाकशीमि
समुद्रादूर्मिर्मधुमानुदारत् ।

इस दिव्य भाषापर भाष्य लिखते हुए बेचारे भाष्यकारोंकी भी फजीहत होनेकी नौबत आ गयी। कैसी वह घृतकी धारा ? कैसी वह मधुकी धारा ? क्या मेरे अंतःसमुद्रमें खारी लहरें उठेंगी ? नहीं, नहीं। मेरे हृदयमें तो दूध, मधु और घीकी लहरें हिलोरें मार रही हैं।

(३०) बालक गुरु

हृदयके इस समुद्रको निहारना सीखो। बाहरके निरभ्र नील आकाशको देखकर चित्तको भी निर्मल और निर्लेप बनाओ। सच पूछो, तो चित्तकी एकाग्रता एक खेल है, मामूली बात है। चित्तकी व्यग्रता ही अस्वाभाविक और अनैसर्गिक है। छोटे बच्चोंकी आँखोंकी ओर एकटक होकर देखो। छोटा बच्चा टकटकी लगाकर देखता है, लेकिन तुम दस बार पलक गिराओगे। बच्चोंका मन तुरंत एकाग्र हो जाता है। चार-पाँच महीनेके बच्चेको बाहरकी हरी-भरी सृष्टि दिखलाओ। वह एक-सा देखता रहेगा। स्त्रियोंकी तो ऐसी मान्यता है कि बाहरकी हरियालीको देखकर उसकी विष्ठा भी हरे रंगकी हो जाती है। मानो सब इंद्रियोंकी आँखें बनाकर वह देखता है। छोटे बच्चेके मनपर किसी भी घटनाका बड़ा प्रभाव पड़ता है। शिक्षाशास्त्री कहते हैं—"शुरूके दो-चार सालोंमें जो शिक्षा बालकोंको मिल जाती है, वही वास्तविक शिक्षा है।" आप कितने ही विद्यापीठ, पाठशाला, संघ कायम कीजिये, शुरूमें जो शिक्षा मिली है, वह फिर कभी नहीं मिल सकती। शिक्षा-विषयसे मेरा संबंध है। दिन-दिन मुझे यह निश्चय होता जा रहा है कि इस बाहरी शिक्षाका परिणाम शून्यवत् है। आरंभिक संस्कार वज्रलेप हो जाते हैं। बादके शिक्षणको बाहरी रंग, ऊपरी झिल्ली समझो। साबुन लगानेसे ऊपरका दाग, मैल निकल

जाता है, परंतु चमड़ीका काला रंग कैसे चला जायगा ? इसी तरह शुरूमें जो संस्कार पड़ जाता है, उसका मिटना कठिन हो जाता है।

तो ये शुरूके संस्कार बलवान् क्यों ? बादके संस्कार कमजोर क्यों ? इसलिए कि बचपनमें चित्तकी एकाग्रता नैसर्गिक रहती है। एकाग्रता होनेके कारण जो संस्कार पड़ते हैं, वे फिर नहीं मिटते। चित्तकी एकाग्रताकी ऐसी महिमा है। जिसे यह एकाग्रता प्राप्त हो गयी, उसके लिए क्या अशक्य है ?

हमारा सारा जीवन आज कृत्रिम हो गया है। हमारी बालवृत्ति मर गयी है, नष्ट हो गयी है। जीवनमें वास्तविक सरसता नहीं। वह शुष्क हो गया है। हम ऊट-पटाँग, जैसे-तैसे चल रहे हैं। डार्विन साहब नहीं, बल्कि हम खुद अपनी कृतिसे यह सिद्ध कर रहे हैं कि मनुष्यके पूर्वज बंदर थे।

छोटे बच्चोंमें विश्वास होता है। माँ जो कहे, वह उनके लिए प्रमाण। जो कहानियाँ उनसे कही जाती हैं, वे उन्हें असत्य नहीं मालूम होतीं। कौआ बोला, चिड़िया बोली, यह सब उन्हें सच मालूम होता है। बच्चोंकी इस मंगल-वृत्तिके कारण उनकी एकाग्रता जल्दी हो जाती है।

(२१) अभ्यास, वैराग्य और श्रद्धा

तात्पर्य यह कि ध्यानयोगके लिए चित्तकी एकाग्रता, जीवनकी परिमितता और शुभ साम्य-दृष्टिकी जरूरत है। इसके सिवा और भी दो साधन बताये जाते हैं—वैराग्य और अभ्यास। एक है विध्वंसक और दूसरा है विधायक। खेतसे घास उखाड़कर फेंकना विध्वंसक काम हुआ। इसीको वैराग्य कहते हैं। उसमें बीज बोना विधायक काम है। मनमें सद्विचारोंका पुनः-पुनः चिंतन करना अभ्यास कहलाता है। वैराग्य विध्वंसक क्रिया है, अभ्यास विधायक क्रिया। अब वैराग्य आये कैसे ? हम कहते हैं—आम मीठा है, परंतु क्या यह मिठास निरे आममें है ? नहीं, निरे आममें नहीं है। हम अपनी

आत्माकी मिठास वस्तुमें डालते हैं और फिर वह वस्तु मीठी लगती है। अतः भीतरी मिठासको चखना सीखो। केवल बाह्य वस्तुमें मधुरता नहीं है, बल्कि वह रसानां रसतमः माधुर्य-सागर आत्मा मेरे निकट है, उसीकी बदौलत मीठी वस्तुओंको मिठास मिली है, ऐसी भावना करते रहनेसे मनमें वैराग्यका संचार होता है। सीता माताने हनुमान्‌को मोतियोंका हार इनाममें दिया। हनुमान मोतियों-को चबाता, देखता और फेंक देता। उनमें उसे कहीं 'राम' दिखाई नहीं देता था। राम तो था उसके हृदयमें। उन्हीं मोतियोंके लिए लोग लाख रुपये भी दे देते!

इस ध्यान-योगका वर्णन करते हुए भगवान्‌ने एक बहुत ही महत्त्व-की बात शुरूमें ही बता दी है। वह यह कि मनुष्यको ऐसा दृढ़ संकल्प करना चाहिए कि 'मुझे स्वतः अपना उद्धार करना है। मैं आगे बढ़ूँगा। मैं ऊँची उड़ान मारूँगा। इस नर-देहमें मैं ज्यों-का-त्यों पड़ा नहीं रहूँगा। परमेश्वरके पास जानेका हिम्मतके साथ प्रयत्न करूँगा।'

यह सब सुनते-सुनते अर्जुनके मनमें शंका उठी कि "भगवन्, अब तो हमारी उम्र बीत गयी। कुछ दिनोंमें हम मर जायँगे, तो फिर यह साधना किस काम आयेगी?" भगवान्‌ने कहा—"मृत्युका अर्थ तो है लंबी नींद।" रोज काम करके हम सात-आठ घंटे सोते हैं। इस नींदसे कोई डरता है? बल्कि नींद न आये, तो फिक्र पड़ जाती है। जैसे नींद जरूरी, वैसे ही मौत भी जरूरी है। जैसे नींदसे उठ-कर फिर हम अपना काम प्रारंभ कर देते हैं, वैसे ही मरणके बाद भी पहलेकी यह सारी साधना हमारे काम आ जायगी। ज्ञानदेवने 'ज्ञानेश्वरी' में इस प्रसंगपर लिखी ओवियोंमें मानो अपना आत्मचरित ही लिख दिया हो—

"बाळपणीं च सर्वज्ञता। वरी तयातें।"
"सकळ शास्त्रें स्वयंमें। निघती मुखें।"

—'शैशवमें ही उन्हें सर्वज्ञता वरण करती है।' सारे शास्त्र स्वयं ही मुखसे फूटते हैं।'

ऐसे पदोंमें यही दिखाई देता है। पूर्व-जन्मका अभ्यास तुम्हें खींच लेता है। किसी-किसीका चित्त विषयोंकी ओर जाता ही नहीं। वह जानता ही नहीं कि मोह कैसा होता है; क्योंकि पूर्व-जन्ममें वह उनकी साधना कर चुका है।

न हि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति ।

जो मनुष्य कल्याण-मार्गपर चलता है, उसका जरा भी श्रम व्यर्थ नहीं जाता। अंतमें इस तरहकी श्रद्धा बतायी गयी है। जो कुछ अपूर्ण है, वह अंतमें पूरा होकर रहेगा। भगवान्‌के इस उपदेशका रस ग्रहण करो और अपने जीवनको सार्थक करो।

रविवार, २७-३-'३२

सातवाँ अध्याय

प्रपत्ति अथवा ईश्वर-शरणता

(३२) भक्तिका भव्य दर्शन

भाइयो, अर्जुनके सामने जब स्वधर्म-पालनका प्रश्न उपस्थित हुआ, तो उसके मनमें स्वकीय और परकीयका मोह उत्पन्न हो गया और वह स्वधर्माचरणको टालनेकी चेष्टा करने लगा। उसका यह वृथा मोह पहले अध्यायमें दिखाया गया। इस मोहको मिटानेके लिए दूसरा अध्याय शुरू हुआ। उसमें ये तीन सिद्धांत बताये गये—(१) आत्मा अमर है और वह सर्वत्र व्याप्त है, (२) देह नाशवान् है और (३) स्वधर्मका त्याग कभी न करना चाहिए। साथ ही कर्मफल-त्यागरूपी वह युक्ति भी बतलायी, जिससे उन सिद्धांतोंपर अमल किया जा सके। इस कर्मयोगका विवरण देते हुए उसमेंसे कर्म, विकर्म और अकर्म, ये तीन वस्तुएँ उत्पन्न हुईं। कर्म-विकर्मके संगमसे उत्पन्न होनेवाले दो प्रकारके अकर्म पाँचवें अध्यायमें हमने देख लिये। छठे अध्यायसे भिन्न-भिन्न विकर्म बतानेकी शुरुआत की गयी है। छठे अध्याय-में साधनाके लिए आवश्यक एकाग्रताका महत्त्व बताया गया।

आज सातवाँ अध्याय है। इस अध्यायमें विकर्मका एक नया ही भव्य भवन खोल दिया गया है। सृष्टि-देवीके मंदिरमें, किसी विशाल वनमें हम जिस तरह नाना प्रकारके मनोहर दृश्य देखते जाते हैं, वैसा ही अनुभव गीता-ग्रंथमें होता है। छठे अध्यायमें एकाग्रताका भवन देखा। अब हम जरा दूसरे भवनमें प्रवेश करें।

उस भवनका द्वार खोलनेके पहले ही भगवान्‌ने इस मोहकारिणी जगत्-रचनाका रहस्य समझा दिया है। एक ही प्रकारके कागजपर एक ही कूँचीसे चित्रकार नानाविध चित्र अंकित करता है। कोई सितारिया सात स्वरोंसे ही अनेक राग निकालता है। वाङ्मयके बावन अक्षरोंकी सहायतासे हम नाना प्रकारके विचार और भाव प्रकट

करते हैं। वैसे ही इस सृष्टिको समझो। सृष्टिमें अनंत वस्तुएँ और अनंत वृत्तियाँ दिखाई देती हैं। परंतु यह सारी अंतर्बाह्य सृष्टि एक ही अखंड आत्मा और एक ही अष्टधा प्रकृति, इस दुहरे मसालेसे बनी हुई है। क्रोधी मनुष्यका क्रोध, प्रेमी मनुष्यका प्रेम, दुःखीका क्रन्दन, आनंदीका हर्ष, आलसीका नींदकी ओर झुकाव, उद्योगीका कर्मस्फुरण—ये सब एक ही चैतन्य-शक्तिके खेल हैं। इन परस्पर विरुद्ध भावोंके मूलमें एक ही चैतन्य यहाँसे वहाँतक भरा हुआ है। भीतरी चैतन्य एक ही है। उसी तरह बाह्य आवरणका भी स्वरूप एक-सा ही है। चैतन्यमय आत्मा और जड़ प्रकृति, इस दुहरे मसाले-से सारी सृष्टि बनी है, जनमी है, यह आरंभमें ही भगवान् बता रहे हैं।

आत्मा और देह, परा और अपरा प्रकृति सर्वत्र एक ही है, फिर मनुष्य मोहमें क्यों पड़ जाता है? भेद क्यों दिखाई देता है? प्रेमी मनुष्यका चेहरा मधुर मालूम होता है, तो किसी दूसरेको देखकर तबीयत हटती है। एकसे मिलनेकी और दूसरेको टालनेकी तबीयत क्यों होती है? एक ही पेंसिल, एक ही कागज, एक ही चित्रकार; परंतु नाना चित्रोंसे नाना भाव प्रकट होते हैं। चित्रकारकी यही कुशलता है। चित्रकारकी, सितारियेकी उँगलियोंमें ऐसी कुशलता है कि वे हमें रुला देते हैं, हँसा देते हैं। यह सारी खूबी उनकी उन उँगलियोंमें है।

यह निकट रहे, वह दूर रहे; यह मेरा, वह पराया—ऐसे जो विचार मनमें आते हैं और जिनके चलते मनुष्य मौकेपर कर्तव्यसे कतराने लगता है, उसका कारण मोह है। इस मोहसे बचना हो, तो उस सृष्टि-निर्माताकी उँगलीकी करामातका रहस्य समझ लेना चाहिए। बृहदारण्यक उपनिषद्में नगाड़ेका दृष्टांत दिया गया है। एक ही नगाड़ेसे भिन्न-भिन्न नाद निकलते हैं। कुछ नादोंसे मैं डर जाता हूँ, कुछको सुनकर नाच उठता हूँ। उन सब भावोंको यदि जीत लेना है, तो नगाड़ा बजानेवालेको पकड़ लेना चाहिए। उसके पकड़में आते ही सारे नाद पकड़में आ जाते हैं। भगवान् एक ही वाक्यमें कहते हैं—"जो मायाको तैर जाना चाहते हैं, वे मेरी शरणमें आयें।"

येथ एक चि लीला तरले । जे सर्वभावें मज भजले ।
तयां ऐली चि थडी सरलें । मायाजळ ॥

—'यहाँ वही व्यक्ति लीलाको तरते हैं, जो सर्वभावसे मेरा भजन करते हैं। उनके लिए इसी किनारे मायाजाल सूख गया है।'

तो यह माया क्या है? माया कहते हैं परमेश्वरकी शक्तिको, उसकी कलाको, उसकी कुशलताको। आत्मा और प्रकृति—अथवा जैन परिभाषामें कहें, तो जीव और अजीव—रूपी इस मसालेसे जिसने यह अनंत रंगोंवाली सृष्टि रची है, उसकी शक्ति अथवा कला ही माया है। जेलखानेमें जिस तरह एक ही अनाजकी रोटी और वही एक सर्व-रसी दाल होती है, वैसे ही एक ही अखंड आत्मा और एक ही अष्टधा शरीर समझो। इससे परमेश्वर तरह-तरहकी चीजें बनाता रहता है। हम इन चीजोंको देखकर अनेक विरोधी, अच्छे-बुरे भावोंका अनुभव करते हैं। इसके परे जाकर यदि हम सच्ची शांति पाना चाहते हैं, तो इन वस्तुओंके निर्माताको जा पकड़ना चाहिए, उससे परिचय कर लेना चाहिए। उससे जान-पहचान होनेपर ही यह भेद-जनक, आसक्ति-जनक मोह टाला जा सकेगा।

उस परमेश्वरको समझ लेनेका एक महान् साधन—एक महान् विकर्म—बतानेके लिए सातवें अध्यायमें भक्तिका भव्य भवन खोल दिया है। चित्त-शुद्धिके लिए यज्ञ-दान, जप-तप, ध्यान-धारणा आदि अनेक विकर्म बताये जाते हैं; परंतु इन साधनोंको मैं सोडा, साबुन और अरीठाकी उपमा दूँगा। लेकिन भक्तिको पानी कहूँगा। सोडा, साबुन, अरीठा सफाई लाते हैं, परंतु पानीके बिना उनका काम नहीं चल सकता। पानी न हो, तो उनसे क्या लाभ? सोडा, साबुन, अरीठा न हो, केवल पानी हो, तो भी वह निर्मलता ला सकता है। उस पानीके साथ यदि ये पदार्थ भी हों, तो अधिकस्य अधिकं फलम् हो जायगा। कहेंगे कि दूधमें शक्कर पड़ी है। यज्ञ, याग, ध्यान, तप, इन सबमें यदि हार्दिकता न हो, तो फिर चित्त-शुद्धि होगी कैसे? हार्दिकताका ही अर्थ है भक्ति।

सब प्रकारके साधनोंको भक्तिकी जरूरत है। भक्ति एक सार्वभौम उपाय है। सेवा-शास्त्र सीखकर, उपचारोंका ज्ञान प्राप्तकर कोई मनुष्य रोगीकी सेवा-शुश्रूषाके लिए जाता है, पर यदि उसके मनमें सेवाकी भावना न हो तो बताओ, सच्ची सेवा कैसे बनेगी ? बैल भले ही खासा मोटा-ताजा हो, पर यदि गाड़ी खींचनेकी इच्छा ही उसे न हो, तो वह कंधा डालकर बैठ जायगा और संभव है कि गाड़ीको किसी खड्डेमें भी गिरा दे। जिस कार्यमें हार्दिकता नहीं है, उससे न तुष्टि मिल सकती है, न पुष्टि।

(३३) भक्तिसे विशुद्ध आनंदका लाभ

यह भक्ति होगी, तो उस महान् चित्रकारकी कला हम देख सकेंगे। उसके हाथकी वह कलम हम देख सकेंगे। जहाँ एक बार उस उद्गम झरनेको और वहाँके अपूर्व मधुर रसको चखा कि और सब रस तुच्छ और नीरस मालूम होंगे। जिसने वास्तविक केले खा लिये, वह लकड़ीके रंगीन केले हाथमें लेगा और 'बड़े सुन्दर हैं' कहकर एक ओर रख देगा। असली केलोंका स्वाद मिल जानेके कारण उसे इन नकली केलोंमें कोई उत्साह नहीं रहता। इसी तरह जिसने असली झरनेकी मिठास चख ली, वह बाहरके गुलाब-शबतपर लट्टू नहीं होगा।

एक तत्त्वज्ञानीसे लोगोंने कहा—"महाराज, चलिये शहरमें आज बड़ी आराइश की गयी है।" तत्त्वज्ञानी बोला—"आराइश क्या है ? एक दीपक, इसके बाद दूसरा, फिर तीसरा, इस तरह लाख, दस लाख, करोड़, जितने चाहे समझ लो। समझ गया तुम्हारी आराइश।" गणित श्रेणीमें होता है, १+२+३ आदि अनंततक। संख्या-संख्यामें जो अंतर रखना हो, वह यदि मालूम हो जाय, तो फिर सारी संख्या लिखनेकी जरूरत नहीं रहती। उसी तरह वे दीपक एकके बाद एक रख दिये। इनमें इतना मशगूल होने जैसी कौन-सी बात है ? परंतु मनुष्यको ऐसे आनंद प्रिय होते हैं। वह नीबू लायेगा, शकर लायेगा, पानीमें उसे घोलेगा और फिर बड़ा स्वाद लेकर कहेगा—"वाह, क्या बढ़िया शिकंजी बनी है।" जीभको जायका

लेनेके सिवा और काम ही क्या है ? यह इसमें मिलाओ, वह उसमें मिलाओ। ऐसी चाट खानेमें ही उसे सारा मजा ! बचपनमें एक बार मैं सिनेमा देखने गया था। साथमें एक टाटका टुकड़ा ले गया था, ताकि नींद आने लगे, तो सो जाऊँ। परदेपर आँखोंको चौंधिया देनेवाली वह आग मैं देखने लगा। दो ही चार मिनटमें उन अग्नि-चित्रोंको देखकर मेरी आँखें थक गयीं। मैं अपने टाटपर सो गया और कहा कि खेल जब खतम हो जाय, तो जगा लेना। रातको बाहर खुली हवामें आकाशके चाँद-तारे देखना छोड़कर, शांत सृष्टिका वह पवित्र आनंद छोड़कर, उस कुंद थियेटरमें आगकी पुतलियोंको नाचते देखकर लोग तालियाँ पीटते हैं ! मेरी समझमें ही यह सब न आता था।

मनुष्य इतना निरानंद कैसे ? उन निर्जीव पुतलियोंको देखकर आखिर बेचारा किसी तरह थोड़ा आनंद पा लेता है। जीवनमें आनंद नहीं है, तो कृत्रिम आनंद खोजते हैं। एक बार हमारे पड़ोसमें 'टमटम' बजना शुरू हुआ। मैंने पूछा—"यह बाजा क्यों ?" तो कहा गया—"लड़का हुआ है !" दुनियामें क्या एक तेरे ही लड़का हुआ है, जो 'टमटम' बजाकर दुनियासे कहता है कि मेरे लड़का हुआ है ? लड़का होनेकी बात कहकर नाचता, कूदता और गाता है। यह सब लड़कपन नहीं तो क्या है ? मानो आनंदका अकाल ही पड़ गया है। अकालके दिनोंमें जैसे कहीं अनाजका दाना दिखते ही लोग टूट पड़ते हैं, उसी तरह जहाँ लड़का हुआ, सरकस आया, सिनेमा आया कि ये आनंदके भूखे-प्यासे लोग कुदकने लगते हैं।

क्या यह सच्चा आनंद है ? संगीतकी लहरें कानोंमें घुसकर दिमागको धक्का देती हैं। रूप आँखोंमें घुसकर दिमागको धक्का देता है। इन धक्कोंमें ही बेचारोंका आनंद समाया रहता है। कोई तमाखू कूटकर उसे नाकमें घुसेड़ता है, कोई उसकी बीड़ी बनाकर मुँहमें खोंसता है। उस सुंघनीका या उस धुएँका धक्का लगा, तो मानो उन्हें आनंदकी गठरी मिल गयी ! बीड़ीका ठूठ मिलते ही उनके आनंदकी

सीमा नहीं रहती। टॉल्स्टाय लिखते हैं—"सिगरेटकी खुमारीमें मनुष्य किसीका खून भी कर सकता है।" इसे एक प्रकारका नशा ही समझो।

ऐसे आनंदमें मनुष्य क्यों मस्त हो जाता है? क्योंकि उसे वास्तविक आनंदका पता नहीं है। मनुष्य परछाईमें ही भूला है। आज वह पाँच ज्ञानेंद्रियोंका ही आनंद ले रहा है। यदि आँखकी इंद्रिय न होती, तो वह मानता कि संसारमें इन्द्रियोंके चार ही आनन्द हैं। कल यदि मंगल ग्रहसे कोई छह इंद्रियोंवाला मनुष्य नीचे उतर आये, तो ये बेचारे पाँच इंद्रियोंवाले खिन्न होंगे और रोते-रोते कहेंगे कि "इसके मुकाबले हम कितने दीन-हीन हैं!"

सृष्टिका सारा अर्थ इन पाँच इंद्रियोंको कैसे मालूम होगा? इन पाँच विषयोंमें भी फिर मनुष्य चुनाव करता है और उसमें रमता रहता है। गधेका रेंकना उसके कानोंमें जाता है, तो कहता है कि कहाँसे यह अशुभ आवाज आ गयी? तो क्या तुम्हारा दर्शन होनेसे उस गधेका कुछ अशुभ नहीं होगा? तुम्हींको उससे नुकसान होता है, क्या दूसरोंका तुमसे कुछ नहीं बिगड़ता? पर मान लिया है कि गधेका रेंकना अशुभ है। एक बार बड़ौदा कॉलेजमें मेरे रहते समय कुछ यूरोपियन गायक आये। थे तो वे उत्तम गवैये, अपनी तरफसे कमाल कर रहे थे; परंतु मैं सोच रहा था कि कब यहाँसे छूट पाऊँ, क्योंकि मुझे वैसा गाना सुननेकी आदत नहीं थी। मैंने उन्हें फेल कर दिया। हमारी तरफके गवैये यदि उधर जायँ, तो कदाचित् वे भी वहाँ फेल समझे जायँगे। संगीतसे एकको आनंद होता है, तो दूसरेको नहीं। सारांश, यह सच्चा आनंद नहीं है, मायावी आनंद है। जबतक वास्तविक आनंदका दर्शन न होगा, तबतक इस झूठे आनंदमें ही झूलते रहेंगे। जबतक असली दूध नहीं मिला था, तबतक आटा घोलकर बनाया दूध ही अश्वत्थामा दूध मानकर पीता था। इस तरह जब आप सच्चा स्वरूप समझ लेंगे, उसका आनंद चख लेंगे, तो फिर दूसरी सब चीजें फीकी लगेंगी।

इस आनंदका पता लगानेके लिए उत्कृष्ट मार्ग है भक्ति। इस रास्ते चलते-चलते परमेश्वरीय कुशलता मालूम हो जायगी। उस दिव्य कल्पनाके आते ही दूसरी सब कल्पनाएँ अपने-आप विलीन हो जायँगी। फिर क्षुद्र आकर्षण नहीं रह जायगा। फिर संसारमें एक आनंद ही भरा हुआ दिखाई देगा। मिठाईकी दूकान भले ही सैकड़ों हों, परंतु मिठाइयोंका प्रकार एक-सा होता है। जबतक असली चीज हाथ न लगेगी, तबतक हम चंचल चिड़ियाकी तरह एक चीज यहाँकी खायँगे, एक वहाँकी। सुबह मैं तुलसी-रामायण पढ़ रहा था। दीपकके पास कीड़े जमा हो रहे थे। इतनेमें वहाँ एक छिपकली आयी। उसे मेरी रामायणसे क्या लेना-देना था! कीड़े देखकर उसे बड़ा आनंद हो रहा था! वह कीड़ोंपर झपटनेवाली थी कि मैंने जरा हाथ हिलाया, वह भाग गयी। परंतु उसका ध्यान एक-सा लगा था कीड़ेकी ओर। मैंने अपने मनमें सोचा—"तू खाती है इस कीड़ेको? तेरी जीभसे लार टपकती है?" मेरी जीभसे लार नहीं टपकी। जिस रसका आनंद मैं लूट रहा था, उसका उस बेचारी छिपकलीको क्या पता? वह रामायणका रस नहीं चख सकती थी। इस छिपकलीकी तरह हमारी दशा है। हम नाना रसोंमें मस्त हैं। परंतु यदि सच्चा रस मिल जाय, तो कैसी बहार आये? भगवान् भक्तिरूपी एक साधन दिखा रहे हैं, जिससे हम उस असली रसको चख सकें।

(२४) सकाम भक्तिका भी मूल्य है

भगवान्ने भक्तके तीन प्रकार बतलाये हैं—(१) सकाम भक्ति करनेवाला, (२) निष्काम परंतु एकांगी भक्ति करनेवाला और (३) ज्ञानी अर्थात् संपूर्ण भक्ति करनेवाला। निष्काम परंतु एकांगी भक्ति करनेवालोंके भी तीन प्रकार हैं—(१) आर्त, (२) जिज्ञासु और (३) अर्थार्थी। भक्ति-वृक्षकी ये शाखा-प्रशाखाएँ हैं।

सकाम भक्तिका अर्थ क्या? कुछ इच्छा मनमें रखकर भगवान्के पास जानेवाला। मैं उसकी यह कहकर निंदा न करूँगा कि यह भक्ति निकृष्ट प्रकारकी है। बहुत लोग सार्वजनिक सेवा-क्षेत्रमें इसीलिए कूदते

हैं कि मान-सम्मान मिले। इसमें हर्ज क्या है ? आप उन्हें खूब मान दीजिये। मान देनेसे कुछ न बिगड़ेगा। ऐसा मान मिलते रहनेसे आगे सार्वजनिक सेवामें वे सुस्थिर हो जायँगे। फिर उसी काममें उन्हें आनंद मालूम होने लगेगा। मान पानेकी जो इच्छा होती है, उसका भी अर्थ आखिर क्या है ? यही कि उस सम्मानसे हमें विश्वास हो जाता है कि जो काम हम करते हैं, वह उत्तम है। मेरी सेवा अच्छी या बुरी, यह समझनेके लिए जिसके पास कोई आंतरिक साधन नहीं है, वह इस बाह्य साधनका सहारा लेता है। माँने बच्चेकी पीठ ठोंककर कहा 'शाबाश', तो उसकी तबीयत होती है कि माँका और काम भी करें। यही बात सकाम भक्तकी है। सकाम भक्त सीधा परमेश्वरके पास जाकर कहेगा—"दो।" सब कुछ परमेश्वरसे माँगनेकी प्रवृत्ति होना कोई मामूली बात नहीं। यह असाधारण बात है।

ज्ञानदेवने नामदेवसे पूछा—"तीर्थयात्राको चलोगे न ?" नामदेवने कहा—"किसलिए ?" ज्ञानदेवने जवाब दिया—"साधु-संतोंका समागम होगा।" नामदेवने कहा—"तो भगवान्‌से पूछ आता हूँ।" नामदेव मंदिरमें जाकर भगवान्‌के सामने खड़े हो गये। उनकी आँखोंसे आँसू बहने लगे। भगवान्‌के उन समचरणोंकी ओर ही वे देखते रहे। अंतमें रोते-रोते उन्होंने पूछा—"प्रभो, क्या मैं जाऊँ ?" ज्ञानदेव पास ही थे। इस नामदेवको क्या आप पागल कहेंगे ? ऐसे लोग बहुत हैं, जो घरमें स्त्री न होनेसे रोते हैं। परंतु परमेश्वरके पास जाकर रोनेवाला भक्त सकाम भले ही हो, असाधारण है। अब यह उसका अज्ञान समझना चाहिए कि जो वस्तु सचमुच माँगने योग्य है, उसे वह नहीं माँगता; परंतु इतनेके लिए उसकी सकाम भक्ति त्याज्य नहीं मानी जा सकती।

स्त्रियाँ सुबह उठकर नाना प्रकारके व्रत आदि करती हैं, काकड़ा* आरती करती हैं, तुलसीकी प्रदक्षिणा करती हैं। किसलिए ? मरनेके

* सुबह की जानेवाली बड़ी बातीवाली विशिष्ट आरती।

बाद परमेश्वरका अनुग्रह प्राप्त हो। उनके मनकी ऐसी भोली धारणा हो सकती है। परंतु उसके लिए वे व्रत, जप, उपवास आदि अनुष्ठान करती हैं। ऐसे व्रत-शील परिवारमें महापुरुषोंका जन्म होता है। तुलसीदासके कुलमें रामतीर्थ उत्पन्न हुए। रामतीर्थ फारसी भाषाके पण्डित थे। किसीने कह दिया—"तुलसीदासके कुलमें जनमे हो और तुम संस्कृत नहीं जानते?" रामतीर्थको यह बात चुभ गयी। कुल-स्मृतिकी यह कितनी सामर्थ्य है! इससे प्रेरित होकर वे संस्कृतके अध्ययनमें जुट गये। स्त्रियाँ जो भक्तिभाव रखती हैं, उसकी दिल्लगी न उड़ानी चाहिए। जहाँ भक्तिका ऐसा एक-एक कण संचित होता है, वहाँ तेजस्वी संतति उत्पन्न होती है। इसीलिए भगवान् कहते हैं— "मेरा भक्त सकाम होगा, तो भी उसकी भक्ति दृढ़ करूँगा। उसके मनमें गोलमाल नहीं होने दूँगा। यदि वह मुझसे सच्चे हृदयसे प्रार्थना करेगा कि मेरा रोग दूर कर दो, तो मैं उसके आरोग्यकी भावनाको पुष्ट करके उसका रोग दूर कर दूँगा। किसी भी निमित्तसे क्यों न हो, वह मेरे पास आयेगा, तो मैं उसकी पीठपर हाथ फेरकर उसकी कद्र ही करूँगा।" ध्रुवको ही देखो। पिताकी गोदीमें बैठने न पाया, तो उसकी माँने कहा, "ईश्वरसे स्थान माँग।" वह उपासनामें जुट पड़ा। भगवान्ने उसे अचल स्थान दे दिया। मन निष्काम न हो, तो भी क्या? मुख्य बात तो यह है कि मनुष्य जाता किसके पास है, माँगता किससे है? संसारके सामने हाथ न पसारकर ईश्वरसे माँगनेकी वृत्ति बड़े महत्त्वकी है।

निमित्त कुछ भी हो, तुम भक्ति-मंदिरमें जाओ तो। पहले यदि कामना लेकर भी आओगे, तो भी आगे चलकर निष्काम हो जाओगे। प्रदर्शनियाँ की जाती हैं। उनके संचालक कहते हैं—"अजी, आप आकर देखिये, कैसी बढ़िया, रंगीन, महीन खादी बनने लगी है। जरा नये-नये नमूने तो देखिये।" मनुष्य आता है और प्रभावित होता है। यही बात भक्तिकी है। भक्ति-मंदिरमें एक बार प्रवेश तो करो, फिर वहाँका सौंदर्य और सामर्थ्य अपने-आप मालूम हो जायगा।

स्वर्ग जाते हुए धर्मराजके साथ अंतमें एक कुत्ता ही रह गया। भीम, अर्जुन, सब रास्तेमें गल गये। स्वर्ग-द्वारके पास धर्मराजसे कहा गया—"तुम आ सकते हो, परंतु कुत्तेकी मनाही है।" धर्मराजने कहा—"अगर मेरा कुत्ता नहीं आ सकता, तो मैं भी नहीं आ सकता।" अनन्य सेवा करनेवाला कुत्ता भी क्यों न हो, दूसरे 'मैं-मैं' करनेवालोंसे तो वह श्रेष्ठ ही है। वह कुत्ता भीम-अर्जुनसे भी श्रेष्ठ साबित हुआ। परमेश्वरकी ओर जानेवाला कीड़ा ही क्यों न हो, वह परमेश्वरकी ओर न जानेवाले बड़े-से-बड़े व्यक्तिसे श्रेष्ठ और महान् है। मंदिरमें कछुए और नंदीकी मूर्तियाँ रहती हैं, परंतु उस नंदी-बैलको सब नमस्कार करते हैं; क्योंकि वह साधारण बैल नहीं है। वह भगवान्‌के सामने रहता है। बैल होनेपर भी यह नहीं भूल सकते कि वह परमेश्वरका है। बड़े-बड़े बुद्धिमानोंकी अपेक्षा वह श्रेष्ठ है। भगवान्‌का स्मरण करनेवाला बावला जीव भी विश्व-वंद्य हो जाता है।

एक बार मैं रेलमें जा रहा था। यमुनाके पुलपर गाड़ी आयी। पास बैठे एक आदमीने बड़े पुलकित हृदयसे उसमें एक धेला डाल दिया। पड़ोसमें एक आलोचक महाशय बैठे थे। कहने लगे—"देश पहले ही कंगाल है और ये लोग यों व्यर्थ पैसा फेंकते हैं।" मैंने कहा—"आपने उसके हेतुको पहचाना नहीं। जिस भावनासे उसने धेला-पैसा फेंका, उसकी कीमत दो-चार पैसे होगी या नहीं? यदि दूसरे सत्कार्यके लिए पैसे दिये होते, तो यह दान और भी अच्छा होता। किंतु इस बातका विचार पीछे करेंगे। परंतु उस भावनाशील मनुष्यने तो इसी भावनासे प्रेरित होकर यह त्याग किया है कि यह नदी क्या, ईश्वरकी करुणा ही बह रही है। इस भावनाके लिए आपके अर्थशास्त्रमें कोई स्थान है क्या? देशकी एक नदीको देखकर उसका अंतःकरण द्रवित हो उठा। यदि इस भावनाकी आप कद्र कर सकें, तो मैं आपकी देश-भक्तिको परखूँगा।" देश-भक्तिका अर्थ क्या रोटी है? देशकी महान् नदीको देखकर यदि यह भावना मनमें जगती है कि अपनी सारी संपत्ति इसमें डुबो दूँ, इसके चरणोंमें अर्पण कर दूँ, तो

यह कितनी बड़ी देश-भक्ति है ! वह सारी धन-दौलत, वे सब हरे-पीले पत्थर, कीड़ोंकी विष्ठासे बने मोती और कोयलेसे बने हीरे—इन सबकी कीमत पानीमें डुबो देने लायक ही है। परमेश्वरके चरणोंके आगे यह सारी धूल तुच्छ समझो। आप कहेंगे कि नदीका और परमेश्वरके चरणोंका क्या संबंध ? आपकी सृष्टिमें परमात्माका कुछ सम्बन्ध है भी ? नदी है, ऑक्सिजन और हाइड्रोजन। सूर्य है, गैसकी बत्तीका एक बड़ा-सा नमूना। उसे नमस्कार क्या करें ? नमस्कार करना होगा सिर्फ आपकी रोटीको। फिर उस रोटीमें भी भला क्या है ? वह भी तो आखिर एक सफेद मिट्टी ही है। उसके लिए क्यों इतनी लार टपकाते हो ? इतना बड़ा यह सूर्य उगा है, ऐसी यह सुन्दर नदी बह रही है—इनमें यदि परमेश्वरका अनुभव न होगा, तो फिर होगा कहाँ ? अंग्रेज कवि वर्डस्वर्थ बड़े दुःखसे कहता है—"पहले जब मैं इंद्र-धनुष देखता था, तो नाच उठता था। हृदय हिलोरें मारने लगता था। पर आज मैं क्यों नहीं नाच उठता ? पहलेकी जीवन-माधुरी खोकर कहीं मैं पत्थर तो नहीं बन गया ?"

सारांश यह कि सकाम भक्ति अथवा गँवार मनुष्यकी भावनाका भी बड़ा महत्त्व है। अंतमें इससे महान् सामर्थ्य पैदा होती है। जीवधारी कोई भी और कैसा ही हो, वह जब एक बार परमेश्वरके दरबारमें आ जाता है, तो फिर मान्य हो जाता है। आगमें किसी भी लकड़ीको डालिये, वह जल ही उठेगी। परमेश्वरकी भक्ति एक अपूर्व साधना है। परमेश्वर सकाम भक्तिकी भी कद्र करेगा। बादमें वह भक्ति निष्कामता और पूर्णताकी ओर चली जायगी।

(३५) निष्काम भक्तिके प्रकार और पूर्णता

सकाम भक्त हमने देखा। अब निष्काम भक्त देखें। इसमें भी और दो प्रकार हैं—एकांगी और पूर्ण। एकांगीके तीन प्रकार हैं। उनमें पहला प्रकार है आर्त भक्तोंका। आर्त होता है दयाप्रार्थी, भगवान्के लिए रोनेचिल्लाने और छटपटानेवाला; जैसे नामदेव। वह इस बात के

लिए उत्सुक, व्याकुल, अधीर, आतुर रहता है कि कब भगवान्के प्रेम-रसका पान करूँगा; कब उससे गले लिपटकर जीवनको कृतार्थ करूँगा; कब उसके चरणोंमें अपनेको डालकर धन्य होऊँगा! प्रत्येक कार्यमें वह यह देखेगा कि सचाई, हार्दिकता, व्याकुलता, प्रेम उसमें है या नहीं? दूसरा प्रकार है, जिज्ञासुओंका। आजकल अपने देशमें इस श्रेणीके भक्त बहुत नहीं हैं। इस कोटिके भक्तोंमें कोई गौरीशंकरपर बार-बार चढ़ेंगे और मरेंगे, कोई उत्तर ध्रुवकी खोजमें निकलेंगे और अपनी खोजके फल कागजपर लिखकर उन्हें बोतलमें बंद करके पानीमें छोड़कर मर जायँगे, कोई ज्वालामुखीके गर्भमें उतरेंगे। अभी तो हिन्दुस्तानियोंके लिए मौत एक हौआ बन बैठी है। परिवारके भरण-पोषणसे बढ़कर कोई पुरुषार्थ ही नहीं रहा है। जिज्ञासु भक्तके पास अदम्य जिज्ञासा होती है। वह प्रत्येक वस्तुके गुण-धर्मकी खोज करता है। मनुष्य जैसे नदी-मुखके द्वारा अन्तमें समुद्रको पा जाता है, उसी तरह यह जिज्ञासु भी अन्तमें परमेश्वरतक पहुँच जायगा। तीसरा प्रकार है, अर्थार्थियोंका। अर्थार्थी-का अर्थ है, प्रत्येक बातमें अर्थ देखनेवाला। 'अर्थ' का मतलब पैसा नहीं, बल्कि हित-कल्याण है। किसी भी बातकी जाँच करते समय वह उसे इस कसौटीपर कसेगा कि इसके द्वारा समाजका क्या कल्याण होगा। वह देखेगा कि मैं जो कुछ कहता, लिखता, करता हूँ, उससे संसारका मंगल होगा या नहीं? निरुपयोगी अहितकर क्रिया उसे स्वीकार न होगी। संसारके हितकी चिन्ता करनेवाला कितना बड़ा महात्मा है! जगत्का कल्याण ही उसका आनन्द है। जो प्रेमकी दृष्टिसे समस्त क्रियाओंको देखता है वह आर्त, ज्ञानकी दृष्टिसे देखता है वह जिज्ञासु और सबके कल्याणकी दृष्टिसे देखता है वह अर्थार्थी।

ये तीनों भक्त हैं तो निष्काम, परन्तु एकांगी हैं। एक कर्मके द्वारा, दूसरा हृदयके द्वारा, तीसरा बुद्धिके द्वारा ईश्वरके पास पहुँचता है। अब रहा पूर्ण भक्तका प्रकार। इसीको ज्ञानी भक्त भी कह सकते हैं। इस भक्तको जो कुछ दीखता है, सो सब परमेश्वरका ही रूप है। कुरूप-सुरूप, राव-रंक, स्त्री-पुरुष, पशु-पक्षी सर्वत्र परमात्माके ही पावन दर्शन!

नर नारी बाळें अवघा नारायण।
ऐसे माझें मन करीं देवा॥

—'नर, नारी, बालक सभी नारायण हैं। ऐसा मेरा मन बना दो हे प्रभु!'

संत तुकारामकी ऐसी प्रार्थना है। हिन्दू-धर्ममें जैसे नाग-पूजा, हाथीकी सूँडवाले देवताकी पूजा, पेड़ोंकी पूजा आदि पागलपनके नमूने हैं, उनसे भी अधिक पागलपनका कमाल ज्ञानी भक्तोंके यहाँ दीखता है। उनसे कोई भी क्यों न मिले, उन्हें चींटीसे लेकर चंद्र-सूर्य-तक सर्वत्र एक ही परमात्मा दीखता है और उनका हृदय आनंदसे हिलोरें मारने लगता है।

मग तया सुखा अंत नाहीं पार।
आनंदें सागर हेलावती॥

—'फिर उसे अपार सुख मिलता है। आनन्दसे उसका हृदय-सागर हिलोरे लेने लगता है।'

ऐसा जो वह दिव्य और भव्य दर्शन है, उसे भले ही आप भ्रम कहें। परन्तु यह भ्रम सौख्यकी राशि है, आनन्दकी निधि है। गंभीर सागरमें उसे परमेश्वरका विलास दिखाई देता है, गो-मातामें उसे ईश्वरका वात्सल्य नजर आता है, पृथ्वीमें उसकी क्षमता दीख पड़ती है, निरभ्र आकाशमें उसकी निर्मलता, रवि-चंद्र-तारोंमें उसका तेज और भव्यता दीख पड़ती है। फूलमें उसकी कोमलता और दुर्जनोंमें अपनी परीक्षा करनेवाला परमेश्वर दीखता है। इस तरह 'एक ही परमात्मा सर्वत्र रम रहा है' यह देखनेका अभ्यास ज्ञानी भक्त किया करते हैं। ऐसा करते हुए वह—ज्ञानी भक्त—एक दिन ईश्वरमें ही मिल जाता है।

रविवार, ३-४-'३२

आठवाँ अध्याय

प्रयाण-साधना : सातत्ययोग

(३६) शुभ संस्कारोंका संचय

मनुष्यका जीवन अनेक संस्कारोंसे भरा होता है। हमसे असंख्य क्रियाएँ होती रहती हैं। यदि हम उनका हिसाब लगाने लगें, तो उसका अंत ही नहीं आ सकता। यदि मोटे तौरपर हम चौबीस घंटोंकी ही क्रियाओंको देखने लगें, तो उनकी गिनती कितनी बढ़ जायगी। खाना, पीना, बैठना, सोना, चलना, फिरना, काम करना, लिखना, बोलना, पढ़ना—इनके अलावा नाना प्रकारके स्वप्न, राग-द्वेष, मानापमान, सुख-दुःख आदि अनंत प्रकार दिखाई देंगे। इन सबके संस्कार हमारे मनपर होते रहते हैं। अतः मुझसे यदि कोई पूछे कि जीवन किसे कहते हैं, तो मैं उसकी व्याख्या करूँगा—संस्कार-संचय।

संस्कार अच्छे भी होते हैं, बुरे भी। दोनोंका प्रभाव मनुष्यके जीवनपर पड़ता रहता है। बचपनकी क्रियाओंकी तो हमें याद भी नहीं रहती। सारा बालपन इस तरह मिट जाता है, जैसे स्लेटपर लिखकर पोंछ दिया हो। पूर्व-जन्मके संस्कार तो बिलकुल ही साफ पोंछ दिये जैसे हो जाते हैं—यहाँतक कि इस बातकी भी शंका उठ सकती है कि पूर्व-जन्म था भी या नहीं। जब इस जन्मका ही बचपन याद नहीं आता, तो फिर पूर्व-जन्मकी बात ही क्या? पूर्व-जन्मको जाने दीजिये, हम इसी जन्मका विचार करें। जितनी क्रियाएँ हमें याद रहती हैं, उतनी ही होती हैं, सो बात नहीं। क्रियाएँ अनेक होती हैं और ज्ञान भी अनेक; परन्तु ये क्रियाएँ और ज्ञान मिटकर अंतमें कुछ संस्कार ही शेष रह जाते हैं। रातको सोते समय दिनकी सब क्रियाओंको यदि हम याद करने लगें, तो भी याद नहीं आतीं। याद कौन-सी क्रियाएँ आती हैं? वे ही क्रियाएँ हमारी आँखों-के सामने आती हैं, जो बहुत स्पष्ट और प्रभावकारी होती हैं। यदि

हमारा किसीसे बहुत लड़ाई-झगड़ा हुआ हो, तो वह याद रहता है; क्योंकि उस दिनकी वही मुख्य कमाई होती है। मुख्य और स्पष्ट क्रियाओंके संस्कार मनपर बड़े गहरे हो जाते हैं। मुख्य क्रिया याद रहती है, शेष सब फीकी पड़ जाती हैं। यदि हम रोजनामचा लिखने बैठें, तो दो ही चार महत्त्वकी बातें लिखते हैं। यदि प्रतिदिनके ऐसे संस्कारोंको लेकर एक हफ्तेका हिसाब लगाने लगें, तो और भी कई बातें इसमेंसे निकल जायँगी और सप्ताहकी मुख्य घटनाएँ ही बच जायँगी। पिछले महीनेका हिसाब लगाने बैठें, तो उतनी ही बातें हमारे सामने आयेंगी, जो उस महीनेमें मुख्य रही होंगी। इसी तरह फिर छह महीना, साल, पाँच सालका हिसाब लगायें, तो बहुत ही थोड़ी महत्त्वपूर्ण बातें याद रहेंगी और उन्हींके संस्कार बनेंगे। असंख्य क्रियाओं और अनंत ज्ञानोंके होनेपर भी अंतमें मनके पास बहुत थोड़ी बचत रहती है। वे विभिन्न कर्म और ज्ञान आये और अपना काम करके समाप्त हो गये। उन सब कर्मोंके पाँच-दस दृढ़ संस्कार ही शेष रह जाते हैं। ये संस्कार ही हमारी पूँजी हैं। हम जीवनरूपी व्यापार करके सिर्फ संस्काररूपी संपत्ति जोड़ते हैं। जिस प्रकार व्यापारी रोजका, महीनेका और सालभरका जमा-खर्च करके अंतमें नफे या टोटेका एक ही आँकड़ा निकालता है, उसी प्रकारका हाल जीवनका होता है। अनेक संस्कारोंका जमा-नामे होते-होते अंतमें एक अत्यंत ठोस, सीमित निचोड़ जैसी चीज बाकी बच जाती है। जब जीवनकी अंतिम घड़ी आती है, तब जीवनकी आखिरी रोकड़-बाकी आत्मा याद करने लगता है। जन्मभरमें क्या-क्या किया—इसकी याद आनेपर सारी कमाईके रूपमें दो-चार बातें ही दीख पड़ती हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि वे सब कर्म और ज्ञान व्यर्थ चले गये। उनका काम पूरा हो गया। हजारों उखाड़-पछाड़के बाद अन्तमें कुल पाँच हजारका घाटा या दस हजारका नफा, इतना ही सार व्यापारीके हाथ लगता है। घाटा हुआ तो छाती बैठ जाती है, नफा हुआ तो दिल उछलने लगता है।

हमारा भी यही हाल है। मरनेके समय यदि खानेकी वासना हुई, तो जिंदगीभर भोजनकी रुचि लेनेका ही अभ्यास करते रहे, यह सिद्ध होगा। भोजन या स्वादकी वासना, यही जिंदगीभरकी कमाई। किसी माताको मरते समय यदि बेटेकी याद हो आयी, तो उसका पुत्र-सम्बन्धी संस्कार ही बलवान् मानना चाहिए। बाकी जो असंख्य कर्म किये, वे गौण हो गये। अंकगणितमें अपूर्णांकके प्रश्न होते हैं। कितनी बड़ी-बड़ी संख्याएँ, परन्तु संक्षेप बनाते-बनाते अन्तमें एक अथवा शून्य उत्तर आता है। इसी तरह जीवनमें संस्कारोंकी अनेक संख्याएँ चली जाकर अन्तमें एक बलवान् संस्कार ही साररूपमें रह जाता है। जीवनरूपी प्रश्नका वह उत्तर है। अन्तकालीन स्मरण ही सारे जीवनका फलित होता है।

जीवनका यह अन्तिम सार मधुर निकले, अंतकी यह घड़ी मधुर हो, इसी दृष्टिसे सारे जीवनके उद्योग होने चाहिए। जिसका अंत मधुर, उसका सब मधुर। उस अंतिम उत्तरपर ध्यान रखकर सारे जीवनका प्रश्न हल करना चाहिए। इस ध्येयको दृष्टिके सामने रखकर सारे जीवनकी योजना बनाओ। गणितमें जो मुख्य प्रश्न पूछा गया है, उसीको सामने रखकर उत्तर निकालते हैं। उसी तरहकी रीतिसे काम लेना पड़ता है। अतः मरनेके समय जो संस्कार दृढ़ रखनेकी इच्छा हो, उसके अनुसार ही सारे जीवनका प्रवाह मोड़ना चाहिए। दिन-रात उसीकी तरफ झुकाव रहना चाहिए।

(३७) मरणका स्मरण रहे

इस आठवें अध्यायमें यह सिद्धान्त बताया गया है कि जो विचार मरते समय प्रबल रहता है, वही अगले जन्ममें बलवत्तर सिद्ध होता है। इस पाथेयको साथ लेकर जीव आगेकी यात्राके लिए निकलता है। आजके दिनकी कमाई लेकर, नींदके बाद हम कलका दिन शुरू करते हैं। उसी तरह इस जन्मकी जमा-पूँजी लेकर मरणरूपी बड़ी नींदके बाद फिर हमारी यात्रा शुरू होती है। इस जन्मका जो अंत है, वही अगले जन्मका आरम्भ है। अतः सदैव मरणका स्मरण रखकर चलो।

मरणका स्मरण रखनेकी जरूरत इसलिए और भी है कि मृत्युकी भयानकताका मुकाबला किया जा सके, उसका रास्ता निकाला जा सके। एकनाथ महाराजकी एक कहानी है। एक सज्जनने उनसे पूछा—"महाराज, आपका जीवन कितना सीदा-साधा, कितना निष्पाप है! हमारा जीवन ऐसा क्यों नहीं? आप कभी किसीपर गुस्सा नहीं होते, किसीसे लड़ाई-झगड़ा नहीं, टंटा-बखेड़ा नहीं। कितने शांत, कितने प्रेमपूर्ण, कितने पवित्र हैं आप!" एकनाथने कहा—"अभी मेरी बात छोड़ो। तुम्हारे संबंधमें मुझे एक बात मालूम हुई है। आजसे सात दिनके भीतर तुम्हारी मौत आ जायगी।" अब एकनाथकी कही बातको झूठ कौन मानता? सात दिनमें मृत्यु! सिर्फ १६८ ही घण्टे बाकी रहे। हे भगवन्, यह क्या अनर्थ! वह मनुष्य जल्दी-जल्दी घर दौड़ गया। कुछ सूझ नहीं पड़ता था। आखिरी समयकी, सब कुछ समेट लेनेकी बातें कर रहा था। वह बीमार हो गया। बिस्तरपर पड़ गया। छह दिन बीत गये। सातवें दिन एकनाथ उससे मिलने आये। उसने नमस्कार किया। एकनाथने पूछा—"क्या हाल है?" उसने कहा—"बस, अब चला।" नाथजीने पूछा—"इन छह दिनोंमें कितना पाप किया? पापके कितने विचार मनमें आये?" वह आसन्न-मरण व्यक्ति बोला—"नाथजी, पापका विचार करनेकी तो फुरसत ही नहीं मिली। मौत एक-सी आँखोंके सामने खड़ी थी।" नाथजीने कहा—"हमारा जीवन इतना निष्पाप क्यों है—इसका उत्तर अब मिल गया न?" मरणरूपी शेर सदैव सामने खड़ा रहे, तो फिर पाप सूझेगा किसे? पाप करनेके लिए भी निश्चिंतता चाहिए। मरणका सदैव स्मरण रखना पापसे मुक्त होनेका उपाय है। यदि मौत सामने दीखती रहे, तो फिर मनुष्य किस बलपर पाप करेगा?

परंतु मनुष्य मरणका स्मरण टालता है। पास्कल नामक एक फ्रेंच दार्शनिक हो गया है। उसकी एक पुस्तक है—'पांसे'। 'पांसे' का अर्थ है 'विचार'। उसने इस पुस्तकमें भिन्न-भिन्न स्फुट विचार दिये हैं। उसमें वह एक जगह लिखता है—"मौत सदा पीछे खड़ी है; परन्तु मनुष्य-

का यह प्रयत्न सतत चल रहा है कि उसे भूले कैसे ? किंतु वह यह बात अपने सामने नहीं रखता कि मृत्युको याद रखकर कैसे चलें ?" मनुष्यको 'मरण' शब्दतक सहन नहीं होता। खाते समय यदि मृत्युका नाम किसीने ले लिया, तो कहते हैं—"क्या अशुभ बात मुँहसे निकालते हो !" परंतु इतना होते हुए भी हमारा एक-एक कदम मृत्युकी ओर ही जा रहा है। बंबईका टिकट कटाकर जब एक बार तुम रेलमें बैठ गये, तो तुम भले ही बैठे रहो, परंतु गाड़ी तुम्हें बंबई ले जाकर छोड़ ही देगी। जन्म होते ही हमने मृत्युका टिकट कटा रखा है। अब आप बैठे रहिये या दौड़ते रहिये। बैठे रहेंगे तो भी मृत्यु आयेगी, दौड़ते रहेंगे तो भी। आप मृत्युका विचार करें या न करें, वह आये बिना न रहेगी। मरण निश्चित है, और बातें भले ही अनिश्चित हों। सूर्य अस्ताचलकी ओर चला कि हमारी आयुका एक अंश उसने खाया। जीवनके भाग यों कटते जा रहे हैं, जीवन छीज रहा है, एक-एक बूँद घट रहा है, तो भी मनुष्यको उसका कुछ खयाल नहीं। ज्ञानेश्वर कहते हैं—"आश्चर्य दीखता है।" उन्हें आश्चर्य होता है कि मनुष्य क्योंकर इतनी निश्चिंतता अनुभव करता है। मनुष्यको मरणका इतना भय लगता है कि उसे मरणका विचारतक सहन नहीं होता। वह सदा उसके विचारको टालता रहता है। आँखोंपर पर्दा डालकर बैठ जाता है। लड़ाईपर जानेवाले सैनिक मरणका विचार टालनेको खेलते हैं, नाचते-गाते हैं, सिगरेट पीते हैं। पास्कल लिखता है कि "मरण सर्वत्र प्रत्यक्ष दीखते हुए भी यह टामी, यह सिपाही उसे भूलनेके लिए खाने-पीनेमें और गान-तानमें मस्त रहता है।"

हम सब इसी टामीकी तरह हैं। चेहरेको गोल हँसमुख बनानेका प्रयत्न करना, सूखा हो तो तेल, पोमेड लगाना, बाल सफेद हो गये हों, तो खिजाब लगाना—ऐसे प्रयत्न मनुष्य करता है। छातीपर मृत्यु नाच रही है, फिर भी हम टामीकी तरह उसे भूलनेका अक्षय प्रयत्न कर रहे हैं। और चाहे कोई भी बातें करेंगे, पर 'मौतकी बात मत निकालो' कहेंगे। मैट्रिक पास लड़केसे पूछो कि "अब आगे क्या इरादा

है ?'' तो वह कहता है—''अभी मत पूछो, अभी तो फर्स्ट इयरमें हूँ।'' दूसरे साल फिर पूछोगे तो कहेगा—''पहले इंटर तो हो जाने दो, फिर देखेंगे।'' यही सिलसिला चलता है। जो आगे होनेवाला है, उसका क्या पहलेसे विचार नहीं करना चाहिए? अगले कदमके बारेमें पहलेसे सोच लेना चाहिए, नहीं तो वह खड्डेमें गिरा सकता है, परंतु विद्यार्थी इन सबको टालता है। बेचारेकी शिक्षा ही इतनी अंधकारमय होती है कि उससे उसे उस पारका भविष्य दिखाई ही नहीं देता। अतः आगे क्या करना है, यह सवाल ही वह सामने नहीं आने देता, क्योंकि उसे चारों ओर अंधकार ही दिखाई देता है। परंतु भविष्य टाला नहीं जा सकता। वह तो सिरपर आकर सवार हो ही जाता है।

कॉलेजमें प्रोफेसर तर्क-शास्त्र पढ़ाता है—''मनुष्य मर्त्य है। सुकरात मनुष्य है, अतः सुकरात मरेगा।'' यह अनुमान वह सिखाता है। वह सुकरातका उदाहरण देता है, खुद अपना क्यों नहीं देता? प्रोफेसर भी मर्त्य है। वह यों नहीं पढ़ाता कि ''सब मनुष्य मर्त्य हैं, अतः मैं प्रोफेसर भी मर्त्य हूँ और तुम शिष्य भी मर्त्य हो।'' वह उस मरणको सुकरातपर ढकेल देता है, क्योंकि सुकरात तो मर चुका है। वह झगड़ा करनेके लिए हाजिर नहीं है। शिष्य और गुरु, दोनों सुकरातको मरण सौंपकर अपने लिए 'तेरी भी चुप', 'मेरी भी चुप' वाली गति करते हैं। मानो, वे यह समझे बैठे हैं कि हम तो बहुत सुरक्षित हैं।

इस तरह मृत्युको भूलनेका यह प्रयत्न सर्वत्र जान-बूझकर हो रहा है। परंतु इससे मृत्यु कहीं टल सकती है? कल माँ मर गयी, तो मौत सामने आ गयी। मनुष्य निर्भयतापूर्वक मरणका विचार करके यह हिम्मत ही नहीं करता कि उसमेंसे रास्ता कैसे निकाला जाय। कोई शेर हिरनके पीछे पड़ा है। वह हिरन खूब चौकड़ी भरता है, परंतु उसकी शक्ति कम पड़ती जाती है और अन्तमें वह थक जाता है। पीछेसे वह शेर—यमदूत दौड़ा आ ही रहा है। उस समय उस हिरनकी क्या दशा होती है? वह उस शेरकी ओर देख भी नहीं सकता। वह

मिट्टीमें सींग और मुँह घुसेड़कर खड़ा हो जाता है, मानो निराधार होकर कहता हो—"ले, अब आ और मुझे हड़प जा।" हम मृत्युका सामना नहीं कर सकते। उससे बचनेके लिए हम हजारों तरकीबें निकालें, तो भी उसका जोर इतना होता है कि अंतमें वह हमारी गर्दन धर दबाती ही है।

और फिर जब मृत्यु आती है, तब मनुष्य अपने जीवनकी रोकड़-बाकी देखने लगता है। परीक्षामें बैठा हुआ आलसी, मंद विद्यार्थी दावातमें कलम डुबोता है, बाहर निकालता है, परंतु सफेद कागजको काला करनेकी हिम्मत नहीं होती। अरे भाई, कुछ लिखोगे भी या नहीं? सरस्वती आकर थोड़े ही जवाब लिख जायगी? तीन घंटे खतम हो जाते हैं, वह कोरा कागज दे देता है या अन्तमें कुछ घसीटकर दे आता है। सवाल हल करना है, जवाब लिखना है, यह सूझता ही नहीं! इधर देखता है, उधर देखता है। ऐसा ही हमारा हाल है। अतः हमें चाहिए कि हम इस बातको याद रखकर कि जीवनका सिरा मृत्युकी ओर गया हुआ है, अंतिम क्षणको पुण्यमय, अत्यंत पावन और मधुर बनानेका अभ्यास जीवनभर करते रहें। आजसे-ही इस बातका विचार करते रहना चाहिए कि मनपर उत्तम-से-उत्तम संस्कार कैसे पड़ें। परन्तु अच्छे संस्कारोंके अभ्यासकी पड़ी किसे है? इससे उलटा, बुरी बातोंका अभ्यास पग-पगपर होता रहता है। जीभ, आँख और कानको हम चटोरपन सिखा रहे हैं। चित्तको इससे भिन्न अभ्यासमें लगाना चाहिए। अच्छी बातोंकी ओर चित्त लगाना चाहिए। उनमें उसे रँग देना चाहिए। जिस क्षण अपनी भूल प्रतीत हो जाय, उसी क्षणसे उसे सुधारनेमें व्यस्त हो जाना चाहिए। भूल मालूम हो जाने-पर भी क्या वही करते रहेंगे? जिस क्षण हमें अपनी भूल मालूम हुई, उसी क्षण हमारा पुनर्जन्म हुआ। उसे अपना नवीन बचपन, अपने जीवनका नव-प्रभात समझो। अब तुम सचमुच जगे हो। अब दिन-रात जीवनकी जाँच-पड़ताल करते रहो और सावधान रहो। ऐसा न करोगे तो फिर फिसलोगे, फिर बुरी बातका अभ्यास शुरू हो जायगा।

बहुत साल पहले मैं अपनी दादीसे मिलने गया था। वह बहुत बूढ़ी हो गयी थी। वह मुझसे कहती—"बिन्या, अब मुझे कुछ याद नहीं रहता। घीकी दोहनी लेने जाती हूँ और उसे बिना लाये ही लौट आती हूँ।" परन्तु वह पचास साल पहलेकी गहनोंकी एक बात मुझसे कहा करती। पाँच मिनट पहलेकी बात याद नहीं, मगर पचास साल पहलेके बलवान् संस्कार अंततक सतेज हैं। इसका कारण क्या? वह गहनेवाली बात उसने हरएकसे कही होगी। उस बातका सतत उच्चारण होता रहा। अतः वह जीवनसे चिपककर बैठ गयी। जीवनके साथ एकरूप हो गयी। मैंने मनमें कहा—"भगवान् करे, दादीको मरते समय उन गहनोंकी याद न आये।"

(३८) उसीमें रँग रहे सदा

जिस बातका हम रात-दिन अभ्यास करते हैं, वह हमसे क्यों न चिपकी रहेगी? उस अजामिलकी कथा पढ़कर भ्रममें मत पड़ जाना। वह ऊपरसे पापी था; परन्तु उसके जीवनके भीतरसे पुण्यकी धारा बह रही थी। वह पुण्य अंतिम क्षणमें जाग उठा। सदा-सर्वदा पाप करके अंतमें राम-नाम अचूक याद आ जायगा—इस धोखेमें मत रह जाना। बचपनसे ही मन लगाकर अभ्यास करो। ऐसी सावधानी रखो कि हमेशा अच्छे ही संस्कार पड़ें। ऐसा न कहो कि इससे क्या होगा और उससे क्या होगा? चार बजे ही क्यों उठें? सात बजे उठें, तो उससे क्या बिगड़ेगा? ऐसा कहनेसे काम नहीं चलेगा। यदि मनको बराबर ऐसी आजादी देते जाओगे, तो अंतमें फँस जाओगे। फिर अच्छे संस्कार अंकित नहीं होने पायेंगे। एक-एक कण बीनकर लक्ष्मी जुटानी पड़ती है। एक-एक क्षण व्यर्थ न जाने देते हुए विद्यार्जनमें लगाना पड़ता है। इस बातका ध्यान रखो कि प्रतिक्षण अच्छा ही संस्कार पड़ रहा है न? बुरी बात बोले कि लगा बुरा संस्कार। हमारी प्रत्येक कृति छेनी बनकर हमारा जीवनरूपी पत्थर गढ़ती है। दिन अच्छी तरह बीता, तो स्वप्नमें बुरे विचार आ जाते हैं। दस-पाँच दिनके ही विचार स्वप्नमें आते हों, सो बात नहीं। कितने ही

बुरे संस्कार असावधानीमें पड़ जाते हैं। नहीं कह सकते कि वे कब जग पड़ेंगे। इसलिए छोटी-से-छोटी बातोंमें भी सजग रहना चाहिए। डूबतेको तिनकेका भी सहारा हो जाता है। हम संसार-सागरमें डूब रहे हैं। यदि हम थोड़ा भी अच्छा बोलें, तो वह भी हमारे लिए आधार बन जाता है। भला किया व्यर्थ नहीं जाता। वह तुम्हें तार देगा। लेशमात्र भी बुरे संस्कार न होने चाहिए। सदा ऐसा ही उद्योग करो, जिससे आँखें पवित्र रहें, कान निंदा न सुनें, अच्छा बोलें। यदि ऐसी सावधानी रखोगे, तो अन्तिम क्षणमें हुक्मी पासा पड़ेगा। हम अपने जीवन-मरणके स्वामी हो जायँगे।

पवित्र संस्कार डालनेके लिए उदात्त विचार मनमें दौड़ाने चाहिए। हाथ पवित्र कर्म करनेमें लगे रहें। भीतरसे ईश्वरका स्मरण और बाहरसे स्वधर्माचरण; हाथोंसे सेवारूपी कर्म, मनमें विकर्म—ऐसा नित्य करते रहना चाहिए। गांधीजीको देखो, रोज चरखा चलाते हैं। वे रोज कातनेपर जोर देते हैं। रोज क्यों कातें? कपड़ेके लिए कभी-कभी कात लिया करें, तो क्या काम नहीं चलेगा? परंतु यह तो हुआ व्यवहार। रोज कातनेमें आध्यात्मिकता है। देशके लिए मुझे कुछ-न-कुछ करना है, इस बातका वह चिन्तन है। वह सूत हमें नित्य दरिद्रनारायणसे जोड़ता है। वह संस्कार दृढ़ होता है।

डॉक्टरने रोज दवा पीनेके लिए कहा, पर हम सारी दवा एक ही रोज पी लें तो? तो वह बेतुकी बात होगी। औषधिका उद्देश्य सफल न होगा। प्रतिदिन औषधिके संस्कारसे प्रकृतिकी विकृति दूर करनी चाहिए। ऐसी ही बात जीवनकी है। शंकरपर धीरे-धीरे ही अभिषेक करना पड़ता है। मेरा यह प्रिय दृष्टांत है। बचपनमें मैं नित्य इस क्रियाको देखता था। चौबीस घंटे मिलाकर बहुत हुआ, तो वह पानी दो बालटी होता होगा। फिर एक साथ दो बालटी शिवजी-पर एकदम क्यों न उँड़ेल दी जाय? इसका उत्तर बचपनमें ही मुझे मिल गया। पानी एकदम उँड़ेल देनेसे वह कर्म सफल नहीं हो सकता। एक-एक बूँद-धार पड़ना ही उपासना है। समान संस्कारोंकी सतत

धारा बहनी ही चाहिए। जो संस्कार सबेरे, वही दोपहरको, वही शामको, वही दिनमें, वही रातमें, वही कल, वही आज और जो आज वही कल, जो इस साल वही अगले साल, जो इस जन्ममें वह अगले जन्ममें, जो जीवनमें वही मृत्युमें—ऐसी एक-एक सत्संस्कारकी दिव्यधारा सारे जीवनमें सतत बहती रहनी चाहिए। ऐसा प्रवाह अखंड चालू रहेगा, तभी हम अंतमें जीत सकेंगे। तभी हम जाकर मुकामपर अपना झंडा गाड़ सकेंगे। संस्कारोंका प्रवाह एक ही दिशामें बहना चाहिए। नहीं तो पहाड़पर गिरा पानी यदि बारह दिशाओंमें बह निकले, तो फिर उससे नदी नहीं बन सकती। इसके विपरीत अगर सारा पानी एक ही दिशामें बहेगा, तो वह सोतेसे धारा, धारासे प्रवाह, प्रवाहसे नदी, नदीसे गंगा बनकर ठेठ समुद्रतक जा पहुँचेगा। एक दिशामें बहनेवाला पानी समुद्रमें मिलेगा, चारों दिशाओंमें जानेवाला यों ही सूख जायगा। यही बात संस्कारोंकी है। संस्कार यदि आते और मिटते गये, तो क्या फायदा? यदि जीवनमें संस्कारोंका पवित्र प्रवाह सतत बहता रहा, तभी अंतमें मरण महाआनंदका विधान मालूम पड़ेगा। जो यात्री रास्तेमें ज्यादा न ठहरते हुए, रास्तेके मोह और प्रलोभनसे बचते हुए, कठिन चढ़ाई कदम जमा-जमाकर चढ़ता हुआ, शिखरतक पहुँच गया और ऊपर पहुँचकर छातीपरके सारे बोझ और बंधन हटाकर वहाँकी खुली हवाका अनुभव करने लगा, उसके आनंदका अंदाज क्या दूसरे लोग लगा सकेंगे? पर जो प्रवासी रास्तेमें ही अटक गया, उसके लिए सूर्य कहीं रुकता है?

(३९) रात-दिन युद्धका प्रसंग

सार यह है कि बाहरसे सतत स्वधर्माचरण और भीतरसे हरि-स्मरणरूपी चित्त-शुद्धिकी क्रिया, इस तरह जब ये अंतर्बाह्य कर्म-विकर्मके प्रवाह काम करेंगे, तब मरण आनंददायी मालूम होगा। इसलिए भगवान् कहते हैं—

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्ध्य च।

मेरा अखंड स्मरण करो और लड़ते रहो।

सदा त्यांत चि रंगला।

—'उसीमें सदा रँगा रह।'. सदा ईश्वरमें लीन रहो। ईश्वरीय प्रेमसे जब अंतर्बाह्य रँग जाओगे, जब वह रंग सारे जीवनमें फैल जायगा, तभी पवित्र बातोंमें सदैव आनंद मालूम होने लगेगा। तब बुरी वृत्तियाँ सामने आकर खड़ी ही न रहेंगी। सुंदर, बढ़िया मनोरथोंके अंकुर मनमें उगने लगेंगे। अच्छे कर्म सहज ही होने लगेंगे।

यह तो ठीक है कि ईश्वर-स्मरणसे अच्छे कर्म सहज भावसे होने लगेंगे; परंतु भगवान्‌की यह भी आज्ञा है कि "सतत लड़ते रहो।" तुकाराम महाराज कहते हैं—

रात्री दिवस आम्हां युद्धाचा प्रसंग।
अंतर्बाह्य जग आणि मन॥

—'हमें दिन-रात युद्धकी ही धुन रहती है। एक ओर है मन और दूसरी ओर है, अंतर्बाह्य जगत्।'

भीतर और बाहर अनंत सृष्टि व्याप्त है। इस सृष्टिसे मनका सतत झगड़ा जारी रहता है। इस झगड़ेमें हर बार जय ही होगी, ऐसा नहीं। जो अंतको पा लेगा, वही सच्चा विजयी। अंतमें जो फैसला हो, वही सही। कई बार यश मिलेगा, तो कई बार अपयश। अपयश मिला, तो निराश होनेका कोई कारण नहीं है। मान लो कि पत्थरपर उन्नीस बार चोट लगनेसे वह नहीं फूटा और बीसवीं बारकी चोटसे फूट गया, तो फिर क्या वे उन्नीस चोटें फिजूल ही गयीं? उस बीसवीं चोटकी सफलताकी तैयारी वे उन्नीस चोटें कर रही थीं।

निराश होनेका अर्थ है, नास्तिक होना। विश्वास रखो कि परमेश्वर हमारा रक्षक है। बच्चेकी हिम्मत बढ़ानेके लिए माँ उसे इधर-उधर जाने देती है; परंतु वह उसे गिरने नहीं देती। जहाँ वह गिरने लगा कि झट आकर धीरेसे सहारा लगा देती है। ईश्वर भी तुम्हें देख रहा है। तुम्हारी जीवनरूपी पतंगकी डोरी उसके हाथमें है।

कभी वह डोर खींच लेता है, कभी ढीली छोड़ देता है; परंतु यह विश्वास रखो कि डोर है उसके हाथमें। गंगाके घाटपर तैरना सिखाते हैं। घाटपरके वृक्षमें साँकल या डोरी बँधी रहती है। वह कमरसे बाँधकर आदमीको पानीमें फेंक देते हैं। परंतु सिखानेवाले उस्ताद भी पानीमें रहते ही हैं। नौसिखिया पहले तो दो-चार बार डुबकी खाता है, परंतु अंतमें वह तैरनेकी कला सीख जाता है। इसी तरह परमेश्वर हमें जीवनकी कला सिखा रहा है।

(४०) शुक्ल-कृष्ण गति

अतः परमेश्वरपर श्रद्धा रखकर यदि 'मनसा-वाचा-कर्मणा' दिन-रात लड़ते रहोगे, तो अंतकी घड़ी अतिशय उत्तम होगी। उस समय सब देवता अनुकूल हो जायँगे। यही बात इस अध्यायके अन्तमें एक रूपकके द्वारा बतायी गयी है। इस रूपकको आप लोग समझ लीजिये। जिसके मरणके समय आग जल रही है, सूर्य चमक रहा है, शुक्ल पक्षका चंद्र बढ़ रहा है, उत्तरायणमें निरभ्र और सुंदर आकाश फैला हुआ है, वह ब्रह्ममें विलीन होता है और जिसकी मृत्युके समय धुआँ फैल रहा है, भीतर-बाहर अँधेरा होरहा है, कृष्ण पक्षका चंद्रमा क्षीण हो रहा है, दक्षिणायनमें मलिन और अभ्राच्छादित आकाश फैल रहा है, वह फिरसे जन्म-मरणके फेरमें पड़ेगा।

बहुत-से लोग इस रूपकको पढ़कर चक्करमें पड़ जाते हैं। यदि यह चाहते हो कि पुण्य-मरण हो, तो अग्नि, सूर्य, चंद्र, आकाश, इन देवताओं-की कृपा रहनी चाहिए। अग्नि कर्मका चिह्न है, यज्ञका चिह्न है। अंत समयमें भी यज्ञकी ज्वाला जलती रहनी चाहिए। न्यायमूर्ति रानडे कहते थे—"सतत कर्तव्य करते हुए मौत आ जाय, तो वह धन्य है। कुछ-न-कुछ पढ़ रहे हैं, लिख रहे हैं, कोई काम कर रहे हैं—ऐसी हालत-में मैं मरू, तो भर पाया।" 'आग जल रही है' इसका अर्थ यह है। मरण-समयमें भी कर्म करते रहें—यह अग्निकी कृपा है। सूर्यकी कृपा-का अर्थ यह है कि बुद्धिकी प्रभा अंततक चमकती रहनी चाहिए।

चंद्रकी कृपाका अर्थ यह है कि मृत्युके समय पवित्र भावना सतत बढ़ती रहनी चाहिए। चंद्र मनका—भावनाका—देवता है। शुक्ल पक्षके चंद्रकी तरह मनकी भक्ति, प्रेम, उत्साह, परोपकार, दया आदि शुद्ध भावनाओंका पूर्ण विकास होना चाहिए। आकाशकी कृपासे अभिप्राय है कि हृदयाकाशमें आसक्तिरूपी बादल बिलकुल न रहने चाहिए। एक-बार गांधीजीने कहा—"मैं दिन-रात चरखा-चरखा चिल्ला रहा हूँ। चरखेको बड़ी पवित्र वस्तु मानता हूँ। परंतु अंत समयमें उसकी भी वासना न रहनी चाहिए। जिसने मुझे चरखेकी प्रेरणा दी है, वह स्वयं चरखेकी चिन्ता करनेमें पूर्ण समर्थ है। चरखा अब दूसरे भले-भले लोगोंके हाथमें चला गया है। चरखेकी चिंता छोड़कर मुझे पर-मात्मासे मिलनेको तैयार रहना चाहिए।" सारांश यह कि उत्तरायण-का अर्थ है, हृदयमें आसक्तिरूपी बादल न रहना।

अन्तिम साँसतक हाथसे कोई-न-कोई सेवाकार्य हो रहा है, भावना-की पूर्णिमा चमक रही है, हृदयाकाशमें जरा भी आसक्ति नहीं है, बुद्धि सतेज है—इस तरह जिसकी मृत्यु होगी, उसे परमात्मामें मिला ही समझो। ऐसा परम मंगलमय अंत लानेके लिए रात-दिन सावधान और दक्ष रहकर लड़ते रहना चाहिए। एक क्षणके लिए भी मनपर अशुभ संस्कार न पड़ने देना चाहिए। ऐसा बल मिलता रहे, इसके लिए परमात्मासे सतत प्रार्थना करते रहना चाहिए। नाम-स्मरण, तत्त्व-स्मरण पुनः-पुनः करते रहना चाहिए।

रविवार, १०-४-'३२

नवाँ अध्याय

मानव-सेवारूप राजविद्या : समर्पणयोग

(४१) प्रत्यक्ष अनुभवकी विद्या

आज मेरे गलेमें दर्द है। मुझे संदेह है कि मेरी आवाज आपतक पहुँच सकेगी या नहीं। इस समय साधुचरित बड़े माधवराव पेशवाके अंत समयकी बात स्मरण आ रही है। यह महापुरुष मरण-शय्यापर पड़ा था। कफ बहुत बढ़ गया था। कफका अतिसारमें पर्यवसान किया जा सकता है। अतः माधवरावने वैद्यसे कहा—"ऐसा करिये कि मेरा कफ छूट जाय और उसकी जगह अतिसार हो जाय। इससे राम-नाम लेनेको मुँह खुल जायगा।" मैं भी आज परमेश्वरसे प्रार्थना कर रहा था। भगवान्ने कहा—"जैसा गला हो, वैसा ही बोलता रह।" मैं जो यहाँ गीता सुना रहा हूँ, वह किसीको उपदेश देनेके लिए नहीं। जो उससे लाभ उठाना चाहते हैं, उन्हें अवश्य उससे लाभ होगा; परंतु मैं तो गीता राम-नाम समझकर सुना रहा हूँ। गीताका प्रवचन करते हुए मेरी भावना 'हरि-नाम' की रहती है।

मैं जो यह कह रहा हूँ, उसका आजके अध्यायसे संबंध है। इस अध्यायमें हरि-नामकी अपूर्व महिमा बतायी गयी है। यह अध्याय गीताके मध्य-भागमें खड़ा है। सारे महाभारतके मध्य गीता और गीताके मध्य यह नवाँ अध्याय! अनेक कारणोंसे इस अध्यायको पावनता प्राप्त हो गयी है। कहते हैं कि ज्ञानदेवने जब अंतिम समाधि ली, तो उन्होंने इस अध्यायका जप करते हुए प्राण छोड़ा था। इस अध्यायके स्मरणमात्रसे मेरी आँखें छलछलाने लगती हैं और दिल भर आता है। व्यासदेवका यह कितना बड़ा उपकार है! केवल भारतवर्ष-पर ही नहीं, सारी मनुष्य-जातिपर उनका यह उपकार है। जो अपूर्व बात भगवान्ने अर्जुनको बतायी, वह शब्दोंद्वारा प्रकट करने योग्य न थी। परन्तु दयाभावसे प्रेरित होकर व्यासजीने इसे संस्कृत-भाषाद्वारा

प्रकट कर दिया। गुप्त वस्तुको वाणीका रूप दिया। इस अध्यायके आरम्भमें भगवान् कहते हैं—

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।

यह जो राज-विद्या है, यह जो अपूर्ववस्तु है, वह प्रत्यक्ष अनुभव करनेकी है। भगवान् उसे 'प्रत्यक्षावगम' कहते हैं। शब्दोंमें न समानेवाली, परंतु प्रत्यक्ष अनुभवकी कसौटीपर कसी हुई यह बात इस अध्यायमें बतायी गयी है। इससे यह बहुत मधुर हो गया है। तुलसीदासजीने कहा—

को जाने को जैहै जम-पुर, को सुर-पुर पर-धामको।
तुलसिहिं बहुत भलो लागत, जग-जीवन रामगुलामको ॥

मरनेके बाद मिलनेवाले स्वर्ग और उसकी कथाओंसे यहाँ क्या काम चलेगा ? कौन कह सकता है कि स्वर्ग कौन जाता है और यम-पुर कौन जाता है ? यदि संसारमें चार दिन रहना है, तो रामका गुलाम बनकर रहनेमें ही मुझे आनंद है—ऐसा तुलसीदासजी कहते हैं। रामका गुलाम होकर रहनेकी मिठास इस अध्यायमें है। प्रत्यक्ष इसी देहमें, इन्हीं आँखोंसे अनुभूत होनेवाला फल, जीते-जी अनुभव की जानेवाली बातें इस अध्याय में बतायी गयी हैं। जब गुड़ खाते हैं, तो उसकी मिठास प्रत्यक्ष मालूम होती है। उसी तरह रामका गुलाम होकर रहने की मिठास यहाँ है। इस मृत्यु-लोकके जीवनका मजा प्रत्यक्ष दिखानेवाली यह राज-विद्या इस अध्यायमें कही गयी है। वह वैसे गूढ़ है, परंतु भगवान् उसे सबके लिए सुलभ और खोलकर रख रहे हैं।

(४२) सरल मार्ग

गीता वैदिक धर्मका सार है। वैदिक धर्मका अर्थ है, वेदोंसे निकला हुआ धर्म। इस जगतीतलपर जितने अति प्राचीन लेख हैं, उनमें वेद सबसे पहले लेख माने जाते हैं। इसी कारण भावुक लोग उन्हें अनादि मानते हैं। इसीसे वेद पूज्यताको प्राप्त हुए। यदि इतिहासकी दृष्टिसे देखा जाय, तो भी वे हमारे समाजकी प्राचीन

भावनाओंके प्राचीनतम चिह्न हैं। ताम्रपट, शिला-लेख, सिक्के, बरतन, प्राणियोंके अवशेष आदिकी अपेक्षा ये लिखित साधन बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। संसारमें पहला ऐतिहासिक प्रमाण यदि कोई है, तो वह वेद है। इन वेदोंमें जो धर्म बीजरूपमें था, वृक्ष होते-होते अंतमें उसमें गीतारूपी दिव्य मधुर फल लगा। फलके सिवा पेड़का हम खायें भी क्या? जब वृक्षमें फल लगते हैं, तभी हमारे खानेकी चीज उसमें हमें मिल सकती है। वेद-धर्मके सारका भी सार यह गीता है।

यह जो वेद-धर्म प्राचीन कालसे रूढ़ था, उसमें नाना यज्ञ-याग, क्रिया-कलाप, विविध तपश्चर्या, अनेक साधनाएँ बतलायी गयीं। यह जो सारा कर्मकांड है, यद्यपि वह निरुपयोगी नहीं है, तो भी उसके लिए अधिकार चाहिए। वह कर्मकांड सबके लिए सुलभ न था। ऊँचे नारियलके पेड़पर चढ़कर फल कौन तोड़े, कौन छीले और कौन फोड़े? मैं चाहे कितना ही भूखा होऊँ, पर ऊँचे पेड़का वह नारियल मुझे मिले कैसे? मैं नीचेसे उसकी ओर देखता हूँ, ऊपरसे नारियल मुझे देखता है। परंतु इससे पेटकी ज्वाला कैसे बुझेगी? जबतक वह नारियल मेरे हाथमें न पड़े, तबतक सब व्यर्थ है। वेदोंकी इन नाना क्रियाओंमें बड़े बारीक विचार रहते हैं। जन-साधारणको उनका ज्ञान कैसे हो? वेद-मार्गके सिवा मोक्ष नहीं, परंतु वेदोंका तो अधिकार नहीं। तब दूसरोंका काम कैसे चले? अतः कृपासागर संत लोग आगे बढ़कर बोले—"आओ, हम इन वेदोंका रस निकाल लें। वेदोंका सार थोड़ेमें निकालकर संसारको दें।" इसलिए तुकाराम महाराज कहते हैं—

वेद अनन्त बोलला। अर्थ इतुका चि साधला॥

'वेदोंने अनन्त बातें कही हैं, परन्तु उनमेंसे केवल इतना ही सार अर्थ निकला है।'

वह अर्थ क्या है? तो हरिनाम। हरिनाम वेदोंका सार है। राम-नामसे मोक्ष निश्चित हुआ। स्त्रियाँ, बच्चे, शूद्र, वैश्य, गँवार, दीन, दुर्बल, रोगी, पंगु, सबके लिए मोक्ष सुलभ हो गया। वेदोंकी

अलमारीमें बंद मोक्षको भगवान्‌ने चौराहेपर लाकर रख दिया। मोक्षकी यह कितनी सीधी-सादी, सरल तरकीब ! जिसका जैसा सीधा-सादा जीवन है, जो कुछ स्वधर्म-कर्म है, सेवा-कर्म है, उसीको यज्ञरूप क्यों न बना दें ? फिर दूसरे यज्ञ-यागकी जरूरत ही क्या है ? तुम्हारा नित्यका जो सीधा-सादा सेवा-कर्म है, उसीको यज्ञ समझकर करो। यही राज-मार्ग है।

यानास्थाय नरो राजन् न प्रमाद्येत कर्हिचित्।
धावन्निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिह ॥

इस मार्गपर यदि आँखें मूँदकर दौड़ते चले जाओ, तो भी गिरने या ठोकर खानेका भय नहीं। दूसरा मार्ग है—क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया; तलवारकी धार भी शायद थोड़ी भोथरी पड़ेगी। यह वैदिक मार्ग इतना विकट है। इसकी अपेक्षा रामका गुलाम होकर रहनेका मार्ग अधिक सुलभ है। इंजीनियर रास्तेकी ऊँचाई धीरे-धीरे बढ़ाता हुआ ऊपर ले जाता है और हमें ऊँचे शिखरपर ला बिठाता है। हमें सहसा पता भी नहीं लगता कि इतने ऊँचे चढ़ रहे हैं। इंजीनियरकी इस खूबीकी तरह ही इस राज-मार्गकी खूबी है। मनुष्य जिस जगह कर्म करते हुए खड़ा है, वहीं उस सादे कर्मद्वारा वह परमात्माको प्राप्त कर सकता है—ऐसा यह मार्ग है।

परमेश्वर क्या कहीं छिपकर बैठा है ? किसी खोहमें, किसी गलीमें, किसी नदीमें या किसी स्वर्गमें वह लुककर बैठ गया है ? लाल, नीलम, चाँदी-सोना पृथ्वीके पेटमें छिपा रहता है। मोती-मूँगा रत्नाकर समुद्रमें छिपे रहते हैं। वैसा वह परमेश्वररूपी 'लाल रतन' क्या कहीं छिपा हुआ है ? भगवान्‌को कहींसे खोदकर निकालना है ? वह तो हमेशा हम सबके सामने और सर्वत्र खड़ा ही है। ये सभी लोग परमात्माकी ही तो मूर्तियाँ हैं। भगवान् कहते हैं—"इस मानव-रूपमें प्रकटित हरि-मूर्तिका अपमान मत करो भाई।" ईश्वर ही सब चराचर रूपमें प्रकट हो रहा है। उसे खोजनेके लिए कृत्रिम उपायोंकी क्या जरूरत ? उपाय तो सीधा सरल है। तुम जो कुछ सेवा-कार्य करो,

उस सबका संबंध भगवान्‌से जोड़ दो; बस, काम बना। तुम रामके गुलाम हो जाओ। वह कठिन वेद-मार्ग, वह यज्ञ, वह स्वाहा, वह स्वधा, वह श्राद्ध, वह तर्पण—सब हमें मोक्षकी ओर ले जायँगे। परंतु इसमें अधिकारी और अनधिकारीका झमेला खड़ा होता है। हमें उसकी जरूरत ही नहीं। इतना ही करो कि जो कुछ करते हो, वह ईश्वरार्पण कर दो। अपनी प्रत्येक कृतिका संबंध ईश्वरसे जोड़ दो। इस नवें अध्यायकी यही शिक्षा है। इसलिए वह भक्तोंको बहुत प्रिय है।

(४३) अधिकार-भेदकी झंझट नहीं

कृष्णके सारे जीवनसें उसका बचपन बहुत ही मधुर है। बाल-कृष्णकी ही विशेष उपासना की जाती है। वह ग्वाल-बालोंके साथ गायें चराने जाता, उनके साथ खाता-पीता और हँसता-बोलता। इंद्रकी पूजा करनेके लिए जब ग्वाल-बाल निकले, तो उसने उनसे कहा—"इंद्रको किसने देखा है? उसके उपकार ही क्या हैं? पर यह गोवर्धन पर्वत हमें प्रत्यक्ष दिखाई देता है। यहाँ गायें चरती हैं। इसमें पानीके सोते निकलते हैं। अतः तुम इसीकी पूजा करो।" ऐसी बातें वह उन्हें सिखाया करता। जिन ग्वालोंमें खेला, जिन गोपियोंसे हँसा-बोला, जिन गाय-बछड़ोंमें रमा, उन सबके लिए उसने मोक्षका द्वार खोल दिया। कृष्ण परमात्माने अपने अनुभवसे यह सरल मार्ग बताया है। बचपनमें उसका काम गाय-बछड़ोंसे पड़ा। बड़े होनेपर घोड़ोंसे। मुरलीकी ध्वनि सुनते ही गायें गद्‌गद हो जातीं और कृष्णके हाथ फेरते ही घोड़े फुरफुराने लगते। वे गाय-बछड़े और वे रथके घोड़े कृष्णमय हो जाते। पाप-योनि माने गये उन पशुओंको भी मानो मोक्ष मिल जाता था। मोक्षपर केवल मनुष्यका ही अधिकार नहीं, बल्कि पशु-पक्षीका भी है—यह बात श्रीकृष्णने साफ कर दी है। अपने जीवनमें उन्होंने इस बातका अनुभव किया था।

जो अनुभव भगवान्‌को हुआ, वही व्यासजीको भी हुआ। कृष्ण और व्यास, दोनों एकरूप हैं ही। दोनोंके जीवनका सार भी एक ही है।

मोक्ष न विद्वत्तापर अवलंबित है, न कर्म-कलापपर। उसके लिए तो सीधी-सादी भक्ति ही काफी है। 'मैं'-'मैं' कहनेवाले ज्ञानी पीछे ही बने रहे और भोली-भावुक स्त्रियाँ उनसे आगे बढ़ गयीं। यदि मन पवित्र हो और सीधा-भोला पवित्र भाव हो, तो फिर मोक्ष कठिन नहीं है। महाभारतमें 'जनक-सुलभा-संवाद' नामक एक प्रकरण है। उसमें व्यासने एक ऐसे प्रसंगकी रचना की है, जिसमें राजा जनक ज्ञान-प्राप्तिके लिए एक स्त्रीके पास गये हैं। आप लोग भले ही बहस करते रहें कि स्त्रियोंको वेदोंका अधिकार है या नहीं; परंतु सुलभा तो यहाँ प्रत्यक्ष जनक राजाको ब्रह्मविद्या सिखा रही है। वह एक मामूली स्त्री और जनक कितना बड़ा सम्राट्! कितनी विद्याओंसे सम्पन्न! पर उस महाज्ञानी जनकके हाथ मोक्ष नहीं था। इसलिए व्यासदेवने उसे सुलभाके चरणोंमें गिरनेके लिए भेजा। ऐसी ही बात उस तुलाधार वैश्यकी है। जाजलि ब्राह्मण उसके पास ज्ञान पानेके लिए जाता है। तुलाधार कहता है—"तराजूकी डंडी सीधी रखनेमें ही मेरा सारा ज्ञान समाया हुआ है!" वैसी ही कथा व्याधकी है। व्याध ठहरा कसाई। पशुओंको मारकर वह समाजकी सेवा करता था। एक अहंकारी तपस्वी ब्राह्मणसे उसके गुरुने उस व्याधके पास जानेके लिए कहा। ब्राह्मणको आश्चर्य हुआ कि यह कसाई मुझे क्या ज्ञान देगा? ब्राह्मण व्याधके पास गया। व्याध क्या कर रहा था? मांस काट रहा था, धो रहा था और साफ करके उसे बिक्रीके लिए रख रहा था। उसने ब्राह्मणसे कहा—"देखो, मेरा यह कर्म जितना धर्ममय किया जा सकता है, उतना मैं करता हूँ। अपनी आत्मा जितनी इस कर्ममें उँडेली जा सकती है, उतनी उँडेलकर मैं यह कर्म करता हूँ और अपने माँ-बापकी सेवा करता हूँ।" ऐसे इस व्याधके रूपमें व्यासदेवने आदर्श मूर्ति खड़ी की है।

महाभारतमें ये जो स्त्री, वैश्य, शूद्र आदिकी कथाएँ आयी हैं, उनका उद्देश्य यही है कि सबको यह साफ-साफ दीख जाय कि मोक्षका द्वार सबके लिए खुला है। इन कथाओंका तत्त्व इस नवें अध्यायमें

बतलाया गया है। इन कथाओंपर इस अध्यायमें मुहर लगायी गयी है। रामका गुलाम होकर रहनेमें जो मिठास है, वही व्याधके जीवनमें है। संत तुकाराम अहिंसक थे, परन्तु उन्होंने बड़े चावसे यह वर्णन किया है कि सजन कसाईने कसाईका काम करके मोक्ष प्राप्त कर लिया। तुकारामने एक जगह पूछा है—"भगवन्, पशुओंका वध करनेवालोंकी क्या गति होगी ?" परन्तु—

सजन कसाया विकूं लागे मांस।

—'सजन कसाईके साथ मांस बेचता है' यह चरण लिखकर उन्होंने कहा है कि भगवान् सजन कसाईकी मदद करते हैं। नरसी मेहताकी हुंडी सकारनेवाला, एकनाथके यहाँ काँवर भरकर लानेवाला, दामाजीके लिए महार‡ बननेवाला, महाराष्ट्रकी प्रिय जनाबाईको कूटने-पीसनेमें मदद करनेवाला भगवान् सजन कसाईकी भी उतने ही प्रेमसे मदद करता है, ऐसा तुकाराम कहते हैं। सारांश यह कि अपने कृत्योंका संबंध परमेश्वरसे जोड़ना चाहिए। कर्म यदि शुद्ध भावनासे पूर्ण और सेवामय हो, तो वह यज्ञ-रूप ही है।

(४४) कर्मफल भगवान्को अर्पण

नवें अध्यायमें यही विशेष बात कही गयी है। इसमें कर्म-योग और भक्ति-योगका मधुर मिलाप है। कर्म-योगका अर्थ है, कर्म तो करना, परन्तु फलका त्याग कर देना। कर्म ऐसी खूबीसे करो कि फल-की वासना चित्तको न छुए। यह अखरोटके पेड़ लगाने जैसा है। अखरोटके वृक्षमें पचीस वर्षमें फल लगते हैं। लगानेवालेको अपने जीवनमें शायद ही उसके फल चखनेको मिलें। फिर भी पेड़ लगाना है और उसे बहुत प्रेमसे पानी पिलाना है। कर्मयोगका अर्थ है—पेड़ लगाना और फलकी अपेक्षा न रखना। और भक्ति-योग किसे कहते हैं ? भावपूर्वक ईश्वरके साथ जुड़ जानेका अर्थ है भक्ति-योग। राज-योग-में कर्म-योग और भक्ति-योग, दोनों इकट्ठे हो जाते हैं। राज-योगकी कई

‡ महाराष्ट्रकी एक हरिजन-जाति।

लोगोंने कई व्याख्याएँ की हैं, परन्तु राजयोग यानी कर्म-योग और भक्ति-योगका मधुर सिश्रण, ऐसी मैं संक्षेपमें उसकी व्याख्या करता हूँ।

कर्म तो करना है, पर फल फेंकना नहीं, प्रभुको अर्पण कर देना है। फल फेंक देनेका अर्थ होता है फलका निषेध, किंतु अर्पणमें ऐसा नहीं होता। कितनी सुंदर व्यवस्था है यह! वहुत माधुरी है इसमें। फल छोड़नेका यह अर्थ नहीं कि फल कोई लेगा ही नहीं। कोई-न-कोई तो फल लेगा ही। किसी-न-किसीको तो वह मिलेगा ही। फिर ऐसे तर्क खड़े हो सकते हैं कि जो इस फलको पायेगा, वह इसका अधिकारी भी है या नहीं? कोई भिखारी घर आ जाता है, तो हम झट कहते हैं—"तू मोटा-ताजा है। भीख माँगना तुझे शोभा नहीं देता। चला जा।" हम इस वातका विचार करते हैं कि उसका भीख माँगना उचित है या नहीं। भिखारी वेचारा शर्मिन्दा होकर चला जाता है। हममें सहानुभूतिका पूर्ण अभाव है। फिर भीख माँगनेवालेकी योग्यता हम ठहरायेंगे कैसे? वचपनमें मैंने एक बार अपनी माँसे भिखारियोंके बारेमें ऐसी ही शंका की थी। उसने जो उत्तर दिया, वह अभीतक मेरे कानोंमें गूँज रहा है। मैंने उससे पूछा—"यह भिखारी तो हट्टा-कट्टा दीखता है। इसको भिक्षा देनेसे तो व्यसन और आलस्य ही बढ़ेंगे।" गीताका देशे काले च पात्रे च यह श्लोक भी मैंने उसे सुनाया। उसने जवाब दिया—"जो भिखारी आया, वह परमेश्वर ही था। अब कर पात्रापात्रका विचार। भगवान्‌को क्या अपात्र कहेगा? पात्रापात्रके विचार करनेका तुझे और मुझे क्या अधिकार है? अधिक विचार करनेकी मुझे जरूरत ही नहीं मालूम होती। मेरे लिए वह भगवान् ही है।" माँके इस उत्तरका कोई उपयुक्त प्रत्युत्तर मुझे अभीतक नहीं सूझा है।

दूसरोंको भोजन कराते समय मैं उसकी पात्रापात्रताका विचार करता हूँ; परंतु अपने पेटमें रोटी डालते समय मुझे यह खयालतक नहीं आता कि मुझे भी इसका कोई अधिकार है या नहीं? जो हमारे दरवाजे आ जाता है, उसे अभद्र भिखारी ही क्यों समझा जाय? जिसे हम देते हैं, वह भगवान् ही है, ऐसा हम क्यों न समझें? राजयोग कहता है—

"तुम्हारे कर्मका फल किसी-न-किसीको तो मिलेगा ही न ? तो उसे भगवान्‌को ही दे डालो। उसीको अर्पण कर दो।" राजयोग उचित थान बता रहा है। यहाँ फलत्यागरूपी निषेधात्मक कर्म भी नहीं है और सब कुछ भगवान्‌को ही अर्पण करना है, इसलिए पात्रापात्रका भी प्रश्न हल हो जाता है। भगवान्‌को जो दान दिया गया है, वह सर्वदा शुद्ध ही है। तुम्हारे कर्ममें यदि दोष भी रहा हो, तो उसके हाथोंमें पड़ते ही वह पवित्र हो जायगा। हम दोष दूर करनेका कितना ही उपाय करें, तो भी दोष बाकी रहता ही है। फिर भी हम जितने शुद्ध होकर कर्म कर सकें, करें। बुद्धि ईश्वरकी देन है। उसे जितना शुद्ध-रूपमें हो सके, काममें लाना हमारा कर्तव्य ही है। ऐसा न करना अपराध होगा। अतः पात्रापात्र-विवेक भी करना ही चाहिए; किन्तु भगवद्-भाव रखनेसे वह सुलभ हो जाता है।

फलका विनियोग चित्त-शुद्धिके लिए करना चाहिए। जो काम जैसा हो जाय, वैसा ही उसे भगवान्‌को अर्पण कर दो। प्रत्यक्ष क्रिया जैसे-जैसे होती जाय, वैसे-ही-वैसे उसे भगवान्‌को अर्पण करके मनस्तुष्टि प्राप्त करते रहना चाहिए। फलको छोड़ना नहीं है, उसे भगवान्‌को अर्पण कर देना है। यह तो क्या, मनमें उत्पन्न होनेवाली वासनाएँ और काम-क्रोधादि विकार भी परमेश्वरको अर्पण करके छुट्टी पाना है।

काम-क्रोध आम्हीं वाहिले विट्ठलीं।

'काम-क्रोध मैंने प्रभुके अर्पण कर दिये हैं।'

यहाँ न तो संयमाग्निमें जलना है, न झुलसना। चट अर्पण किया और छूटे। न किसीको दबाना, न मारना!

रोग जाय दुधें साखरें। तरी निंब कां पियावा॥

'जो गुड़ दीन्हें ते मरें, माहुर काहे देय।'

इंद्रियाँ भी साधन हैं। उन्हें ईश्वरार्पण कर दो। कहते हैं—"कान हमारी नहीं सुनते", तो फिर क्या सुनना ही बंद कर दें? नहीं, सुनो जरूर, पर हरि-कथा ही सुनो। न सुनना बड़ा कठिन है। परंतु हरि-कथारूपी श्रवणका विषय देकर कानका उपयोग करना अधिक सुलभ,

मधुर और हितकर है। अपने कान तुम रामको दे दो। मुखसे राम-नाम लेते रहो। इंद्रियाँ शत्रु नहीं हैं। वे अच्छी हैं। उनकी सामर्थ्यका ठिकाना नहीं। अतः ईश्वरार्पण-बुद्धिसे प्रत्येक इंद्रियसे काम लेना—यही राज-मार्ग है। इसीको 'राजयोग' कहते हैं।

(४५) विशिष्ट क्रियाका आग्रह नहीं

ऐसा नहीं कि कोई खास क्रिया ही भगवान्‌को अर्पण करनी है। कर्ममात्र उसे सौंप दो। शबरीके वे बेर! रामने उन्हें कितने प्रेमसे स्वीकार किया। परमेश्वरकी पूजा करनेके लिए गुफामें जाकर बैठनेकी जरूरत नहीं है। तुम जहाँ जो भी कर्म करो, वह परमेश्वरको अर्पण करो। माँ बच्चेको सँभालती है, मानो भगवान्‌को ही सँभालती है। बच्चेको नहलाती क्या है, परमेश्वरपर रुद्राभिषेक ही करती है। बालक परमेश्वरीय कृपाकी देन है, ऐसा मानकर माँको चाहिए कि वह परमेश्वर-भावनासे बच्चेका लालन-पालन करे। कौशल्या रामकी और यशोदा कृष्णकी चिंता कितने दुलारसे करती थीं? उसका वर्णन करते हुए शुक, वाल्मीकि, तुलसीदासने अपनेको धन्य माना। उस क्रियामें उन्हें अपार कौतुक मालूम होता है। माताकी वह सेवा-संगोपन-क्रिया बहुत उच्च है। वह बालक, परमेश्वरकी वह मूर्ति, उस मूर्तिकी सेवासे बढ़कर सद्भाग्य क्या हो सकता है? यदि एक-दूसरेकी सेवा करते समय हम ऐसी ही भावना रखें, तो हमारे कर्मोंमें कितना परिवर्तन हो जाय। जिसको जो सेवा मिल गयी, वह ईश्वरकी ही सेवा है, ऐसी भावना करते रहना चाहिए।

किसान बैलकी सेवा करता है। उस बैलको क्या तुच्छ समझना चाहिए? नहीं, वेदोंमें वामदेवने शक्तिरूपसे विश्वव्याप्त जिस बैलका वर्णन किया है, वही उस किसानके बैलमें भी मौजूद है—

> चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
> त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश॥

—'जिसके चार सींग हैं, तीन पैर हैं, दो सिर हैं, सात हाथ हैं, जो तीन जगह बँधा हुआ है, जो महान् तेजस्वी होकर सब मर्त्य वस्तुओंमें व्याप्त

है, उसी गर्जना करनेवाले विश्वव्यापी बैलकी पूजा किसान करता है।' टीकाकारोंने इस एक ऋचाके पाँच-सात भिन्न-भिन्न अर्थ दिये हैं। यह बैल है भी विचित्र! आकाशमें गर्जना करके जो बैल पानी बरसाता है, वही मल-मूत्रकी वृष्टि करके खेतमें फसल पैदा करनेवाले इस किसानके बैलमें मौजूद है। यदि किसान इस उच्च भावनासे अपने बैलोंकी सेवा करेगा, तो उसकी यह मामूली सेवा भी ईश्वरके अर्पण हो जायगी।

इसी तरह हमारे घरकी गृह-लक्ष्मी जो चौका लगाकर रसोई-घरको साफ-सुथरा रखती है, चूल्हा जलाती है, स्वच्छ और सात्त्विक भोजन बनाती है और यह इच्छा रखती है कि यह रसोई मेरे घरके सब लोगोंको पुष्टि-तुष्टिदायक हो, तो उसका यह सारा कर्म यज्ञरूप ही है। चूल्हा क्या, मानो उस माताने एक छोटा-सा यज्ञ ही जगाया है। परमेश्वरको तृप्त करनेकी भावना मनमें रखकर जो भोजन तैयार किया जायगा, वह कितना स्वच्छ और पवित्र होगा, जरा इसकी कल्पना तो कीजिये। यदि उस गृहलक्ष्मीके मनमें ऐसी उच्च भावना हो, तो उसे फिर भागवतकी ऋषि-पत्नियोंके ही समतोल रखना होगा। ऐसी कितनी ही माताएँ सेवा करके तर गयी होंगी और 'मैं-मैं' करनेवाले पंडित और ज्ञानी कोनेमें ही पड़े रहे होंगे!

(४६) सारा जीवन हरिमय हो सकता है

हमारा दैनिक, क्षण-क्षणका जीवन मामूली दिखाई देता हो, तो भी वह वास्तवमें वैसा नहीं होता। उसमें बड़ा अर्थ भरा है। सारा जीवन एक महान् यज्ञ-कर्म ही है। तुम्हारी निद्रा क्या, एक समाधि है। सब प्रकारके भोगोंको यदि हम ईश्वरार्पण करके निद्रा लेंगे, तो वह समाधि नहीं तो क्या होगी? हम लोगोंमें स्नान करते समय पुरुष-सूक्तके पाठ करनेकी रूढ़ि चली आ रही है। अब सोचो कि इस स्नानकी क्रियासे इस पुरुषसूक्तका क्या संबंध? देखना चाहोगे तो सम्बन्ध जरूर दिखेगा। जिस विराट् पुरुषके हजार हाथ और हजार आँखें हैं, उसका मेरे इस स्नानसे क्या सम्बन्ध? सम्बन्ध यह कि तुम

जो लोटाभर जल सिरपर डालते हो, उसमें हजारों बूँदें हैं। वे बूँदें तुम्हारा मस्तक धो रही हैं—तुम्हें निष्पाप बना रही हैं। मानो तुम्हारे मस्तकपर ईश्वरका आशीर्वाद बरस रहा है। परमेश्वरके सहस्र हाथोंसे सहस्रधारा ही मानो तुमपर बरस रही है। इन बूँदोंके रूपसें मानो परमेश्वर ही तुम्हारे सिरके अंदरका मैल धो रहे हैं। ऐसी दिव्य भावना उस स्नानमें उँडेलो, तो वह स्नान कुछ और ही हो जायगा, उस स्नानमें अनन्त शक्ति आ जायगी।

कोई भी कर्म जब इस भावनासे किया जाता है कि वह परमेश्वरका है, तो मामूली होनेपर भी पवित्र हो जाता है, यह बात अनुभवसिद्ध है। मनमें जरा यह भावना करके देखो तो कि जो व्यक्ति हमारे घर आया है, वह ईश्वररूप है। मामूली तौरपर कोई बड़ा आदमी भी जब हमारे घर आता है, तो हम कितनी सफाई रखते हैं और कैसा बढ़िया भोजन बनाते हैं। फिर यदि यह भावना करें कि परमेश्वर है तो भला बताओ, हमारी उस भावनामें कितना फर्क पड़ जायगा। कबीर कपड़े बुनता था। उसीमें निमग्न होकर वह गाता—

झीनी झीनी बीनी चदरिया।

यह गाता हुआ झूमता जाता, मानो परमेश्वरको ओढ़ानेके लिए वह चादर बुन रहा हो। ऋग्वेदका ऋषि कहता है—

वस्त्रेव भद्रा सुकृता सुपाणी।

मैं अपना यह स्तोत्र सुन्दर हाथोंसे बुने हुए वस्त्रकी तरह ईश्वरको ग्रहण कराता हूँ। कवि स्तोत्र बनाता है ईश्वरके लिए। बुनकर जो वस्त्र बनाता है, सो भी ईश्वरके लिए ही। कैसी हृदयंगम कल्पना! कितना चित्तको विशुद्ध बनानेवाला और हृदयको हिलोर देनेवाला विचार! यह भावना यदि जीवनमें एक बार आ जाय, तो फिर जीवन कितना निर्मल हो जायगा! अँधेरेमें बिजली चमकती है, तो वह अँधेरा एक क्षणमें प्रकाश बन जाता है। वह अंधकार क्या धीरे-धीरे प्रकाश बनता है? नहीं, एक क्षणमें ही सारा भीतर-बाहर परिवर्तन हो जाता है। उसी तरह प्रत्येक क्रियाको ईश्वरसे जोड़ देते ही जीवनमें एकदम अद्भुत

शक्ति आती है। प्रत्येक क्रिया विशुद्ध होने लगती है। जीवनमें उत्साहका संचार होता है। आज हमारे जीवनमें उत्साह है कहाँ ? हम जी रहे हैं, क्योंकि मरते नहीं। उत्साहका चारों ओर अकाल है। कलाहीन रोता जीवन ! परन्तु जरा यह भाव मनमें लाओ कि हमें अपनी सब क्रियाएँ ईश्वरके साथ जोड़नी हैं। फिर देखोगे कि तुम्हारा जीवन कितना रमणीय और नमनीय हो जाता है।

इसमें शक नहीं कि परमेश्वरके एक नाममात्रसे झट परिवर्तन हो जाता है। यह मत कहो कि राम कहनेसे क्या होता है। जरा कहकर तो देखो। कल्पना करो कि संध्या समय किसान काम करके घर लौट रहा है। रास्तेमें उसे कोई यात्री मिल जाता है। वह उससे कहता है—

चाल घरा उभा राहें नारायणा।

'भाई यात्री, ओ नारायण, जरा ठहरो। अब रात हो आयी। भगवन्, मेरे घर चलो।' उस किसानके मुँहसे ऐसे शब्द निकलने तो दो, फिर देखो, उस यात्रीका रूप बदलता है या नहीं। वह यात्री यदि डाकू और लुटेरा होगा, तो भी पवित्र हो जायगा। यह फर्क भावनाके कारण होता है। भावनामें ही सब कुछ भरा है। जीवन भावनामय है। बीस सालका एक पराया लड़का घर आता है, पिता उसे अपनी कन्या देता है। वह लड़का है तो सिर्फ बीस सालका, परन्तु पचास सालका श्वशुर उसके पैर छूता है, यह क्या बात है ? कन्या-अर्पण करनेका वह कार्य ही कितना पवित्र है। वह जिसे दी जाती है, वह परमेश्वर ही मालूम होता है। यह जो भावना दामादके प्रति, वरके प्रति रखी जाती है, उसीको और ऊपर ले जाओ और आगे बढ़ाओ।

कोई कहेगा कि आखिर ऐसी झूठी कल्पना करनेसे लाभ क्या ? मैं कहता हूँ कि पहलेसे ही सच्चा-झूठा मत कहो। पहले अभ्यास करो, अनुभव लो, तब तुम्हें सच-झूठ मालूम हो जायगा। उस कन्या-दानमें कोरी शाब्दिक नहीं, किन्तु यह सच्ची भावना करो कि वह जमाई सचमुच ही परमात्मा है, तो फिर देखोगे कि कितना फर्क पड़ जाता है। इस पवित्र भावनाके प्रभावसे वस्तुके पूर्व-रूप और उत्तर-रूपमें जमीन-

आसमानका अन्तर पड़ जायगा। कुपात्र सुपात्र बन जायगा। दुष्ट सुष्ट बन जायगा। वाल्या भीलका कायापलट इसी तरह हुआ न? वीणापर उँगलियाँ नाच रही हैं, मुखसे नारायण नामका जप चल रहा है और मारनेके लिए दौड़ता है, तब भी शांति डिगती नहीं, वल्कि उसकी ओर प्रेमपूर्ण दृष्टिसे निहारता है—वाल्याने ऐसा दृश्य ही इससे पहले कभी नहीं देखा था। उसने अभीतक दो ही प्रकारके प्राणी देखे थे—एक तो उसकी तीर-कमान देखकर भाग जानेवाले या उलटकर उसपर हमला करनेवाले। परंतु नारद उसे देखकर न तो भागे, न हमला ही किया, वल्कि शांत भावसे खड़े रहे। वाल्याकी तीर-कमान रुक गयी। नारदकी न भौंह हिलीं, न आँखें झपकीं—मधुर भजन ज्यों-का-त्यों जारी रहा। नारदने वाल्यासे पूछा—"तुम्हारा तीर क्यों रुक गया?" वाल्याने कहा—"आपके शांत भावको देखकर।" नारदने वाल्याका रूपांतर कर दिया। वह रूपांतर झूठ था या सच?

सचमुच संसारमें कोई दुष्ट है भी या नहीं, इसका निर्णय आखिर कौन करे? कोई असली दुष्ट सामने आ जाय, तो भी ऐसी भावना करो कि यह परमात्मा है। वह दुष्ट हो भी, तो संत बन जायगा। तो क्या झूठ-मूठ यह भावना करें? मैं कहता हूँ, किसको पता है कि वह दुष्ट ही है? कुछ लोग कहते हैं कि सज्जन लोग खुद अच्छे होते हैं, इसलिए उन्हें सब कुछ अच्छा दिखाई पड़ता है। परन्तु वास्तवमें ऐसा नहीं होता। तो फिर तुम्हें जैसा दिखाई देता है, उसीको सच मान लें? सृष्टिके सम्यक् ज्ञान होनेका साधन मानो अकेले दुष्टोंके ही पास है। यह क्यों न कहें कि सृष्टि तो अच्छी है, पर तुम दुष्ट हो, इसलिए वह तुम्हें दुष्ट दिखाई देती है। देखो, सृष्टि तो आईना है। तुम जैसे होगे, वैसा ही सामनेकी सृष्टिमें तुम्हारा प्रतिबिंब दिखाई देगा। जैसी हमारी दृष्टि, वैसा ही सृष्टिका रूप! इसलिए ऐसी कल्पना करो कि यह सृष्टि अच्छी है, पवित्र है। अपनी मामूली क्रियामें भी ऐसी भावनाका संचार करो। फिर देखो कि क्या चमत्कार होता है। भगवान् यही बात समझा देना चाहते हैं—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥

तुम, जो कुछ करो, सब ज्यों-का-त्यों भगवान्को अर्पण कर दो।

मेरी माँ बचपनमें एक कहानी सुनाया करती थी। बात मजेदार है, परन्तु उसका रहस्य बहुत मूल्यवान् है। एक स्त्री थी। उसका यह निश्चय था कि जो कुछ करूँगी, कृष्णार्पण कर दूँगी। चौका लीपनेके बाद बची हुई गोबर-मिट्टीका गोला बनाकर बाहर फेंकती और कह देती—'कृष्णार्पणमस्तु।' होता क्या कि वह गोबरका गोला वहाँसे उठता और मंदिरमें भगवान्की मूर्तिके मुँहपर जा चिपकता। पुजारी बेचारा मूर्तिको धो-धोकर थक गया, पर कुछ उपाय नहीं चलता था। अंतमें मालूम हुआ कि यह करामात उस स्त्रीकी थी। जबतक वह स्त्री जीवित है, तबतक मूर्ति कभी साफ रह ही नहीं सकती। एक दिन वह स्त्री बीमार हो गयी। मरणकी अन्तिम घड़ी निकट आ गयी। उसने मरणको भी कृष्णार्पण कर दिया। उसी समय मंदिरकी मूर्तिके टुकड़े-टुकड़े हो गये। मूर्ति टूटकर गिर पड़ी। ऊपरसे विमान आया स्त्रीको लेनेके लिए। उसने विमानको भी कृष्णार्पण कर दिया। विमान जाकर मंदिरसे टकराया और वह भी टुकड़े-टुकड़े हो गया। स्वर्ग श्रीकृष्णके ध्यानके सामने बेकार है।

सारांश यह कि जो कुछ भले-बुरे कर्म हमसे बन पड़ें, उन सबको ईश्वरार्पण कर देनेसे उनमें कुछ और ही सामर्थ्य उत्पन्न हो जाती है। ज्वारका दाना यों कुछ पीलापन और लाली लिये हुए होता है। पर उसीको भूननेसे कितनी बढ़िया फूली बन जाती है। साफ-सफेद, अठपहलू, व्यवस्थित और शानदार वह फूली उस दानेके पास रखकर तो देखो, कितना अन्तर है? मगर वह फूली है उस दानेकी ही, इसमें संदेह नहीं। यह अन्तर केवल अग्निके कारण हो गया। इसी तरह उस कड़े दानेको चक्कीमें डालकर पीसो, तो उसका मुलायम आटा बन जायगा। अग्निके संपर्कसे फूली बन गयी, चक्कीमें डालनेसे मुलायम आटा बन गया। इसी तरह हमारी किसी छोटी-सी क्रियापर भी हरिस्मरणरूपी संस्कार

डालनेसे वह अपूर्व हो जायगी। भावनासे मोल बढ़ जाता है। वह गुड़ेलका मामूली-सा फूल, बेलकी पत्तियाँ, तुलसीकी मंजरी और दूबके तिनके, इन्हें तुच्छ मत मानो—

तुका म्हणे चवी आलें। जें का मिश्रित विठ्ठलें।

—'तुका कहता है कि जो भी राम-मिश्रित हो जाता है, उसमें स्वाद आ जाता है।'

प्रत्येक बातमें भगवान्‌को मिला दो और फिर अनुभव करो, इस रामरूपी मसालेके बराबर दूसरा कोई मसाला है क्या? इस दिव्य मसालेसे बढ़कर तुम दूसरा कौन-सा मसाला लाओगे? यही ईश्वर-रूपी मसाला अपनी प्रत्येक क्रियामें मिला दो, फिर सब कुछ सुंदर और रुचिकर हो जायगा।

रातको आठ बजे जब मन्दिरमें आरती हो रही हो, धूपकी सुगंध फैल रही हो, दीप जलाये जा रहे हों, आरती उतारी जा रही हो, ऐसे समय सचमुच यह भावना होती है कि हम परमात्माके दर्शन कर रहे हैं। भगवान् दिनभर जागे, अब उनके सोनेका समय हुआ। भक्त गाते हैं—

सुख निंदिया अब सोओ गोपाल।

पर शंकाशील पूछता है—"भला, भगवान् भी कहीं सोता है?"

अरे, भगवान् क्या नहीं करता? भले आदमी! अगर भगवान् सोता नहीं, जागता नहीं, तो क्या पत्थर सोयेगा, जागेगा? भाई, भगवान् ही सोता है, भगवान् ही जागता है और भगवान् ही खाता-पीता है। तुलसीदासजी प्रातःकालके समय भगवान्‌को जगाते हैं, विनय करते हैं—

जागिये रघुनाथ कुँवर पंछी बन बोले।

अपने भाई-बहनोंको, स्त्री-पुरुषोंको रामचन्द्रकी मूर्ति मानकर वे कहते हैं—"मेरे रामचन्द्रो, अब उठो।" कितना सुन्दर विचार है! नहीं तो किसी बोर्डिंगको लो। वहाँ लड़कोंको उठाते समय डाँटकर कहते हैं—"अरे, उठते हो कि नहीं?" प्रातःकालकी मंगल-वेला! ऐसे समय कठोर वाणी अच्छी लगती है? विश्वामित्रके आश्रममें राम-चंद्र सो रहे हैं। विश्वामित्र उन्हें उठा रहे हैं। वाल्मीकि-रामायणमें उसका इस प्रकार वर्णन है—

रामेति मधुरां वाणीं विश्वामित्रोऽभ्यभाषत।
उत्तिष्ठ नरशार्दूल पूर्वा सन्ध्या प्रवर्तते॥

"बेटा राम, उठो अब !" ऐसी मीठी वाणीसे विश्वामित्र उन्हें उठा रहे हैं। कितना मधुर है यह कर्म और बोर्डिंगका वह जगाना कितना कर्कश है! उस सोते हुए लड़केको ऐसा मालूम होता है, मानो कोई सात जन्मका वैरी ही जगाने आया है। पहले धीरे-धीरे पुकारो, फिर कुछ जोरसे पुकारो। परन्तु पुकारनेमें कर्कशता, कठोरता बिलकुल न हो। यदि न जगे, तो फिर दस मिनटके बाद जाओ। आशा रखो कि आज नहीं तो कल उठेगा। उसे जगानेके लिए मीठे-मीठे भजन, प्रभाती, स्तोत्र आदि सुनाओ। जगानेकी क्रिया मामूली है, परन्तु हम उसे कितना काव्यमय, सहृदय और सुन्दर बना सकते हैं? मानो भगवान्‌को ही उठाना है। परमेश्वरकी मूर्तिको ही धीरेसे जगाना है। नींदसे कैसे जगाना, यह भी एक शास्त्र है।

अपने सब व्यवहारोंमें इस कल्पनाका प्रवेश करो। शिक्षण-शास्त्रमें तो इस कल्पनाकी बड़ी ही आवश्यकता है। लड़के क्या हैं, प्रभुकी मूर्तियाँ हैं। गुरुकी यह भावना होनी चाहिए कि मैं इन देवताओंकी ही सेवा कर रहा हूँ। तब वह लड़कोंको ऐसे नहीं झिड़केगा—"चला जा अपने घर! खड़ा रह घंटेभर। हाथ लंबा कर। कैसे मैले कपड़े हैं? नाकसे कितनी रेंट बह रही है!" बल्कि हलके हाथसे नाक साफ कर देगा, मैले कपड़े धो देगा और फटे कपड़े सी देगा। यदि शिक्षक ऐसा करे, तो इसका कितना अच्छा परिणाम होगा! मार-पीटकर कहीं अच्छा नतीजा निकाला जा सकता है? लड़कोंको भी चाहिए कि वे इसी दिव्य भावनासे गुरुको देखें। गुरु शिष्योंको हरि-मूर्ति और शिष्य गुरुको हरि-मूर्ति मानें। परस्पर ऐसी भावना रखकर यदि दोनों व्यवहार करें, तो विद्या तेजस्वी होगी। लड़के भी भगवान् और गुरु भी भगवान्! यदि छात्र यह मान लें कि ये गुरु नहीं, भगवान् शंकरकी मूर्ति हैं, हम इनसे बोधामृत पा रहे हैं, इनकी सेवा करके ज्ञान प्राप्त कर रहे हैं, तो फिर सोच लीजिये कि वे गुरुके साथ कैसा व्यवहार करेंगे?

(४७) पापका भय नहीं

सब जगह प्रभु विराजमान हैं, ऐसी भावना चित्तमें बैठ जाय, तो फिर एक-दूसरेके साथ हम कैसा व्यवहार करें, यह नीति-शास्त्र हमारे अन्त:करणमें अपने-आप स्फुरने लगेगा। शास्त्र पढ़नेकी जरूरत ही न रहेगी। तब सब दोष दूर हो जायँगे, पाप पलायन कर जायँगे, दुरितोंका तिमिर हट जायगा।

तुकारामने कहा है—

> चाल केलासी मोकळा। बोल विठ्ठल वेळोवेळां।
> तुज पाप चि नाहीं ऐसें। नाम घेतां जवळीं वसे ॥

—'चल तुझे छुट्टी देता हूँ। हर श्वासपर विट्ठलका नाम ले। तेरा ऐसा एक भी पाप नहीं है, जो नाम लेनेपर भी तेरे पास बना रहे।'

अच्छा चलो, तुमको पाप करनेकी छुट्टी! मैं देखता हूँ कि तुम पाप करनेसे थकते हो या हरिनाम पाप जलानेसे थकता है। ऐसा कौन-सा जबर्दस्त और मगरूर पाप है, जो हरिनामके सामने टिक सकता है? करीं तुजसी करवती। 'करो जितने चाहे पाप।' करो, तुमसे जितने पाप बन सकें, करो। तुम्हें खुली छूट है। होने दो हरिनामकी और तुम्हारे पापोंकी कुश्ती! अरे, इस हरिनाममें इस जन्मके ही नहीं, अनंत जन्मोंके पाप पलभरमें भस्म कर डालनेकी सामर्थ्य है। गुफामें अनंत युगका अंधकार भरा हो, तो भी एक दियासलाई जलाते ही वह भागता है। उस अंधकारका प्रकाश हो जाता है। पाप जितने पुराने, उतनी ही जल्दी वे नष्ट होते हैं, क्योंकि वे मरनेको ही होते हैं। पुरानी लकड़ियोंको खाक होते देर नहीं।

राम-नामके नजदीक पाप ठहर ही नहीं सकता। बच्चे कहते हैं न कि राम कहते ही भूत भागता है। हम बचपनमें रातको श्मशान हो आते थे। श्मशानमें जाकर मेख ठोककर आनेकी शर्त लगाया करते। रातको साँप भी रहते, काँटे भी रहते, बाहर चारों ओर अंधकार रहता, फिर भी कुछ नहीं लगता। भूत कभी दिखाई ही नहीं दिया। कल्पनाके ही तो

भूत, फिर दिखने क्यों लगें ? दस वर्षके एक बच्चेमें रातको श्मशान-में जाकर आनेकी सामर्थ्य कहाँसे आ गयी ? राम-नामसे। वह सामर्थ्य सत्यरूप परमात्माकी थी। यदि यह भावना हो कि परमात्मा मेरे पास है, तो सारी दुनिया उलट पड़े, तो भी हरिका दास भयभीत न होगा। उसे कौन-सा राक्षस खा सकता है ? भले ही राक्षस उसका शरीर खाकर पचा डाले, पर उसे सत्य पचनेवाला नहीं। सत्यको पचा लेनेकी शक्ति संसारमें कहीं नहीं। ईश्वर-नामके सामने पाप टिक ही नहीं सकता। इसलिए ईश्वरसे जी लगाओ। उसकी कृपा प्राप्त कर लो। सब कर्म उसे अर्पण कर दो। उसीके हो जाओ। अपने सब कर्मोंका नैवेद्य प्रभुको अर्पण करना है, इस भावनाको उत्तरोत्तर अधिक उत्कट बनाते चले जाओगे, तो क्षुद्र जीवन दिव्य बन जायगा, मलिन जीवन सुंदर बन जायगा।

(४८) थोड़ा भी मधुर

पत्रं पुष्पं फलं तोयम्—कुछ भी हो, उसके साथ भक्ति-भाव हो तो पर्याप्त है। कितना दिया, कितना चढ़ाया, यह भी मुद्दा नहीं; किस भावनासे दिया, यही मुद्दा है। एक बार एक प्रोफेसरके साथ मेरी बात चल रही थी। वह शिक्षण-शास्त्रसंबंधी थी। हम दोनोंके विचार मिलते नहीं थे। अंतमें प्रोफेसरने कहा—"भाई, मैं अठारह सालसे काम कर रहा हूँ।" प्रोफेसरको चाहिए था कि वे मुझे कायल करते; परंतु ऐसा न करते हुए जब उन्होंने मुझसे कहा कि मैं इतने सालसे शिक्षाका कार्य कर रहा हूँ, तो मैंने उनसे मजाकमें कहा—"अठारह सालतक बैल यदि यंत्रके साथ घूमता रहे, तो क्या वह यंत्र-शास्त्रज्ञ हो जायगा ?" यंत्र-शास्त्रज्ञ और है, आँख मूँदकर चक्कर काटनेवाला बैल और। शिक्षा-शास्त्रज्ञ और है और शिक्षाका बोझा ढोनेवाला और। जो शास्त्रज्ञ होगा, वह छह महीनेमें ही ऐसा अनुभव प्राप्त कर लेगा कि जो अठारह साल-तक बोझा ढोनेवाला मजदूर समझ भी नहीं सकेगा। सारांश यह कि उस प्रोफेसरने मुझे अपनी दाढ़ी दिखायी कि मैंने इतने साल काम किया है, किंतु दाढ़ीसे सत्य सिद्ध नहीं हो सकता। इसी तरह

परमेश्वरके सामने कितना ढेर लगा दिया, इसका महत्त्व नहीं है। मुद्दा नापका, आकारका, कीमतका नहीं है; मुद्दा भावनाका है। कितना, क्या अर्पण किया, इससे मतलब नहीं; बल्कि कैसे किया, यह मुद्दा है। गीतामें कुल सात सौ ही श्लोक हैं। पर ऐसे भी ग्रंथ हैं, जिनमें दस-दस हजार श्लोक हैं। किन्तु वस्तुका आकार बड़ा होनेसे उसका उपयोग भी अधिक होगा, ऐसा नहीं कह सकते। देखनेकी बात यह है कि वस्तुमें तेज कितना है, सामर्थ्य कितनी है? जीवनमें क्रिया कितनी है, इसका महत्त्व नहीं। ईश्वरार्पण-बुद्धिसे यदि एक भी क्रिया की हो, तो वही हमें पूरा अनुभव करा देगी। कभी-कभी एक ही पवित्र क्षणमें हमें ऐसा अनुभव होता है, जैसा बारह-बारह वर्षों भी नहीं हो पाता।

आशय यह कि जीवनके सारे कर्मोंको, सारी क्रियाओंको परमेश्वरको अर्पण कर दो, तो इससे जीवनमें सामर्थ्य आ जायगी। मोक्ष हाथ लग जायगा। कर्म करके भी उसका फल न छोड़कर उसे ईश्वरको अर्पण करना, यह राज-योग हुआ। यह कर्म-योगसे भी एक कदम आगे जाता है। कर्म-योग कहता है कि "कर्म करो, फल छोड़ो। फलकी आशा मत रखो।" यहाँ कर्म-योग समाप्त हो गया। राज-योग कहता है, "कर्मके फलोंको छोड़ो मत, बल्कि सब कर्म ईश्वरको अर्पण कर दो। वे फूल हैं, तुम्हें आगे ले जानेवाले साधन हैं, उन्हें उस मूर्तिपर चढ़ा दो।" एक ओरसे कर्म और दूसरी ओरसे भक्तिका मेल मिलाकर जीवनको सुंदर बनाते चलो। त्यागो मत फलोंको। उन्हें फेंकना नहीं, बल्कि भगवान्से जोड़ देना है। कर्म-योगमें छोड़ा फल राज-योगमें जोड़ दिया जाता है। बोने और फेंक देनेमें फर्क है। बोया हुआ थोड़ा भी अनंतगुना होकर मिलता है। फेंका हुआ योंही नष्ट हो जाता है। जो कर्म ईश्वरको अर्पण किया गया है, उसे बोया हुआ समझो। उससे जीवनमें अनंत आनंद भर जायगा, अपार पवित्रता छा जायगी।

रविवार, १७-४-'३२

दसवाँ अध्याय

विभूति-चिंतन

(४९) गीताके पूर्वार्द्धपर दृष्टि

मित्रो, गीताका पूर्वार्द्ध समाप्त हो गया। उत्तरार्द्धमें प्रवेश करनेके पहले जो भाग हम समाप्त कर चुके, उसका थोड़ेमें सार देख लें, तो अच्छा होगा। पहले अध्यायमें बताया गया कि गीता मोह-नाशके लिए और स्वधर्ममें प्रवृत्त करानेके लिए है। दूसरे अध्यायमें जीवनके सिद्धांत, कर्म-योग और स्थितप्रज्ञका दर्शन हमें हुआ। तीसरे, चौथे और पाँचवें अध्यायमें कर्म, विकर्म और अकर्मका स्पष्टीकरण हुआ। कर्मका अर्थ है—स्वधर्माचरण करना। विकर्मका अर्थ है—वह मानसिक कर्म, जो स्वधर्माचरणका कर्म बाहरसे करते हुए उसकी सहायताके लिए किया जाता है। कर्म और विकर्म, दोनोंके एकरूप होनेपर जब चित्तकी पूर्ण शुद्धि हो जाती है, सब प्रकारके मैल धुल जाते हैं, वासना क्षीण हो जाती है, विकार शांत हो जाते हैं, भेद-भाव मिट जाता है, तब अकर्म-दशा प्राप्त होती है। यह अकर्म-दशा फिर दो प्रकारकी बतायी गयी है। इसका एक प्रकार तो यह कि दिन-रात कर्म करते हुए भी मानो लेशमात्र कर्म न कर रहे हों, ऐसा अनुभव होना। इसके विपरीत दूसरा प्रकार यह कि कुछ भी न करते हुए सतत कर्म करते रहना। इस तरह अकर्म-दशा दो प्रकारोंसे सिद्ध होती है। ये दो प्रकार यों दिखाई अलग-अलग देते हैं, तथापि हैं पूर्णरूपसे एक ही। इन्हें कर्म-योग और संन्यास, ऐसे दो नाम दिये गये हैं, फिर भी भीतरकी सारवस्तु दोनोंमें एक ही है। अकर्म-दशा अंतिम साध्य, आखिरी मंजिल है। इस स्थितिको 'मोक्ष' संज्ञा दी गयी है। अतः गीताके पहले पाँच अध्यायोंमें जीवनका सारा शास्त्रार्थ समाप्त हो गया।

उसके बाद छठे अध्यायसे अकर्मरूपी साध्य प्राप्त करनेके लिए विकर्मके जो अनेक मार्ग हैं, मनको भीतरसे शुद्ध करनेके जो अनेक साधन

हैं, उनमेंसे कुछ मुख्य साधन बतानेकी शुरुआत की गयी है। छठे अध्यायमें चित्तकी एकाग्रताके लिए ध्यान-योग बताकर अभ्यास और वैराग्यका सहारा उसे दिया गया है। सातवें अध्यायमें विशाल भक्तिरूपी उच्च साधन बताया गया है। तुम ईश्वरकी ओर चाहे प्रेम-भावसे जाओ, जिज्ञासु बुद्धिसे जाओ, विश्व-कल्याणकी व्याकुलतासे जाओ या व्यक्तिगत कामनासे जाओ—किसी तरीकेसे जाओ, परंतु एक बार उसके दरबारमें पहुँच जरूर जाओ। इस अध्यायका नाम मैंने 'प्रपत्ति-योग' अर्थात् ईश्वरकी शरणमें जानेकी प्रेरणा करनेवाला योग दिया है। सातवेंमें प्रपत्ति-योग बताकर आठवेंमें 'सातत्य-योग' बताया गया है। मैं जो ये नाम बता रहा हूँ, वे तुम्हें पुस्तकमें नहीं मिलेंगे। अपने लिए जो उपयोगी नाम मालूम हुए, वही मैं देता हूँ। सातत्य-योगका अथ है—अपनी साधनाको अंतकालतक सतत चालू रखना। जिस रास्तेपर एक बार चल पड़े, उसीपर लगातार कदम बढ़ाते जाना। कभी चले, कभी नहीं, ऐसा करनेसे मञ्जिलपर पहुँचनेकी कभी आशा नहीं हो सकती। ऊबकर निराशासे कभी यह न सोचना चाहिए कि अब कहाँतक साधना करते रहें। जबतक फल न मिले, तबतक साधना जारी रखनी चाहिए।

इस सातत्य-योगका परिचय देकर नवें अध्यायमें बहुत मामूली, परंतु जीवनका सारा रंग ही बदल देनेवाली एक बात भगवान्ने बतायी है, और वह है राज-योग। नवाँ अध्याय कहता है कि जो कुछ भी कर्म हर घड़ी होते हैं, वे सब कृष्णार्पण कर दो। इस एक ही बातमें सारे शास्त्रसाधन, सब कर्म-विकर्म डूब गये। सब कर्म-साधना इस समर्पण-योगमें विलीन हो गयी। समर्पण-योगको ही राज-योग कहते हैं। यहाँ सब साधन समाप्त हो गये। यह व्यापक और समर्थ ईश्वरार्पणरूपी साधन यों बहुत सादा और मामूली दिखता है, परंतु हो बैठा है कठिन। यह साधना सरल इसलिए है कि अपने ही घरमें बैठकर गँवारसे लेकर विद्वान्तक सब बिना विशेष श्रमके इसे साध सकते हैं। हालाँकि यह इतना सरल है, फिर भी इसे साधनेके लिए बड़े भारी पुण्यकी जरूरत है।

बहुता सुकृतांची जोडी । म्हणुनी विठ्ठलीं आवडी ॥

—'अनेक सुकृतोंका योग होनेसे विठ्ठलमें प्रेम उत्पन्न होता है।'

अनंत जन्मोंका पुण्य संचित हो जाता है, तभी ईश्वरमें रुचि उत्पन्न होती है। जरा कुछ हो, तो आँखोंसे आँसुओंकी रेलपेल मच जाती है। परन्तु भगवान्‌का नाम लेनेपर आँखोंमें दो बूँद आँसू भी नहीं आते—इसका उपाय क्या? संतोंके कथनानुसार एक तरहसे यह साधना बहुत ही सरल है। परन्तु दूसरी तरहसे वह कठिन भी है और आजकल तो और भी कठिन हो गयी है।

आज तो जड़-वादका पटल हमारी आँखोंपर पड़ा हुआ है। आज तो श्रीगणेश यहींसे होता है कि ईश्वर कहीं है भी? वह कहीं भी किसीको प्रतीत ही नहीं होता। सारा जीवन विकारमय, विषयलोलुप और विषमतासे भरा है। इस समय तो जो ऊँचे-से-ऊँचे तत्त्वज्ञानी हैं, उनके भी विचार इस बातसे आगे जा ही नहीं सकते कि सबको पेटभर रोटी कैसे मिलेगी। इसमें उनका दोष नहीं; क्योंकि आज हालत ऐसी है कि बहुतोंको खानेको भी नहीं मिलता। आजकी बड़ी समस्या है रोटी। इस समस्याको हल करनेमें आज सारी बुद्धि उलझ रही है। सायणाचार्यने रुद्रकी व्याख्या की है—

बुभुक्षमाणः रुद्ररूपेण अवतिष्ठते।

भूखे लोग ही रुद्रके अवतार हैं। उनकी क्षुधा-शांतिके लिए अनेक तत्त्वज्ञान, अनेक वाद और अनेक राज-कारण उठ खड़े हुए हैं। इन समस्याओंमेंसे सिर ऊपर उठानेके लिए आज फुरसत ही नहीं। आज हमारे सारे भगीरथ-प्रयत्न इसी दिशामें हो रहे हैं कि परस्पर न लड़ते हुए सुख-शांतिसे और प्रसन्न मनसे दो कौर रोटी कैसे खायें। ऐसी विचित्र समाज-रचना जिस युगमें हो रही है, वहाँ ईश्वरार्पणता जैसी सीधी-सादी और सरल बात भी बहुत कठिन हो बैठे, तो क्या आश्चर्य! परन्तु इसका उपाय क्या है? दसवें अध्यायमें आज हम यही देखनेवाले हैं कि ईश्वरार्पण-योग कैसे साधा जाय, कैसे सरल बनाया जाय।

(५०) परमेश्वर-दर्शनकी सुबोध रीति

छोटे बच्चोंको पढ़ानेके लिए जो उपाय हम करते हैं, वही उपाय परमात्माका सर्वत्र दर्शन करनेके लिए इस अध्यायमें बताया गया है। बच्चोंको वर्णमाला दो तरहसे सिखायी जाती है। एक तरकीब है, पहले बड़े-बड़े अक्षर लिखकर बतानेकी। फिर इन्हीं अक्षरोंको छोटा लिख-लिखकर बताया जाता है। वही 'क' और वही 'ग', परन्तु पहले ये बड़े थे, अब छोटे हो गये। यह एक विधि हुई। दूसरी विधि है, पहले सीधे-सादे सरल अक्षर और बादमें जटिल संयुक्ताक्षर सिखानेकी। ठीक इसी तरह परमेश्वरको देखना सीखना चाहिए। पहले स्थूल, स्पष्ट परमेश्वरको देखें। समुद्र, पर्वत आदि महान् विभूतियोंमें प्रकटित परमेश्वर तुरन्त आँखोंमें समा जाता है। यह स्थूल परमात्मा समझमें आ जाय, तो एक जल-बिंदुमें, मिट्टीके एक कणमें वही परमात्मा भरा हुआ है, यह भी आगे समझमें आ जायगा। बड़े 'क' और छोटे 'क' में कोई अंतर नहीं। जो स्थूलमें, वही सूक्ष्ममें। यह एक पद्धति हुई। दूसरी पद्धति है, सीधे-सादे सरल परमात्माको पहले देखें, फिर उसके जटिल रूपको। जिस व्यक्तिमें शुद्ध परमेश्वरीय आविर्भाव सहज रूपसे प्रकट हुआ है, वह बहुत जल्दी ग्रहण कर लिया जा सकता है, जैसे राममें प्रकटित परमेश्वरीय आविर्भाव तुरन्त मनपर अंकित हो जाता है। राम सरल अक्षर है। यह बिना झंझटका परमेश्वर है। परंतु रावण? यह संयुक्ताक्षर है। इसमें कुछ-न-कुछ मिश्रण है। रावणकी तपस्या, कर्म-शक्ति महान् है। परंतु उसमें क्रूरता मिली हुई है। पहले रामरूपी सरल अक्षरको सीख लो। जिसमें दया है, वत्सलता है, प्रेम-भाव है, ऐसा राम सरल परमेश्वर है, वह तुरंत पकड़में आ जायगा। रावणमें रहनेवाले परमेश्वरको समझनेमें जरा देर लगेगी। पहले सरल, फिर संयुक्ताक्षर। सज्जनोंमें पहले परमात्माको देखकर अंतमें दुर्जनोंमें भी उसे देखनेका अभ्यास करना चाहिए। समुद्रस्थित विशाल परमेश्वर ही पानीकी उस बूँदमें है। रामचंद्रके अंदरका परमेश्वर ही रावणमें है। जो स्थूलमें है, वही सूक्ष्ममें भी। जो सरलमें है, वही

कठिनमें भी। इन दो विधियोंसे हमें यह संसाररूपी ग्रंथ पढ़ना सीखना है।

यह अपार सृष्टि मानो ईश्वरकी पुस्तक है। आँखोंपर गहरा पर्दा पड़नेसे यह पुस्तक हमें बन्द हुई-सी जान पड़ती है। इस सृष्टिरूपी पुस्तकमें सुंदर अक्षरोंमें सर्वत्र परमेश्वर लिखा हुआ है। परंतु वह हमें दिखाई नहीं देता। ईश्वरका दर्शन होनेमें एक बड़ा विघ्न है। वह यह कि मामूली, सरल, नजदीकका ईश्वर-स्वरूप मनुष्यकी समझमें नहीं आता और दूरका प्रखर रूप उसे हजम नहीं होता। यदि उससे कहें कि अपनी मातामें ईश्वरको देखो, तो वह कहेगा—"क्या ईश्वर इतना सीधा और सरल है?" पर यदि प्रखर परमात्मा प्रकट हुआ, तो उसका तेज तुम सह सकोगे? कुंतीकी इच्छा हुई कि वह दूरवाला सूर्य मुझे प्रत्यक्ष आकर मिले; परंतु उसके निकट आते ही वह जलने लगी। उसका तेज उससे सहन न हुआ। ईश्वर यदि अपनी सारी सामर्थ्यके साथ सामने आकर खड़ा हो जाय, तो हमें पच नहीं सकता। यदि माताके सौम्य रूपमें आकर खड़ा हो जाय, तो वह जँचता नहीं। पेड़ा-बर्फी पचती नहीं और मामूली दूध रुचता नहीं। ये लक्षण हैं—फूटी किस्मतके, मरणके। ऐसी यह रुग्ण मनःस्थिति परमेश्वरके दर्शनमें बड़ा भारी विघ्न है। इस मनःस्थितिका त्याग करना चाहिए। पहले हम अपने पासके स्थूल और सरल परमात्माको पढ़ लें और फिर सूक्ष्म और जटिल परमात्माको पढ़ें।

(५१) मानवस्थित परमेश्वर

परमेश्वरकी बिलकुल पहली मूर्ति जो हमारे पास है, वह है स्वयं हमारी माँ। श्रुति कहती है—मातृदेवो भव। पैदा होते ही बच्चेको माँके सिवा और कौन दिखाई देता है? वत्सलताके रूपमें वह परमेश्वरकी मूर्ति ही वहाँ खड़ी है। उस माताकी ही व्याप्तिको हम बढ़ा लें और वन्दे मातरम् कहकर राष्ट्र-माताकी और फिर अखिल भू-माता पृथ्वीकी पूजा करें। परंतु प्रारंभमें सबसे ऊँची परमेश्वरकी पहली प्रतिमा, जो बच्चेके सामने आती है, वह है माताके रूपमें। माताकी

पूजासे मोक्ष मिलना असंभव नहीं है। माताकी पूजा क्या है, मानो वत्सलतासे खड़े परमेश्वरकी ही पूजा है। माँ तो एक निमित्तमात्र है। परमेश्वर उसमें अपनी वत्सलता उँड़ेलकर उसे नचाता है। उस बेचारी-को मालूम भी नहीं होता कि यह इतनी माया-ममता भीतरसे क्यों उमड़ती है? क्या वह यह हिसाब लगाकर बच्चेका लालन-पालन करती है कि बुढ़ापेमें काम आयेगा? नहीं-नहीं, उसने उस बालकको जन्म दिया है। उसे प्रसव-वेदना हुई है। उन वेदनाओंने उसे उस बच्चेके लिए पागल बना दिया है। वे वेदनाएँ उसे वत्सल बना देती हैं। वह प्यार किये बिना रह ही नहीं सकती। वह मजबूर है। वह माँ मानो निस्सीम सेवाकी मूर्ति है। परमेश्वरकी यदि कोई सबसे उत्कृष्ट पूजा है, तो वह है मातृ-पूजा। ईश्वरको माँके ही नामसे पुकारो। माँसे बढ़कर और ऊँचा शब्द है कहाँ? माँ पहला स्थूल अक्षर है। उसमें ईश्वर देखना सीखो। फिर पिता, गुरु इनमें भी देखो। गुरु शिक्षा देते हैं। वे हमें पशुसे मनुष्य बनाते हैं। कितने हैं उनके उपकार! पहले माता, फिर पिता, फिर गुरु, फिर दयालु संत। अत्यंत स्थूल रूपमें खड़े इस परमेश्वर-रूपको पहले देखो। यदि परमेश्वर यहाँ नहीं दिखाई देगा, तो फिर दीखेगा कहाँ?

माता, पिता, गुरु, संत—इनमें परमात्माको देखो। इसी तरह यदि छोटे बालकोंमें भी हम परमात्माको देख सकें, तो कितना मजा आये? ध्रुव, प्रह्लाद, नचिकेता, सनक, सनंदन, सनत्कुमार—ये सब छोटे बालक ही तो थे। परन्तु पुराणकारोंको, व्यासादिको समझमें नहीं आता कि अब उन्हें कहाँ रखें, कहाँ न रखें? शुकदेव, शंकराचार्य बचपनसे ही विरक्त थे। ज्ञानदेवका भी यही हाल था। सब-के-सब बालक! परन्तु उनमें परमेश्वर जितने शुद्ध रूपमें प्रकट हुआ है, उतना कहीं अन्यत्र नहीं। ईसामसीह बच्चोंको बहुत प्यार करते थे। एक बार उनके शिष्यने उनसे पूछा—"आप हमेशा ईश्वरीय राज्यका जिक्र करते हैं, इस ईश्वरके राज्यमें जा कौन सकेगा?" पास ही एक बच्चा बैठा था। ईसाने उसे मेजपर खड़ा करके कहा—"जो इस बच्चेकी तरह

होंगे, वे वहाँ जा सकेंगे।" ईसाका कहना पूर्णतः सत्य था। रामदास स्वामी एक बार बच्चोंके साथ खेल रहे थे। बच्चोंके साथ समर्थ खेल रहे हैं, यह देखकर कुछ बड़े-बूढ़ोंको आश्चर्य हुआ। एकने उनसे पूछा— "आज आप यह क्या कर रहे हैं ?" समर्थने जवाब दिया—

वयें पोर ते थोर होऊन गेले।
वयें थोर ते चोर होऊन ठेले॥

—'आयुमें जो छोटे थे, वे बड़े हो गये और आयुमें जो बड़े थे, वे चोर हो गये।'

उम्र बढ़ती है, तो सींग फूटते हैं, फिर परमेश्वरका स्मरण कहाँ? छोटे बच्चोंके मनपर कोई लेप नहीं रहता। उनकी बुद्धि निर्मल होती है। बच्चेको हम सिखाते हैं—"झूठ मत बोलो।" वह पूछता है—"झूठ किसे कहते हैं ?" तब उसे सिद्धांत बताते हैं—"बात जैसी हो, वैसी ही कहनी चाहिए।" बच्चा उलझनमें पड़ता है कि क्या जैसा हो, वैसा कहनेके अलावा भी कहनेका कोई दूसरा तरीका है ? जैसा नहीं हो, वैसा कहें कैसे ? चौकोरको चौकोर कहो, गोल मत कहो—यह ऐसा ही कहने जैसा है। बच्चेको आश्चर्य होता है। बच्चे क्या हैं, विशुद्ध परमात्माकी मूर्ति हैं। बड़े लोग उन्हें गलत शिक्षा देते हैं। सारांश, माँ, बाप, गुरु, संत, बच्चे—इनमें यदि हम परमात्माको न देख सकें, तो फिर किस रूपमें देखेंगे ? इससे उत्कृष्ट रूप परमेश्वरका दूसरा नहीं है। परमेश्वरके इन सादे, सौम्य रूपोंको पहले पहचानो। इनमें परमेश्वर स्पष्ट और मोटे अक्षरोंमें लिखा हुआ है।

(५२) सृष्टिस्थित परमेश्वर : विशिष्ट उदाहरण

पहले हम मानवकी सौम्यतम और पावन मूर्तियोंमें परमात्माका दर्शन करना सीखें। उसी तरह इस सृष्टिमें भी जो-जो विशाल और मनोहर रूप हैं, उनमें उसके दर्शन पहले करें। ऊषाको ही लो। सूर्योदयके पहलेकी वह दिव्य प्रभा ! उस ऊषादेवीके गान गाते हुए मस्त होकर ऋषि नाचने लगते हैं—"ऊषे, तू परमेश्वरका संदेश लानेवाली दिव्य दूतिका है, तू हिमकणोंसे नहाकर आयी है। तू अमृतत्वकी पताका

है।" ऐसे भव्य और हृदयंगम वर्णन ऋषियोंने ऊषाके किये हैं। वैदिक ऋषि कहते हैं—"तू परमेश्वरकी संदेश-वाहिका है, तुझे देखकर यदि परमेश्वरका रूप न दिखाई दे, न समझमें आये, तो फिर मुझे परमेश्वरका ज्ञान कौन करायेगा?" इतनी सुन्दरतासे सज-धजकर यह ऊषा सामने खड़ी है, परंतु हमारी दृष्टि उसपर जाती कहाँ है?

उसी तरह उस सूर्यको देखो। उसके दर्शन मानो परमात्माके ही दर्शन हैं। वह नाना प्रकारके रंग-विरंगे चित्र आकाशमें खींचता है। चित्रकार महीनों कूँची इधर-उधर घुमाकर सूर्योदयके चित्र बनाते और उनमें रंग भरते हैं। परन्तु तुम प्रातःकाल उठकर परमेश्वरकी कलाको देखो तो! उस दिव्य कलाके लिए, उस अनन्त सौन्दर्यके लिए भला क्या उपमा दी जा सकेगी? परन्तु देखता कौन है? उधर सुंदर भगवान् खड़ा है और इधर यह मुँहपर और भी रजाई ओढ़कर नींदमें खुर्राटे भरता है। सूर्य कहता है—"अरे आलसी, तू तो पड़ा ही रहना चाहता है, किंतु मैं तुझे अवश्य उठाऊँगा।" ऐसा कहकर वह अपनी जीवन-किरणें खिड़कियोंमेंसे भेजकर उस आलसीको जगा देता है।

सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च।

सूर्य समस्त स्थावर-जंगमका आत्मा है। चराचरका आधार है। ऋषिने उसे 'मित्र' नाम दिया है—

मित्रो जनान् यातयति ब्रुवाणो,
मित्रो दाधार पृथिवीमुत द्याम्।

"यह मित्र लोगोंको पुकारता है, उन्हें काम-धाममें लगाता है। वह स्वर्ग और पृथ्वीको धारण किये है।" सचमुच ही वह सूर्य जीवनका आधार है। उसमें परमात्माके दर्शन करो।

और वह पावन गंगा! जब मैं काशीमें था, तो गंगाके किनारे जा बैठता था। रात्रिके एकान्तमें जाता था। कितना सुन्दर और प्रसन्न था उसका प्रवाह। उसका वह भव्य-गंभीर प्रवाह और उसके उदरमें संचित वे आकाशके अनंत तारे! मैं मूक बन जाता। शंकरके जटाजूटसे अर्थात् उस हिमालयसे बहकर आनेवाली वह गंगा, जिसके तीरपर राज-पाटको

तृणवत् फेंककर राजा लोग तप करने जा बैठते थे, उस गंगाका दर्शन करके मुझे असीम शांति मिलती थी। उस शांतिका वर्णन मैं कैसे करूँ? वाणीकी यहाँ सीमा आ जाती है। यह समझमें आने लगा कि हिन्दू यह क्यों चाहता है कि मरनेपर कम-से-कम मेरी अस्थि तो गंगामें पड़ जाय! आप हँसिये, आपके हँसनेसे कुछ बिगड़ता नहीं। परन्तु मुझे ये भावनाएँ बहुत पवित्र और संग्रहणीय मालूम होती हैं। मरते समय गंगाजलकी दो बूँदें मुँहमें डालते हैं। ये दो बूँदें क्या हैं? मानो परमेश्वर ही मुँहमें उतर आता है। उस गंगाको परमात्मा ही समझो। वह परमेश्वरकी करुणा बह रही है। तुम्हारा सारा भीतरी-बाहरी कूड़ा-कर्कट वह माता धो रही है, बहा ले जा रही है। गंगामातामें यदि परमेश्वर प्रकटित न दिखाई दे, तो कहाँ दिखाई देगा? सूर्य, नदियाँ, धू-धू करके हिलोरें मारनेवाला वह विशाल सागर—ये सब परमेश्वरकी ही मूर्तियाँ हैं।

और वह पवन! कहाँसे आता है, कहाँ जाता है, कुछ पता नहीं। यह भगवान्‌का दूत ही है। हिन्दुस्तानमें कुछ हवा स्थिर हिमालय-परसे आती है, कुछ गंभीर सागरपरसे। यह पवित्र हवा हमारे हृदयको छूती है, हमें जाग्रत करती है, हमारे कानोंमें गुनगुनाती है; परन्तु इस हवाका संदेश सुनता कौन है? जेलरने यदि हमारा चार पंक्तियोंका पत्र न दिया, तो हमारा दिल खट्टा हो जाता है। अरे मंद-भागी, क्या रखा है उस चिट्ठीमें? परमेश्वरका यह प्रेम-संदेश हवाके साथ हर घड़ी आ रहा है, उसे तू सुन!

और हमारे घरके मवेशी! वह गो-माता कितनी वत्सल, कितनी ममता और प्रेमसे परिपूर्ण है! दो-दो, तीन-तीन मीलसे, जंगल-झाड़ियोंसे अपने बछड़ोंके लिए कैसी दौड़कर आती है। वैदिक ऋषियोंको पहाड़ों-पर्वतोंसे स्वच्छ जल लेकर कल-कल करती हुई दौड़ी आनेवाली नदियाँ देखकर अपने बछड़ोंके लिए दूध-भरे स्तनोंसहित रँभाती हुई आनेवाली वत्सल गायोंकी याद हो आती है। ऋषि नदीसे कहता है—"हे देवि! दूधकी तरह पवित्र, पावन, मधुर जल लानेवाली तू धेनु

जैसी है। जैसे गाय जंगलमें ही नहीं रह सकती, वैसे ही तू पर्वतोंमें नहीं रह सकती। तू सरपट दौड़ती हुई प्यासे बालकोंसे मिलनेके लिए आती है।"

वाश्रा इव धेनवः स्यन्दमानाः।

वत्सल गायके रूपमें भगवान् दरवाजेपर खड़ा है!

और वह घोड़ा! कितना उम्दा, कितना ईमानदार, कितना वफादार! अरब लोग अपने घोड़ोंसे कितना प्यार करते हैं! उस अरबकी कहानी तुम्हें मालूम है न? वह विपत्तिग्रस्त अरब एक सौदागरको घोड़ा बेचनेके लिए तैयार हो जाता है। हाथमें मुहरोंकी थैली लेकर वह तबेलेमें जाता है, परन्तु घोड़ेकी उन गंभीर और प्रेम-पूर्ण आँखोंपर उसकी निगाह पड़ती है, तो वह थैली फेंक देता और कहता है कि "मेरी जान चली जाय, पर मैं घोड़ा नहीं बेचूँगा। मेरा जो होना होगा, होगा। खाना न मिलेगा, तो न सही। खुदा मेरी मदद करेगा।" पीठ थपथपाते ही कैसे वह प्रेमसे फुरफुराता है, कैसा बढ़िया उसका अयाल! सचमुच घोड़ेमें अनमोल गुण हैं। इस साइकिलमें क्या रखा है? घोड़ेको खरहरा करो, वह तुम्हारे लिए जान दे देगा। तुम्हारा साथी होकर रहेगा। मेरा एक मित्र घोड़ेपर बैठना सीख रहा था। घोड़ा उसे गिरा देता। वह मुझसे कहने लगा—"घोड़ा तो बैठने ही नहीं देता।" मैंने उससे कहा—"तुम सिर्फ घोड़ेपर बैठने ही जाते हो या उसकी कुछ सेवा भी करते हो? सेवा तो करे दूसरा और उसकी पीठपर सवारी करो तुम, यह कैसा? तुम स्वयं उसे दाना-पानी दो, खरहरा करो और तब सवारी करो।" वह मित्र यही करने लगा। कुछ दिनों बाद मुझसे आकर बोला—"अब घोड़ा गिराता नहीं है।" घोड़ा तो परमेश्वर है। वह भक्तोंको क्यों गिरायेगा? उसकी भक्ति देखकर घोड़ा झुक गया। घोड़ा जानना चाहता है कि यह भक्त है या और कोई। भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं खरहरा करते थे और अपने पीताम्बरमें दाना लाकर उसे खिलाते थे। टेकरी आयी, नाला आया, कीचड़ आया

कि साइकिल रुकी, मगर घोड़ा कूदता-फाँदता चला ही जाता है। यह सुन्दर प्रेममय घोड़ा मानो परमेश्वरकी मूर्ति ही है।

और वह सिंह! बड़ौदामें मैं रहता था। सवेरे-ही-सवेरे उसकी गर्जनाकी गंभीर ध्वनि कानोंमें पड़ती। उसकी आवाज इतनी गंभीर और उम्दा होती कि हृदय डोलने लगता। मन्दिरोंके गर्भ-गृहोंमें जैसी आवाज गूँजती है, वैसी ही गंभीर उसके हृदय-गर्भकी वह ध्वनि थी। और सिंहकी वह धीरोदात्त, भव्य, निर्भय मुद्रा, उसका वह शाही ढंग और शाही वैभव! वह भव्य सुन्दर अयाल, मानो चँवर ही उस वनराजपर ढर रहे हों। बड़ौदाके एक बगीचेमें यह सिंह था। वह आजाद नहीं था, पिंजड़ेमें चक्कर काटता था। उसकी आँखोंमें क्रूरताका नाम भी नहीं था। उसकी मुद्रा और दृष्टिमें करुणा भरी थी। संसारकी मानो उसे कोई चिन्ता ही नहीं थी। अपने ही ध्यानमें वह मग्न दिखाई देता था। सचमुच ही ऐसा मालूम होता है, मानो सिंह परमेश्वरकी एक पावन विभूति है। बचपनमें मैंने एण्ड्रोक्लीज और सिंहकी कहानी पढ़ी थी। कितनी बढ़िया कहानी है वह! वह भूखा-प्यासा सिंह एण्ड्रोक्लीजके पहलेके उपकारको स्मरण करके उसका मित्र बन जाता है और उसके पैर चाटने लगता है। यह क्या है? एण्ड्रोक्लीजने सिंहमें रहनेवाले परमेश्वरका दर्शन कर लिया था। भगवान् शंकरके पास सिंह सदैव रहता है। सिंह भगवान्‌की दिव्य विभूति है।

और बाघकी भी क्या कम मौज है? उसमें बहुतेरा ईश्वरीय तेज व्यक्त हुआ है। उससे मित्रता रखना असंभव नहीं। भगवान् पाणिनि अरण्यमें बैठे शिष्योंको पाठ पढ़ा रहे थे। इतनेमें बाघ आ गया। बालक घबराकर चिल्लाने लगे—व्याघ्रः, व्याघ्रः। पाणिनिने कहा—"अच्छा, व्याघ्रका अर्थ क्या है? व्याजिघ्रतीति व्याघ्रः अर्थात् जिसकी घ्राणेंद्रिय तीव्र है, वह व्याघ्र है।" बालकोंको भले ही उससे कुछ डर लगा हो; पर भगवान् पाणिनिके लिए तो वह व्याघ्र एक निरुपद्रवी, आनंदमय शब्दमात्र हो गया था। बाघको देखकर वे उस शब्दकी

व्युत्पत्ति बताने लगे। बाघ पाणिनिको खा गया, परन्तु बाघके खा जानेसे क्या हुआ? पाणिनिके शरीरकी मीठी गंध उसे लगी, उसने फाड़ खाया। परन्तु पाणिनि वहाँसे भागे नहीं, क्योंकि वे तो शब्द-ब्रह्मके उपासक थे। उनके लिए सब कुछ अद्वैतमय हो गया था। व्याघ्रमें भी वे शब्द-ब्रह्मका अनुभव कर रहे थे। पाणिनिकी इस महत्ताके कारण ही भाष्योंमें जहाँ-जहाँ उनका नाम आता है, वहाँ-वहाँ 'भगवान् पाणिनि' कहकर पूज्यभावसे उनका उल्लेख किया गया है। वे पाणिनिका अत्यंत उपकार मानते हैं—

अज्ञानान्धस्य लोकस्य ज्ञानाञ्जन शलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै पाणिनये नमः॥

ऐसे भगवान् पाणिनि व्याघ्रमें परमात्माका दर्शन कर रहे हैं। ज्ञानदेवने कहा है—

घरा येवो पां स्वर्ग। कां वरि पडो व्याघ्र।
परी आत्मबुद्धीसी भंग। कदा नोहे॥

—'भले ही घरमें स्वर्ग उतर आये या व्याघ्र आकर चढ़ाई कर दे, फिर भी आत्मबुद्धिमें कोई भंग न हो।'

ऐसी महर्षि पाणिनिकी स्थिति हो गयी थी। वे इस बातको समझ गये थे कि बाघ एक दैवी विभूति है।

वैसा ही वह साँप! साँपसे लोग बहुत डरते हैं। परंतु साँप मानो कठोर शुद्धि-प्रिय ब्राह्मण ही है। कितना स्वच्छ! कितना सुन्दर! जरा भी गंदगी उसे बर्दाश्त नहीं। गंदे ब्राह्मण कितने ही दिखाई देते हैं, परन्तु गंदा साँप कभी किसीने देखा है? वह मानो एकांतवासी ऋषि ही हो। निर्मल, सतेज, मनोहर हार जैसा वह साँप! उससे क्या डरना? हमारे पूर्वजोंने तो उसकी पूजाका विधान किया है। भले ही आप कहिये कि हिंदू-धर्ममें न जाने क्या-क्या वहम भरे पड़े हैं; परन्तु नाग-पूजाका विधान उसमें अवश्य है। बचपनमें मैं अपनी माँके लिए उबटनसे नागका चित्र बना दिया करता था। मैं माँसे कहता—"बाजारमें तो अच्छा चित्र मिल जाता है माँ!" वह

कहती—"वह रद्दी होता है, मुझे नहीं चाहिए। अपने बच्चेका बनाया चित्र अच्छा होता है।" फिर उस नागकी पूजा की जाती। यह क्या पागलपन है? परंतु जरा विचार कीजिये। वह सर्प श्रावण मासमें अतिथि बनकर हमारे घर आता है। बरसात हो जानेसे उस बेचारेके सारे घरमें पानी भर जाता है। तब वह क्या करेगा? दूर एकांतमें रहनेवाला वह ऋषि आपको व्यर्थ कष्ट न हो, इस विचारसे किसी छप्परके नीचे कहीं लकड़ियोंमें पड़ा रहता है। वह कम-से-कम जगह घेरता है। परंतु हम डंडा लेकर दौड़ते हैं। संकटग्रस्त अतिथि यदि हमारे घर आ जाय, तो क्या उसे मारना उचित है? कहते हैं कि संत फ्रांसिसको जब जंगलमें साँप दिखाई देता, तो वह उससे बड़े प्रेम-भावसे कहता—"आ, भाई आ!" साँप उसकी गोदमें खेलते, उसके शरीरपर इधर-उधर चढ़ते। इसे झूठ मत समझिये। प्रेममें अवश्य ऐसी शक्ति रहती है। साँपको विषैला कहा जाता है; परंतु मनुष्य क्या कम विषैला है? साँप तो कभी-कभी काटता है। अपनी ओरसे नहीं काटता। सौमें नब्बे तो निर्विष ही होते हैं। तुम्हारी खेतीकी वह रक्षा करता है। खेतीका नाश करनेवाले असंख्य कीड़ों और जंतुओंको खाकर रहता है। ऐसा यह उपकारी, शुद्ध, तेजस्वी, एकांत-प्रिय सर्प भगवान्‌का रूप है। हमारे तमाम देवताओंमें कहीं-न-कहीं साँप जरूर आता है। गणेशजीकी कमरमें हमने साँपका कमर-पट्टा बाँध दिया है। शंकरके गलेमें साँप लपेट दिये हैं और भगवान् विष्णुको तो नाग-शय्या ही दे दी है। इसका मर्म, इसका माधुर्य जरा समझो। इन सबका भावार्थ यह है कि नागके द्वारा यह ईश्वरीय मूर्ति ही व्यक्त हुई है। सर्पस्थ इस परमेश्वरका परिचय प्राप्त कर लो।

(५३) सृष्टिस्थित परमेश्वर : कुछ और उदाहरण

ऐसे कितने उदाहरण दूँ? मैं तो केवल कल्पना दे रहा हूँ। रामायणका सारा सार इस प्रकारकी रमणीय कल्पनामें ही है। रामायणमें पिता-पुत्रोंका प्रेम, माँ-बेटोंका प्रेम, भाई-भाईका प्रेम, पति-पत्नीका प्रेम, सब कुछ है; परंतु मुझे रामायण इसके लिए प्रिय नहीं है। मुझे वह इस-

लिए पसंद है कि रामकी मित्रता वानरोंसे हुई। आजकल कहते हैं कि ये वानर तो नाग-जातिके थे। इतिहासज्ञोंका काम ही है, पुरानी बातोंकी छानबीन करना। उनके इस कार्यपर मैं आपत्ति नहीं उठाता, लेकिन रामने यदि असली वानरोंसे मित्रता की हो, तो इसमें असंभव क्या है? रामका रामत्व, रमणीयत्व सचमुच इसी बातमें है कि राम और वानर मित्र हो गये। ऐसा ही कृष्णका और गायोंका संबंध है। सारी कृष्ण-पूजाका आधार यह कल्पना है। श्रीकृष्णके किसी चित्रको लीजिये, तो आपको इर्द-गिर्द गायें खड़ी मिलेंगी। गोपाल कृष्ण, गोपाल कृष्ण! यदि कृष्णसे गायोंको अलग कर दो, तो फिर कृष्णमें बाकी क्या रहा? रामसे यदि वानर हटा दिये, तो फिर राममें भी क्या राम बाकी रहा? रामने वानरोंमें भी परमात्माके दर्शन किये और उनके साथ प्रेम और घनिष्ठताका संबंध स्थापित किया। यह है रामायणकी कुंजी! इस कुंजीको आप छोड़ देंगे, तो रामायणकी मधुरता खो देंगे। पिता-पुत्रका, माँ-बेटेका प्रेम तो और जगह भी मिल जायगा, परंतु नर-वानरकी यह अनन्य मधुर मैत्री केवल रामायणमें ही मिलेगी, और कहीं नहीं। वानरमें स्थित भगवान्‌को रामायणने आत्मसात् किया। वानरोंको देखकर ऋषियोंको बड़ा कौतुक होता। ठेठ रामटेकसे लेकर कृष्णा-तट-तक जमीनपर पैर न रखते हुए वे वानर एक पेड़से दूसरे पेड़पर कूदते-फाँदते और क्रीड़ा करते घूमते थे। ऐसे उस सघन वनको और उसमें क्रीड़ा करनेवाले वानरोंको देखकर उन सहृदय ऋषियोंके मनमें कवित्व जाग उठता, कौतुक होता। ब्रह्मकी आँखें कैसी होती हैं, यह बताते हुए उपनिषदोंने बंदरोंकी आँखोंकी उपमा दी है। बंदरोंकी आँखें बड़ी चंचल होती हैं। चारों ओर उनकी निगाह दौड़ती है। ब्रह्मकी आँखें ऐसी ही होनी चाहिए। आँखें स्थिर रखनेसे ईश्वरका काम नहीं चलेगा। हम-आप ध्यानस्थ होकर बैठ सकते हैं, परन्तु यदि ईश्वर ध्यानस्थ हो जाय, तो फिर दुनियाका क्या हाल हो? अतः बंदरोंमें ऋषियोंको सबकी चिंता रखनेवाले ब्रह्मकी आँखें दिखाई देती हैं। वानरोंमें परमात्माके दर्शन करना सीख लो।

और वह मोर ! महाराष्ट्रमें मोर बहुत नहीं हैं, परन्तु गुजरातमें उनकी विपुलता है। मैं गुजरातमें था। रोज दस-बारह मील घूमनेकी मेरी आदत थी। घूमते हुए मुझे मोर दिखाई देते थे। जब आकाशमें बादल छा रहे हों, मेह बरसनेकी तैयारी हो, आकाशका रंग गहरा श्याम हो गया हो, तब मोर अपनी ध्वनि सुनाता है। हृदयसे खिंचकर निकलनेवाली उसकी वह तीव्र पुकार एक बार सुनो, तो पता चले। हमारा सारा संगीत-शास्त्र मयूरकी इस ध्वनिपर ही रचा गया है। मयूरकी ध्वनि ही षड्ज है—षड्जं रौति। यह पहला 'षड्ज' हमें मोरसे मिला। फिर घटा-बढ़ाकर दूसरे स्वर हमने बिठाये। मेघकी ओर गड़ी हुई उसकी वह दृष्टि, उसकी वह गंभीर ध्वनि और मेघकी गड़गड़ गर्जना सुनते ही फैलनेवाली उसकी वह पूँछकी छतरी! अहा हा! उसकी उस छतरीके सौंदर्यके सामने मनुष्यकी सारी शान चूर हो जाती है। राजा-महाराजा भी सजते हैं, परन्तु मयूर-पुच्छकी छतरीके सामने वे क्या सजेंगे? कैसा उसका भव्य दृश्य! वे हजारों आँखें, वे नाना रंग, वे अनंत छटाएँ, वह अद्भुत सुन्दर, मृदु, रमणीय रचना, वह उम्दा बेल-बूटा! जरा देखिये तो उस छतरीको और उसमें परमात्मा भी देखिये! यह सारी सृष्टि इसी तरह सजी हुई है। सर्वत्र परमात्मा दर्शन देता हुआ खड़ा है, परंतु उसे न देखनेवाले हम अभागे हैं! तुकारामने कहा है—

देवा आहे सुकाळ देशीं, अभाग्यासी दुर्भिक्ष।

—'प्रभुका सर्वत्र सुकाल है, अभागीको अकाल है।'

संतोंके लिए सर्वत्र सुकाल है। परंतु हम अभागोंके लिए सब जगह अकाल है।

वेदोंमें अग्निकी उपासना बतायी गयी है। अग्नि नारायण है। कैसी उसकी देदीप्यमान मूर्ति! दो लकड़ियोंको रगड़ते ही वह प्रकट हो जाता है। कौन जाने पहले कहाँ छिपा था। कितना गरम, कितना तेजस्वी! वेदोंकी जो पहली ध्वनि निकली, वह अग्निकी उपासनाको लेकर ही—

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
होतारं रत्नधातमम्।

जिस अग्निकी उपासनासे वेदोंका आरंभ हुआ, उसकी ओर तुम देखो तो। उसकी वे ज्वालाएँ देखनेसे मुझे जीवात्माकी छटपटाहट याद आ जाती है। वे ज्वालाएँ, वे लपटें चाहे घरके चूल्हेकी हों, चाहे जंगलके दावाग्निकी हों। वैरागीके घर-बार जैसा तो होता ही नहीं। वे ज्वालाएँ जहाँ होंगी, वहाँ उनकी वह दौड़-धूप शुरू ही है। वे लगातार छटपटाती रहती हैं। वे ज्वालाएँ ऊपर जानेके लिए आतुर रहती हैं। वैज्ञानिक कहेंगे कि ईथरके कारण ये ज्वालाएँ हिलती हैं, हवाके दवावके कारण हिलती हैं। परंतु कम-से-कम मेरा अर्थ यह है कि ऊपर जो परमात्मा है, तेजस्-समुद्र सूर्य-नारायण है, उससे मिलनेके लिए वे निरंतर उछल रही हैं। जन्मसे लेकर मृत्युतक उनकी दौड़-धूप जारी रहती है। सूर्य अंशी है और ये ज्वालाएँ अंश हैं। अंश अंशीकी ओर जानेके लिए छटपटाता रहता है। वे लपटें बुझ जायँगी, तभी वह दौड़-धूप बंद होगी, वरना नहीं। सूर्यसे हम बहुत दूरीपर हैं, यह विचार भी उनके मनमें नहीं आता। वे इतना ही जानती हैं कि अपनी शक्तिभर पृथ्वीसे ऊपर उछलती चली जायँ। ऐसा यह अग्नि क्या, मानो उसके रूपमें जाज्वल्य वैराग्य ही प्रकट हो गया है। इसलिए वेदकी पहली ध्वनि हुई—

अग्निमीळे।

और मैं उस कोयलको कैसे भुलाऊँ? किसे पुकारती है वह? गर्मियोंमें नदी-नाले सूख गये, परंतु वृक्षोंमें नव-पल्लव छिटक रहे हैं। वह यह तो नहीं पूछ रही है कि किसने उसे यह वैभव प्रदान किया, कहाँ है वह वैभवदाता? कैसी उत्कट मधुर कूक! हिंदू-धर्ममें कोयलके व्रतका तो विधान ही है। स्त्रियाँ व्रत लेती हैं कि कोयलकी आवाज सुने बिना वे भोजन नहीं करेंगी। कोयलके रूपमें प्रकट परमात्माका दर्शन करना सिखानेवाला यह व्रत है। वह कोयल कितनी सुन्दर कूक लगाती है, मानो उपनिषद् ही गाती है। उसकी कुहू-कुहू तो कानोंमें

पड़ती है, परंतु वह दिखाई नहीं देती। कवि वर्ड्सवर्थ उसके पीछे पागल होकर जंगल-जंगल उसकी खोजमें भटकता है। इंग्लैंडका महान् कवि कोयलको खोजता है, परन्तु भारतमें तो घरोंकी सामान्य स्त्रियाँ कोयल न दिखाई दे, तो खाना भी नहीं खातीं। इस कोकिला-व्रतकी बदौलत भारतीय स्त्रियोंने महान् कविकी पदवी प्राप्त कर ली है। जो कोयल परम आनंदकी मधुर ध्वनि सुनाती है, उसके रूपमें सुन्दर परमात्मा ही प्रकट हुआ है।

कोयल सुन्दर, तो वह कौआ क्या असुन्दर है? कौएका भी गौरव करो। मुझे तो वह बहुत प्रिय है। उसका वह घना काला रंग, वह तीव्र आवाज! वह आवाज क्या बुरी है? नहीं, वह भी मीठी है। वह पंख फड़फड़ाता हुआ आता है, तो कैसा सुन्दर लगता है। छोटे बच्चोंका चित्त खींच लेता है। नन्हा बच्चा बन्द घरमें खाना नहीं खाता। बाहर आँगनमें बैठकर उसे जिमाना पड़ता है और चिड़ियाँ, कौए दिखाकर उसे कौर खिलाना पड़ता है। कौएके प्रति स्नेह रखनेवाला वह बच्चा क्या पागल है? वह पागल नहीं, उसमें ज्ञान भरा हुआ है। कौएके रूपमें व्यक्त परमेश्वरसे वह बच्चा तुरंत एकरूप हो जाता है। माता चावलपर चाहे दही परोसे, दूध परोसे या शकर परोसे, बच्चेको उसमें कोई रस नहीं। उसे आनन्द है, कौएके पंख फड़फड़ानेमें, उसके मुँह बिचकानेमें। सृष्टिके प्रति छोटे बच्चोंको इतना कौतूहल मालूम होता है, उसीपर तो सारी 'ईसप-नीति' रची गयी है। ईसपको सर्वत्र ईश्वर दिखाई देता था। अपनी प्रिय पुस्तकोंकी सूचीमें मैं ईसप-नीति-का नाम सबसे पहला रखूँगा, भूलूँगा नहीं। ईसपके राज्यमें दो हाथों-वाला, दो पाँवोंवाला मनुष्य ही अकेला नहीं है। उसमें सियार, कुत्ते, कौए, हिरन, खरगोश, कछुए, साँप, केंचुए—सभी बातचीत करते हैं, हँसते हैं। एक प्रचण्ड सम्मेलन ही समझिये न! ईसपसे सारी चराचर सृष्टि बातचीत करती है। उसे दिव्य दर्शन प्राप्त हो गया है। रामायण भी इसी तत्त्वपर, इसी दृष्टिपर रची गयी है। तुलसीदासने रामकी बाल-लीलाका वर्णन किया है। राम आँगनमें खेल रहे हैं। एक कौआ

पास आता है, राम उसे धीरेसे पकड़ना चाहते हैं। कौआ पीछे फुदक जाता है। अंतमें राम थक जाते हैं, परन्तु उन्हें एक युक्ति सूझती है। मिठाईका एक टुकड़ा लेकर राम कौएके पास जाते हैं। राम टुकड़ा जरा आगे बढ़ाते हैं, कौआ कुछ नजदीक आता है। इस तरहके वर्णनमें तुलसीदासने कई पंक्तियाँ दी हैं; क्योंकि वह कौआ परमेश्वर है। रामकी मूर्तिका अंश ही उस कौएमें भी है। राम और कौएकी वह पहचान मानो परमात्मासे परमात्माकी पहचान है।

(५४) दुर्जनमें भी परमेश्वरका दर्शन

सारांश यह कि इस प्रकार इस सारी सृष्टिमें, विविध रूपोंमें—पवित्र नदियोंके रूपमें, विशाल पर्वतोंके रूपमें, गंभीर सागरके रूपमें, वत्सल गोमाताके रूपमें, उम्दा घोड़ेके रूपमें, दिलेर सिंहके रूपमें, मधुर कोयलके रूपमें, सुन्दर मोरके रूपमें, स्वच्छ और एकांतप्रिय सर्पके रूपमें, पंख फड़फड़ानेवाले कौएके रूपमें, छटपटानेवाली ज्वालाओं-के रूपमें, प्रशान्त तारोंके रूपमें, सर्वत्र परमात्मा भरा हुआ है। आँखोंको उसे देखनेका अभ्यास कराना है। पहले मोटे और सरल अक्षर, फिर बारीक और संयुक्ताक्षर सीखने चाहिए। संयुक्ताक्षर न सीख लेंगे, तबतक पढ़नेमें प्रगति नहीं हो सकती। संयुक्ताक्षर कदम-कदमपर आयँगे। दुर्जनोंमें स्थित परमात्माको देखना भी सीखना चाहिए। राम समझमें आता है, परन्तु रावण भी समझमें आना चाहिए। प्रह्लाद जँचता है, परन्तु हिरण्यकशिपु भी जँचना चाहिए। वेदमें कहा है—

नमोनमः स्तेनानां पतये नमोनमः
नमः पुंजिष्ठेभ्यो नमो निषादेभ्यः।
ब्रह्म दाशा ब्रह्म दासा
ब्रह्मैवेमे कितवाः।

"उन डाकुओंके सरदारोंको नमस्कार! उन क्रूरोंको, उन हिंसकों-को नमस्कार! ये ठग, ये चोर, ये डाकू, सब ब्रह्म ही हैं। इन सबको नमस्कार!"

इसका अर्थ क्या? इसका अर्थ यह कि सरल अक्षर तो सीख गये, अब कठिन अक्षरोंको भी सीखो। कार्लाइलने 'विभूति-पूजा' नामक एक पुस्तक लिखी है। उसने उसमें नेपोलियनको भी एक विभूति कहा है। यहाँ शुद्ध परमात्मा नहीं है, मिश्रण है; परन्तु इस परमात्माको भी पचा लेना चाहिए। इसीलिए तुलसीदासने रावणको रामका विरोधी भक्त कहा है। हाँ, इस भक्तके रंग-ढंग जरा भिन्न हैं। आगसे जल जानेपर पाँव सूज जाता है, परंतु सूजनपर सेंक करनेसे वह ठीक हो जाता है। दोनों जगह तेज एक ही; पर आविर्भाव भिन्न-भिन्न हैं। राम और रावणमें आविर्भाव भिन्न-भिन्न दिखाई दिया, तो भी वह है एक ही परमेश्वरका।

स्थूल और सूक्ष्म, सरल और मिश्र, सरल अक्षर और संयुक्ताक्षर, सब सीखो और अंतमें यह अनुभव करो कि परमेश्वरसे खाली एक भी स्थान नहीं है। अणु-रेणुमें भी वही है। चींटीसे लेकर ब्रह्मांडतक सर्वत्र परमात्मा ही व्याप्त है। सबकी एक-सी चिंता करनेवाला कृपालु, ज्ञान-मूर्ति, वत्सल, समर्थ, पावन, सुन्दर, परमात्मा चारों ओर सर्वत्र खड़ा है।

रविवार, २४-४-'३२

ग्यारहवाँ अध्याय

विश्वरूप-दर्शन

(५५) विश्वरूप-दर्शनकी अर्जुनकी उत्कण्ठा

भाइयो, पिछली बार हमने इस बातका अभ्यास किया कि इस विश्वकी अनंत वस्तुओंमें व्याप्त परमात्माको हम कैसे पहचानें और हमारी आँखोंको जो यह विराट् प्रदर्शनी दिखाई देती है, उसे आत्मसात् कैसे करें? पहले स्थूल फिर सूक्ष्म, पहले सरल फिर मिश्र—इस प्रकार सब चीजोंमें भगवान्को देखें, उसका साक्षात्कार करें, अहर्निश अभ्यास करके सारे विश्वको आत्मरूप देखना सीखें—यह हमने पिछले अध्यायमें देख लिया।

अब, आज ग्यारहवाँ अध्याय देखना है। इस अध्यायमें भगवान्ने अपना प्रत्यक्ष रूप दिखाकर अर्जुनपर अपनी परम कृपा दिखलायी है। अर्जुनने भगवान्से कहा—"प्रभो, मैं आपका वह संपूर्ण रूप देखना चाहता हूँ, जिसमें आपका सारा महान् प्रभाव प्रकट हुआ हो, वह रूप मुझे आँखोंसे देखनेको मिले।" अर्जुनकी यह माँग विश्वरूप-दर्शनकी थी।

हम 'विश्व', 'जग'—इन शब्दोंका प्रयोग करते हैं। यह 'जग' विश्वका एक छोटा-सा भाग है। इस छोटे-से टुकड़ेको भी हम समझ नहीं पाते। सारे विश्वकी दृष्टिसे देखें, तो यह जग, जो हमें इतना विशाल दिखाई देता है, अतिशय तुच्छ लगेगा। रातके समय आकाशकी ओर जरा दृष्टि डालें, तो अनंत गोले दिखाई देते हैं। आकाशके आँगनकी वह रंगवल्ली, वे छोटे-छोटे सुन्दर फूल, वे लुक-लुक करनेवाली लाखों तारिकाएँ, इन सबका स्वरूप आप जानते हैं? ये छोटी-छोटी-सी तारिकाएँ महान् प्रचंड हैं। उनके अंदर अनंत सूर्यों-का समावेश हो जायगा। वे रसमय, तेजोमय ज्वलंत धातुओंके गोल पिंड हैं। ऐसे इन अनंत पिंडोंका हिसाब कौन लगायेगा? न

इनका अंत है, न पार। खाली आँखोंसे ही ये हजारों दीखते हैं। दूरबीनसे देखें, तो करोड़ों दिखाई देते हैं। उससे बड़ी दूरबीन हो, तो परार्धों दीखने लगेंगे और यह समझमें आना कठिन हो जायगा कि आखिर इसका अंत कहाँ है, कैसा है ? यह जो अनंत सृष्टि ऊपर-नीचे सब जगह फैली हुई है, उसका एक छोटा-सा टुकड़ा 'जग' कहलाता है। परंतु यह जग भी कितना विशालकाय दीख पड़ता है !

यह विशाल सृष्टि परमेश्वरके स्वरूपका एक पहलू हुआ। अब इसका दूसरा पहलू लो। वह है काल। यदि हम पिछले कालपर दृष्टि दौड़ायें, तो इतिहासकी मर्यादामें बहुत हुआ तो दस हजार सालतक पीछे जा सकेंगे, आगेका काल तो ध्यानमें ही नहीं आता। इतिहास-काल दस हजार वर्षोंका और स्वयं हमारा जीवन-काल तो मुश्किलसे सौ सालका है ! वास्तवमें कालका विस्तार अनादि और अनंत है। कितना काल बीता है, इसका कोई हद-हिसाब नहीं। आगे कितना काल है, इसकी कोई कल्पना नहीं होती। जैसे विश्वकी तुलनामें हमारा 'जग' सर्वथा तुच्छ है, वैसे ही इतिहासके ये दस हजार साल अनंतकालकी तुलनामें कुछ भी नहीं हैं। भूतकाल अनादि है और भविष्यकाल अनंत है। यह छोटा-सा वर्तमान-काल बात करते-करते भूतकालमें चला जाता है। वर्तमान-काल सचमुच कहाँ है, यह बताने जाते हैं, तबतक वह भूतकालमें विलीन हो जाता है। ऐसा यह अत्यंत चपल वर्तमान-काल मात्र हमारा है। मैं अभी बोल रहा हूँ, परंतु मुँहसे शब्द निकला कि वह भूतकालमें विलीन हुआ ! इस तरह यह महान् काल-नदी एक-सी बह रही है। न उसके उद्गमका पता है, न अंतका। बीचका थोड़ा-सा प्रवाहमात्र हमें दिखाई देता है।

इस प्रकार एक ओर स्थलका प्रचंड विस्तार और दूसरी ओर कालका प्रचंड प्रवाह—इन दोनों दृष्टियोंसे सृष्टिकी ओर देखें, तो समझ जायँगे कि कल्पना-शक्तिको चाहे जितना खींचनेपर भी इसका कोई अंत नहीं आ सकता। तीनों काल और तीनों स्थलमें, भूत-भविष्य-वर्तमानमें एवं ऊपर-नीचे और यहाँ-वहाँ, सब जगह व्याप्त विराट

परमेश्वर एक साथ एकबारगी दिखाई दे, परमेश्वरका इस रूपमें दर्शन हो, ऐसी इच्छा अर्जुनके मनमें उत्पन्न हुई है। इस इच्छामेंसे ग्यारहवाँ अध्याय निकला है।

अर्जुन भगवान्‌को बहुत प्यारा था। कितना प्यारा था ? इतना कि दसवें अध्यायमें किन-किन स्वरूपोंमें मेरा चिंतन करो, यह बताते हुए भगवान् कहते हैं—"पांडवोंमें जो अर्जुन है, उसके रूपमें मेरा चिंतन करो।" श्रीकृष्ण कहते हैं—'पाण्डवानां धनंजयः'। इससे अधिक प्रेम-का पागलपन, प्रेमोन्मत्तता कहाँ होगी ? यह इस बातका उदाहरण है कि प्रेम कितना पागल हो सकता है। अर्जुनपर भगवान्‌की अपार प्रीति थी। यह ग्यारहवाँ अध्याय उस प्रीतिका प्रसादरूप है। दिव्य रूप देखनेकी अर्जुनकी इच्छाको भगवान्‌ने उसे दिव्य दृष्टि देकर पूरा किया। अर्जुनको उन्होंने प्रेमका प्रसाद दिया।

(५६) छोटी मूर्तिमें भी पूर्ण दर्शन संभव

उस दिव्य रूपका सुन्दर वर्णन, भव्य वर्णन इस अध्यायमें है। यद्यपि यह बात सच है, तो भी इस विश्वरूपके लिए मुझे कोई खास लोभ नहीं। मैं छोटे-से रूपपर ही संतुष्ट हूँ। जो छोटा-सा सादा सुन्दर रूप मुझे दीखता है, उसकी माधुरीका अनुभव करना मैं सीख गया हूँ। परमेश्वर टुकड़ोंमें विभाजित नहीं है। मुझे ऐसा नहीं प्रतीत होता कि परमेश्वर-का जो रूप हम देख पाते हैं, वह उसका एक टुकड़ा है और बाकी परमेश्वर बाहर बचा हुआ है; बल्कि मैं देखता हूँ कि जो परमेश्वर इस विराट् विश्वमें व्याप्त है, वही संपूर्ण रूपमें जैसा-का-तैसा एक छोटी-सी मूर्तिमें, मिट्टीके एक कणमें भी व्याप्त है। उसमें कोई कमी नहीं। अमृतके सिंधुमें जो मिठास है, वही एक बिंदुमें भी होती है। मुझे लगता है, अमृतकी जो एक छोटी-सी बूँद मुझे मिल गयी है, उसीकी मिठास मैं चखता रहूँ। अमृतका दृष्टांत मैंने जान-बूझकर लिया है। पानी या दूधका दृष्टांत नहीं लिया है। एक प्याले दूधमें जो मिठास होगी, वही मिठास लोटेभर दूधमें होगी; परंतु मिठास चाहे वही हो, पुष्टि उतनी

ही नहीं हो सकती। एक बूँद दूधकी अपेक्षा एक प्याले दूधमें पुष्टि अधिक है। परंतु अमृतके उदाहरणमें यह बात नहीं है। अमृतके समुद्रकी मिठास तो अमृतके एक बूँदमें है ही, उसके अलावा पुष्टि भी उतनी ही है। बूँदभर अमृत भी गलेके नीचे उतर गया, तो उससे अमृतत्व ही मिलेगा।

इसी तरह जो दिव्यता, जो पवित्रता, परमेश्वरके विराट् स्वरूपमें है, वही एक छोटी-सी मूर्तिमें भी है। मान लो कि किसीने यदि मुट्ठीभर गेहूँ मुझे नमूनेके तौरपर लाकर दिये, तब भी यदि मुझे गेहूँकी पहचान न हुई, तो फिर बोरीभर गेहूँ भी यदि मेरे सामने रख दिये जायँ, तो वह कैसे होगी? ईश्वरका जो छोटा नमूना मेरी आँखोंके सामने है, उससे यदि ईश्वरको मैंने नहीं पहचाना, तो फिर विराट् परमेश्वरको देखकर भी मैं कैसे पहचानूँगा? छोटे-बड़ेमें क्या है? छोटे रूपको पहचान लिया, तो बड़ेकी पहचान हो ही गयी। अतः मुझे यह आकांक्षा नहीं होती कि ईश्वर अपना बड़ा रूप मुझे दिखाये। अर्जुनकी तरह विश्वरूप-दर्शनकी माँग करनेकी योग्यता भी मुझमें नहीं है। फिर जो कुछ मुझे दीखता है, वह विश्वरूपका कोई टुकड़ा है, ऐसी बात नहीं। किसी तस्वीरका कोई टुकड़ा ले आये, तो उससे सारे चित्रका खयाल हमें नहीं हो सकता। परंतु परमात्मा इस तरह टुकड़ोंसे बना हुआ नहीं है। परमात्मा न कटा हुआ है, न खंड-खंड किया हुआ है। एक छोटे-से स्वरूपमें भी वह अनंत परमेश्वर सारा-का-सारा समाया हुआ है। छोटे फोटो और बड़े फोटोमें क्या अन्तर है? जो बातें बड़े फोटोमें होती हैं, वही सब जैसी-की-तैसी छोटे फोटोमें भी होती हैं। छोटा फोटो बड़े फोटोका टुकड़ा नहीं है। छोटे टाइपके अक्षर हों, तो भी वही अर्थ होगा और बड़े टाइपके अक्षर हों, तो भी वही होगा। बड़े टाइपमें बड़ा अर्थ और छोटेमें छोटा अर्थ होता हो, सो बात नहीं।

मूर्ति-पूजाका आधार यही विचार-पद्धति है। मूर्ति-पूजापर अबतक अनेक लोगोंने आक्रमण किये हैं। बाहरके और यहाँके भी कुछ

विचारकोंने मूर्ति-पूजाको दोष लगाया है। किन्तु मैं ज्यों-ज्यों विचार करता हूँ, त्यों-त्यों मूर्ति-पूजाकी दिव्यता मेरे सामने स्पष्ट होती जाती है। मूर्ति-पूजाका अर्थ क्या है? एक छोटी-सी चीजमें सारे विश्वको अनुभव करनेकी विद्या मूर्ति-पूजा है। एक छोटे-से गाँवमें सारे ब्रह्मांडको देखनेकी विद्या सीखना क्या गलत है? यह कल्पना नहीं, प्रत्यक्ष अनुभवकी बात है। विराट् स्वरूपमें जो कुछ है, वही सब एक छोटी-सी मूर्तिमें है, वही एक मृत्-कणमें है। उस मिट्टीके ढेलेमें आम, केले, गेहूँ, सोना, ताँबा, चाँदी, सभी कुछ है। सारी सृष्टि उस कणके भीतर भरी है। जिस तरह किसी छोटी नाटक-मंडलीमें वे ही पात्र बार-बार भिन्न-भिन्न रूप बनाकर रंगमंचपर आते हैं, उसी तरह परमेश्वरको समझो। जैसे कोई एक नाटककार खुद ही नाटक लिखता है और खुद ही नाटकमें काम भी करता है, उसी तरह परमात्मा भी अनंत नाटक लिखता है और स्वयं अनंत पात्रोंके रूपमें सजकर रंग-भूमिपर अभिनय करता है। इस अनंत नाटकका एक पात्र पहचान लें, तो फिर सारे पात्र पहचानमें आ जायँगे।

काव्यकी उपमा, दृष्टांत आदिके लिए जो आधार है, वही मूर्ति-पूजाके लिए भी है। किसी गोल वस्तुको हम देखते हैं, तो हमें आनंद होता है; क्योंकि उसमें एक व्यवस्थितता होती है। व्यवस्थितता ईश्वरका स्वरूप है। ईश्वरकी सृष्टि सर्वांग-सुन्दर है। उसमें व्यव-स्थितता है। वह गोल वस्तु यानी व्यवस्थित ईश्वरकी मूर्ति। परंतु जंगलमें उपजा टेढ़ा-तिरछा पेड़ भी ईश्वरकी ही मूर्ति है। उसमें ईश्वरकी स्वच्छंदता है। उस पेड़को कोई बंधन नहीं है। ईश्वरको कौन बंधनमें डाल सकता है? वह बंधनातीत परमेश्वर उस टेढ़े-मेढ़े पेड़में है। कोई सीधा-सरल खंभा देखते हैं, तो उसमें ईश्वरकी समता दिखाई देती है। नक्काशीदार खंभा देखते हैं, तो उसमें आकाशमें नक्षत्रोंके बेल-बूटे काढ़नेवाला परमेश्वर दिखाई देता है। किसी कटे-छँटे व्यवस्थित बागमें ईश्वरका संयमी रूप दिखाई देता है, तो किसी विशाल वनमें ईश्वरकी भव्यता और स्वतंत्रताके दर्शन होते हैं।

जंगलमें भी आनन्द मिलता है और व्यवस्थित बागमें भी। तो फिर क्या हम पागल हैं? नहीं, आनंद दोनोंमें ही होता है, क्योंकि ईश्वरीय गुण प्रत्येकमें प्रकट हुआ है। चिकने शालग्रामकी बटियामें जो तेज है, वही एक ऊबड़-खाबड़ नर्मदाके 'शंकर' में है। अतः मुझे वह विराट् स्वरूप पृथक् न भी दिखाई दे, तो चिन्ता नहीं।

परमेश्वर सर्वत्र भिन्न-भिन्न वस्तुओंमें भिन्न-भिन्न गुणोंके द्वारा प्रकट हुआ है और इसीसे हमें आनंद होता है, उस वस्तुके विषयमें आत्मीयता प्रतीत होती है। जो आनंद होता है, वह अकारण नहीं। आनंद होता क्यों है? उससे कुछ-न-कुछ सम्बन्ध रहता है, इसीसे आनंद होता है। बच्चेको देखते ही माँका हिया उछलने लगता है; क्योंकि वह संबंध पहचानती है। इसी तरह प्रत्येक वस्तुसे परमात्माका नाता जोड़ो। मुझमें जो परमेश्वर है, वही उस वस्तुमें है। इस प्रकार संबंध बढ़ाना ही आनंद बढ़ाना है। आनंदकी और कोई उपपत्ति नहीं है। आप प्रेमका संबंध सब जगह जोड़ने लगिये, फिर देखिये, क्या चमत्कार होता है! फिर अनंत सृष्टिमें व्याप्त परमात्मा अणु-रेणुमें भी दिखाई देगा। एक बार यह दृष्टि आ जाय, तो फिर क्या चाहिए? परंतु इसके लिए इंद्रियोंको संस्कारकी, अभ्यास डालनेकी जरूरत है। हमारी भोग-वासना छूटकर जब हमें प्रेमकी पवित्र दृष्टि प्राप्त होगी, तब फिर प्रत्येक वस्तुमें ईश्वर ही दिखाई देगा। उपनिषदोंमें इस बातका बड़ा सुंदर वर्णन है कि आत्माका रंग कैसा होता है? आत्माका रंग कौन-सा बताया जाय? ऋषि प्रेमपूर्वक कहते हैं—

यथा अयं इन्द्रगोपः।

यह जो लाल-लाल रेशमका मुलायम मृगका कीड़ा—बीरबहूटी है, उसकी तरह आत्माका रूप है। उस मृगके कीड़ेको देखते हैं, तो कितना आनंद होता है। यह आनंद क्यों होता है? मुझमें जो भाव है, वही उस इंद्रगोपमें है। मुझसे उसका कोई संबंध न होता, तो आनंद होता? मेरे अंदर जो सुंदर आत्मा है, वही इंद्रगोपमें भी है। इसीलिए उसकी उपमा दी। उपमा क्यों देते हैं? उससे आनंद क्यों होता है? हम

उपमा इसलिए देते हैं कि उन दो वस्तुओंमें साम्य होता है और इसीसे आनंद होता है। यदि उपमेय और उपमान सर्वथा भिन्न हों, तो आनंद नहीं होगा। यदि कोई यह कहे कि नमक मिर्चकी तरह है, तो हम उसे पागल कहेंगे। पर यदि कोई यह कहे कि तारे फूलोंकी तरह हैं, तो उनमें साम्य दिखाई देनेसे आनंद होगा। नमक मिर्चकी तरह है, ऐसा कहनेसे सादृश्यका अनुभव नहीं होता; परंतु किसीकी दृष्टि यदि इतनी विशाल हो गयी हो, उसे ऐसा दर्शन हुआ हो कि जो परमात्मा नमकमें है, वही मिर्चमें है, वह 'नमक कैसा ?' तो 'मिर्चकी तरह है', इस कथनमें भी आनंद अनुभव करेगा। सारांश यह है कि ईश्वरीय रूप प्रत्येक वस्तुमें ओतप्रोत है। उसके लिए विराट् दर्शनकी आवश्यकता नहीं।

(५७) विराट् विश्वरूप पचेगा भी नहीं

फिर वह विराट् दर्शन मुझे सहन भी कैसे होगा ? छोटे, सगुण सुंदर रूपके प्रति मुझे जो प्रेम मालूम होता है, जो अपनापन लगता है, जो मधुरता मालूम होती है, उसका अनुभव विश्वरूप देखनेमें कदाचित् न हो। यही स्थिति अर्जुनकी हो गयी। वह थर-थर काँपते हुए अंतमें कहता है, "भगवन्! अपना वही पहलेवाला मनोहर रूप दिखाओ।" अर्जुन स्वानुभवसे कहता है कि विराट् स्वरूप देखनेकी इच्छा न करो। यही अच्छा है कि ईश्वर, जो तीनों कालों और तीनों स्थलोंमें व्याप्त है, वह सारा सिमिटकर यदि धधकता हुआ गोला बनकर मेरे सामने आ खड़ा हो, तो मेरी क्या दशा होगी ? ये तारे कितने शांत दिखाई देते हैं। ऐसा प्रतीत होता है, मानो इतनी दूरसे वे मुझसे बातें कर रहे हों। परन्तु दृष्टिको शांत करनेवाली वही तारिका यदि निकट आ जाय तो ? वह धधकती हुई आग ही है। मैं उसमें भस्म ही होकर रहूँगा। ईश्वरके ये अनंत ब्रह्मांड जहाँ हैं, वहाँ वैसे ही रहने दीजिये। उन सबको एक ही कमरेमें इकट्ठा कर देनेमें क्या आनंद है ? बंबईके उस कबूतरखानेमें हजारों कबूतर रहते हैं, वहाँ उन्हें क्या आजादी है? वह दृश्य बड़ा अटपटा मालूम होता है। मजा इसीमें है, जो यह सृष्टि

ऊपर, नीचे, यहाँ—इन तीनों स्थलोंमें विभाजित है। जो बात स्थलात्मक सृष्टिको लागू है, वही कालात्मक सृष्टिके लिए भी है। हमें भूतकालकी स्मृति नहीं रहती और भविष्यका ज्ञान नहीं होता, इसमें हमारा कल्याण ही है। कुरान शरीफमें पाँच ऐसी वस्तुएँ बतायी गयी हैं, जिनमें सिर्फ परमेश्वरकी ही सत्ता है, मनुष्य प्राणीकी सत्ता बिलकुल नहीं है। उनमें एक है—भविष्यकालका ज्ञान। हम अंदाज जरूर लगाते हैं, परंतु अंदाजका अर्थ ज्ञान नहीं है। भविष्यका ज्ञान हमें नहीं होता, यह हमारे कल्याणकी ही बात है। वैसे ही भूतकालकी स्मृति हमें नहीं रहती, यह भी सचमुच बड़ी अच्छी बात है। कोई दुर्जन यदि सज्जन बनकर भी मेरे सामने आये, तो भी उसके भूतकालकी स्मृतिके कारण मेरे मनमें उसके प्रति आदर नहीं होता। वह कितना ही कहे, उसके पिछले पापोंको मैं सहसा भूल नहीं सकता। संसार उसके पापोंको उसी अवस्थामें भूल सकेगा, जब कि वह मनुष्य मरकर दूसरे रूपमें हमारे सामने आयेगा।

पूर्व-स्मरणसे विकार बढ़ते हैं। यदि पहलेका यह सारा ज्ञान ही नष्ट हो जाय, तो फिर सब समाप्त! पाप-पुण्यको भूल जानेकी कोई युक्ति होनी चाहिए। वह युक्ति है मरण। जब हमें इसी जन्मकी वेदनाएँ असह्य लगती हैं, तब फिर पिछले जन्मोंके कूड़े-करकटकी खोज क्यों करें? अपने इसी जन्मके कमरेमें क्या कम कूड़ा-करकट है? अपना बचपन भी हम बहुत-कुछ भूल जाते हैं। यह भूलना अच्छा ही है। हिंदू-मुस्लिम-ऐक्यके लिए भूतकालका विस्मरण ही एकमात्र उपाय है। औरंगजेबने जुल्म किया था, इसको कितने दिनोंतक रटते रहोगे? गुजरातीमें रतनबाईका एक गरबा-गीत है। उसे हम बहुत बार यहाँ सुनते हैं। उसके अंतमें कहा है—"संसारमें सबकी कीर्ति ही शेष रहेगी। पापको लोग भूल जायँगे।" यह काल छननी कर रहा है। इतिहासमें जितना अच्छा हो, उतना ले लेना चाहिए। पाप फेंक देना चाहिए। मनुष्य यदि बुराईको छोड़कर सिर्फ अच्छाईको ही याद रखे, तो कैसी बहार हो! परंतु ऐसा नहीं होता। इसलिए विस्मृतिकी बहुत आवश्यकता है। इसके लिए भगवान्‌ने मृत्युका निर्माण किया है।

सारांश यह कि यह जगत् जैसा है, वैसा ही मंगलरूप है। इस कालस्थलात्मक जगको एक जगह एकत्र करनेकी जरूरत नहीं है। अति परिचयमें मजा नहीं है। कुछ चीजोंसे घनिष्ठता बढ़ानी होती है, तो कुछ चीजोंसे दूर रहना होता है। गुरु होगा, तो नम्रतापूर्वक दूर बैठेंगे। परंतु माँकी गोदमें जाकर बैठेंगे। जिस मूर्तिके साथ जैसा व्यवहार करनेकी जरूरत हो, वैसा ही करना चाहिए। फूलको हम निकट लें, परंतु आगसे बचकर रहें। तारे दूरसे ही सुन्दर लगते हैं। यही हाल सृष्टिका है। अति दूरवाली यह सृष्टि अति निकट लानेसे हमें अधिक आनंद होगा, सो बात नहीं। जो चीज जहाँ है, उसे वहीं रहने देनेमें मजा है। जो चीज दूरसे रम्य मालूम होती है, वह निकट लानेसे सुखदायी ही होगी, ऐसा नहीं कह सकते। उसे वहीं दूर रखकर उसका रस चखना चाहिए। ढीठ बनकर, बहुत घनिष्ठता बढ़ाकर अति परिचय कर लेनेमें कुछ सार नहीं है।

सारांश यह कि तीनों काल हमारे सामने खड़े नहीं हैं, सो अच्छा ही है। तीनों कालोंका ज्ञान होनेसे आनंद अथवा कल्याण होगा ही, ऐसा नहीं कह सकते। अर्जुनने प्रेमवश हो हठ पकड़ लिया, प्रार्थना की, तो भगवान्‌ने उसे स्वीकार कर लिया। उन्होंने उसे अपना वह विराट् रूप दिखलाया; परंतु मुझे तो भगवान्‌का छोटा-सा रूप ही पर्याप्त है। यह छोटा रूप परमेश्वरका टुकड़ा तो है नहीं और यदि टुकड़ा भी हो, तो उस अपार और विशाल मूर्तिका एक चरण या चरणकी एक अंगुली ही मुझे दीख गयी, तो भी मैं कहूँगा—“धन्य है मेरा भाग्य!” अनुभवसे मैंने यह सीखा है। जमनालालजीने जब वर्धामें लक्ष्मीनारायणका मंदिर हरिजनोंके लिए खोल दिया, तो उस समय मैं दर्शनके लिए गया था। पंद्रह-बीस मिनटतक उस रूपको देखता रहा। समाधि लगने जैसी स्थिति मेरी हो गयी। भगवान्‌का वह मुख, वह छाती, वे हाथ देखते-देखते पाँवोंतक पहुँचा और अंतमें चरणोंपर जाकर दृष्टि स्थिर हो गयी। ‘मधुर तेरी चरणसेवा’ यही भावना अंतमें रह गयी। यदि एक छोटे-से रूपमें वह महान् प्रभु न समा जाता हो, तो

फिर उस महापुरुषके चरण ही दीख जाना पर्याप्त है। अर्जुनने ईश्वरसे प्रार्थना की। उसका अधिकार बड़ा था। उसकी कितनी घनिष्ठता, कितना प्रेम, कैसा सख्यभाव था! मेरी क्या योग्यता है? मुझे तो चरण ही बस हैं, मेरा अधिकार इतना ही है।

(५८) सर्वार्थ-सार

उस परमेश्वरके दिव्य रूपका जो वर्णन है, उसमें बुद्धि चलानेकी मेरी इच्छा नहीं। उसमें बुद्धि चलाना पाप है। विश्व-रूप-वर्णनके उन पवित्र श्लोकोंको हम पढ़ें और पवित्र बनें। बुद्धि चलाकर परमेश्वरके उस रूपके टुकड़े किये जायँ, यह मुझे नहीं भाता! वह अघोर उपासना हो जायगी। अघोरपंथी लोग श्मशानमें जाकर मुर्दे चीरते हैं और तंत्रोपासना करते हैं। ऐसी ही वह क्रिया हो जायगी। परमेश्वरका वह दिव्य रूप—

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो
विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात् ॥

ऐसा वह विशाल और अनंतरूप! उसके वर्णनात्मक श्लोकोंको गायें और गाकर अपना मन निष्पाप और पवित्र बनायें।

परमेश्वरके इस सारे वर्णनमें केवल एक ही जगह बुद्धि विचार करने लगती है। परमेश्वर अर्जुनसे कहते हैं—"अर्जुन, ये सब-के-सब मरनेवाले हैं, तू तो निमित्तमात्र हो जा, करने-धरनेवाला तो सब कुछ मैं हूँ।" यही ध्वनि मनमें गूँजती रहती है। जब यह विचार मनमें आता है कि हमें ईश्वरके हाथका एक हथियार बनना है, तो बुद्धि विचार करने लगती है। ईश्वरके हाथका औजार बनें कैसे? कृष्णके हाथकी मुरली कैसे बनूँ? वह अपने होंठसे मुझे लगा लें और मधुर स्वर निकालें, मुझे बजाने लगें, यह कैसे होगा? मुरली बनना यानी पोला बनना! पर मुझमें तो विकार और वासनाएँ ठसा-ठस भरी हुई हैं, ऐसी दशामें मुझमेंसे मधुर स्वर कैसे निकलेगा? मेरा स्वर तो मोटा है। मैं घन वस्तु हूँ। मुझमें अहंकार भरा हुआ है।

मुझे निरहंकार होना चाहिए। जब मैं पूर्ण रूपसे मुक्त, पोला हो जाऊँगा, तभी परमेश्वर मुझे बजायेगा; परन्तु परमेश्वरके होंठोंकी मुरली बनना है बड़े साहसका काम। यदि उसके पैरोंकी जूतियाँ बनना चाहूँ, तो भी आसान नहीं है। परमेश्वरकी जूती ऐसी मुलायम होनी चाहिए कि परमेश्वरके पाँवमें जरा भी छाले न पड़ने पायें। परमेश्वरके चरण और काँटे-कंकड़के बीच मुझे पड़ जाना है। मुझे अपनेको कमाना होगा। अपनी खाल उतारकर उसे सतत कमाते रहना होगा, मुलायम बनाना होगा। अतः परमेश्वरके पाँवोंकी जूती बनना भी सरल नहीं है। परमेश्वरके हाथका औजार बनना हो, तो मुझे दस सेर वजनका लोहेका गोला नहीं बनना चाहिए। तपश्चर्याकी सानपर अपनेको चढ़ाकर तेज धार बनानी होगी। ईश्वरके हाथमें मेरी जीवनरूपी तलवार चमकनी चाहिए। यह गुंजार मेरी बुद्धिमें उठा करती है। भगवान्‌के हाथका एक औजार बनना है—इसी विचारमें निमग्न हो जाता हूँ। अब वह कैसे हो, इसकी विधि स्वयं भगवान्‌ने अंतिम श्लोकमें बता दी है। श्री शंकराचार्यने अपने भाष्यमें इस श्लोकको 'सर्वार्थ-सार'—सारी गीताका सार कहा है। वह कौन-सा श्लोक है? वह है—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥

... ...

'हे पाण्डव! जो सब कर्म मुझे समर्पण करता है, मुझमें परायण रहता है, मेरा भक्त बनता है, आसक्तिका त्याग करता है और प्राणी मात्रमें द्वेष रहित होकर रहता है, वह मुझे पाता है।'

जिसका संसारमें किसीसे वैर नहीं, जो तटस्थ रहकर संसारकी निरपेक्ष सेवा करता है, जो-जो करता है, सब मुझे अर्पित कर देता है, मेरी भक्तिसे सराबोर है, क्षमावान्, निःसंग, विरक्त, प्रेममय जो भक्त है, वह परमेश्वरके हाथका हथियार बनता है, ऐसा यह सार है।

रविवार, १-५-'३२

बारहवाँ अध्याय

सगुण-निर्गुण-भक्ति

(५९) अध्याय ६ से ११ : एकाग्रतासे समग्रता

गंगाका प्रवाह यों तो सभी जगह पावन और पवित्र है; परंतु हरिद्वार, काशी, प्रयाग जैसे स्थान अधिक पवित्र हैं। उन्होंने सारे संसारको पवित्र कर दिया है। भगवद्गीताका यही हाल है। भगवद्गीता आदिसे अन्ततक सभी जगह पवित्र है। परंतु बीचमें कुछ अध्याय ऐसे हैं, जो तीर्थ-क्षेत्र बन गये हैं। आज जिस अध्यायके संबंधमें हमें कहना है, वह बड़ा पवित्र तीर्थ जैसा बन गया है। स्वयं भगवान् ही उसे 'अमृतधारा' कहते हैं—'ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।' है तो यह छोटा-सा बीस श्लोकोंका ही अध्याय; परंतु अमृतकी धारा है। अमृतकी तरह मधुर है, संजीवन-सा है। इस अध्यायमें भगवान्ने श्रीमुखसे भक्ति-रसकी महिमाका तत्त्व गाया है।

वास्तवमें छठे अध्यायसे भक्ति-तत्त्व प्रारंभ हो गया है। पाँचवें अध्यायके अंततक जीवन-शास्त्रका प्रतिपादन हुआ। स्वधर्माचरणरूप कर्म, उसके लिए सहायक मानसिक साधनारूप विकर्म, इन दोनोंकी साधनासे संपूर्ण कर्मोंको भस्म करनेवाली अंतिम अकर्मकी भूमिका— इतनी बातोंका विचार पहले पाँच अध्यायोंतक हुआ। इतनेमें जीवन-शास्त्र समाप्त हो गया। अब छठे अध्यायसे एक तरहसे भक्ति-तत्त्वका ही विचार ग्यारहवें अध्यायके अंततक चला। एकाग्रतासे आरम्भ हुआ। छठे अध्यायमें यह बताया गया है कि चित्तकी एकाग्रता कैसे हो सकती है, उसके क्या-क्या साधन हैं और उसकी क्यों आवश्यकता है? ग्यारहवें अध्यायमें समग्रता बतायी गयी है। अब देखना यह है कि एकाग्रतासे लेकर समग्रतातककी लंबी मंजिल हमने कैसे तय की?

चित्तकी एकाग्रतासे शुरुआत हुई। एकाग्रता सिद्ध होनेपर किसी भी विषयका विचार मनुष्य कर सकता है। चित्तकी एकाग्रताका

उपयोग—मेरा प्रिय विषय लें तो—गणितके अध्ययनमें हो सकेगा। उससे अवश्य फल-लाभ होगा; परंतु यह चित्तकी एकाग्रताका सर्वोत्तम साधन नहीं है। गणितके अध्ययनसे एकाग्रताकी पूरी परीक्षा नहीं होती। गणितमें अथवा ऐसे ही किसी ज्ञान-प्रांतमें चित्तकी एकाग्रतासे सफलता तो मिलेगी; परंतु यह सच्ची परीक्षा नहीं है। इसलिए सातवें अध्यायमें यह बताया कि हमारी दृष्टि भगवान्‌के चरणोंकी ओर होनी चाहिए। आठवें अध्यायमें कहा गया कि भगवान्‌के चरणोंमें एकाग्रता सतत बनी रहे—हमारी वाणी, कान, आँख सतत उसीमें लगी रहे, इसलिए आमरण प्रयत्न करना चाहिए। हमारी सभी इंद्रियोंको ऐसा अभ्यास हो जाना चाहिए।

पडिलें वळण इन्द्रियां सकळां। भाव तो निराळा नाहीं दुजा॥

—सब इन्द्रियोंको आदत पड़ गयी—अब दूसरी भावना नहीं रही।

ऐसा हो जाना चाहिए। सब इंद्रियोंको भगवान्‌की धुन लग जानी चाहिए। हमारे समीप चाहे कोई विलाप कर रहा हो या भजन गा रहा हो, कोई वासनाका जाल बुन रहा हो या विरक्त सज्जनोंका, संतोंका समागम हो रहा हो, सूर्य हो या अंधकार हो, मरण-कालमें परमेश्वर चित्तके सामने खड़ा रहेगा—इस तरहका अभ्यास जीवन-भर सब इंद्रियोंसे कराना, यह सातत्यकी शिक्षा आठवें अध्यायमें दी गयी है। छठे अध्यायमें एकाग्रता, सातवेंमें ईश्वराभिमुख एकाग्रता यानी 'प्रपत्ति', आठवेंमें सातत्ययोग और नवेंमें समर्पणता सिखायी है। दसवेंमें क्रमिकता बतायी है। एक-एक कदम आगे चलकर ईश्वर-का रूप कैसे हृदयंगम किया जाय, चींटीसे लेकर ब्रह्मदेवतकमें व्याप्त परमात्माको धीरे-धीरे कैसे आत्मसात् किया जाय, यह बताया गया। ग्यारहवें अध्यायमें समग्रता बतायी गयी। विश्व-रूप-दर्शनको ही मैं समग्रता-योग कहता हूँ। विश्व-रूप-दर्शनका अर्थ है—यह अनुभव करना कि मामूली रज-कणमें भी सारा विश्व समाया हुआ है। यही विराट् दर्शन है। छठे अध्यायसे लेकर ग्यारहवेंतक भक्तिरसकी ऐसी यह भिन्न-भिन्न प्रकारसे छननी की गयी है।

(६०) सगुण उपासक और निर्गुण उपासक : माँके दो पुत्र

अब बारहवें अध्यायमें भक्तितत्त्वकी समाप्ति करनी है। अर्जुनने समाप्तिसंबंधी प्रश्न पूछा। पाँचवें अध्यायमें जीवनसंबंधी सर्व शास्त्रोंका विचार समाप्त होते समय जैसा प्रश्न अर्जुनने पूछा था, वैसा ही यहाँ भी पूछा है। अर्जुन पूछता है—"भगवन्, कुछ लोग सगुणका भजन करते हैं और कुछ निर्गुणकी उपासना करते हैं। तो अब बताओ कि इन दोनोंमें आपको कौन प्रिय है?"

भगवान् इसका क्या उत्तर दें? किसी माँके दो बच्चे हों और उससे उनके बारेमें प्रश्न किया जाय, वैसा ही यह है। दोमें एक बच्चा छोटा हो, वह माँको बहुत प्यार करता हो, माँको देखते ही आनंदित होता हो और माँके जरा दूर जाते ही व्याकुल होता हो। वह माँसे दूर जा ही नहीं सकता, उसे छोड़ नहीं सकता, उसका वियोग वह सहन कर नहीं सकता। माँ न हो, तो उसे सारा संसार सूना! ऐसा यह छोटा बच्चा है। दूसरा बच्चा बड़ा है। वह भी है तो उसी तरह प्रेमभावसे सराबोर, पर समझदार हो गया है। माँसे दूर रह सकता है। पाँच-छह मास भी माँसे मुलाकात न हो, तो भी वह रह सकता है। वह माँकी सेवा करनेवाला है। सारा बोझ अपने सिरपर लेकर काम करता है। काम-काजमें लग जानेसे माँका विछोह सह सकता है। लोगोंमें उसकी प्रतिष्ठा है और चारों ओर उसका नाम सुनकर माँको बड़ा सुख मिलता है। ऐसा यह दूसरा बेटा है। ऐसे दो बेटोंके बारेमें माँसे कहिये—"माँ! इन दो बेटोंमेंसे एक ही बेटा आपको दिया जायगा। आप जिसे चाहें पसंद करें!" तो वह क्या उत्तर देगी? किस बेटेको वह पसंद करेगी? क्या वह दोनों बेटोंको तराजूमें रखकर तौलेगी? माताकी भूमिकापर ध्यान दीजिये। उसका स्वाभाविक उत्तर क्या होगा? वह निरुपाय होकर कहेगी—"यदि बिछोह ही होना है, तो बड़े बेटेका वियोग मैं सह लूँगी।" छोटे बेटेको उसने छातीसे लगाया है। उसे वह अपनेसे दूर नहीं कर सकती। छोटे बेटेके विशेष आकर्षणको देखकर शायद वह ऐसा कोई जवाब दे—"बड़ा बेटा दूर

जाय, तो हर्ज नहीं।" परंतु उसे अधिक प्रिय कौन है, इस प्रश्नका यह उत्तर नहीं कहा जा सकता। कुछ-न-कुछ उत्तर देना है, इसलिए दो-चार शब्द वह बोल देगी; परंतु उन शब्दोंके पेटमें घुसकर यदि उनका अर्थ निकालने लगेंगे, तो वह ठीक न होगा।

इस प्रश्नका उत्तर देते हुए जैसे उस माँको दुविधा होगी, ठीक वैसी ही स्थिति भगवान्‌के मनकी हो गयी है। अर्जुन कहता है—"भगवन्, दो तरहके भक्त आपके हैं। एक आपके प्रति अत्यन्त प्रेम रखता है, आपका सतत स्मरण करता है। उसकी आँखें आपकी प्यासी, कान आपका गान सुननेको उत्सुक, हाथ-पाँव आपकी सेवा-पूजाके लिए उत्कंठित हैं। दूसरा है स्वावलंबी, इन्द्रियोंको सतत वशमें रखनेवाला, सर्वभूत हितमें रत, रात-दिन समाजकी निष्काम सेवामें ऐसा मग्न कि मानो उसे परमेश्वरका स्मरण ही न होता हो। यह है आपका अद्वैतमय दूसरा भक्त। अब मुझे यह बताइये कि इन दोनोंमें आपका प्रिय भक्त कौन-सा है?" अर्जुनका भगवान्‌से यह प्रश्न है। अब जिस तरह उस माँने जवाब दिया, ठीक उसी तरह भगवान्‌ने इसका उत्तर दिया है—"वह सगुण भक्त मुझे प्रिय है। वह दूसरा—अद्वैती भक्त भी मेरा ही है।" इस तरह भगवान् द्विविधामें पड़ गये हैं—कुछ-न-कुछ उत्तर देना था, इसलिए दे डाला।

और सचमुच बात भी ऐसी ही है। अक्षरशः दोनों भक्त एकरूप हैं। दोनोंकी योग्यता एक-सी है। उसकी तुलना करना मर्यादाका अति-क्रमण करना है। पाँचवें अध्यायमें कर्मके विषयमें जैसा प्रश्न अर्जुनने पूछा था, वैसा ही यहाँ भक्तिके संबंधमें पूछा है। पाँचवें अध्यायमें कर्म और विकर्मकी सहायतासे मनुष्य अकर्म-दशाको प्राप्त होता है। वह अकर्मावस्था दो रूपोंमें प्रकट होती है—एक तो यह कि रात-दिन कर्म करते रहते हुए भी लेशमात्र कर्म नहीं करता और दूसरा चौबीस घंटेमें एक भी कर्म न करते हुए मानो दुनियाभरकी उखाड़-पछाड़ करता है। इन दोनों रूपोंमें अकर्म-दशा प्रकट होती है। अब इनकी तुलना कैसे की जाय? किसी वर्तुलके एक पहलूसे दूसरे पहलूकी तुलना कीजिये।

एक ही वर्तुलके दो पहलू—इनकी तुलना करें कैसे ? दोनों पहलू एक-सी योग्यता, गुण रखते हैं—एक ही रूप हैं। अकर्म-भूमिकाका विवेचन करते हुए भगवान्‌ने एकको संन्यास और दूसरेको योग कहा है। शब्द भले ही दो हों, पर अर्थ एक ही है। संन्यास और योग, दोनोंका हल अन्तमें सरलता, सुगमताके आधारपर ही किया गया है। सगुण-निर्गुणका प्रश्न भी ऐसा ही है। एक सगुण भक्त इन्द्रियोंके द्वारा परमेश्वरकी सेवा करता है। दूसरा निर्गुण भक्त मनसे विश्वकल्याणकी चिंता करता है। पहला बाह्य सेवामें मग्न दिखाई देता है, परंतु भीतरसे उसका चिंतन सतत जारी है। दूसरा कुछ भी प्रत्यक्ष सेवा करता हुआ नहीं दिखाई देता, परंतु भीतरसे उसकी महासेवा चल ही रही है। इस प्रकारके दो भक्तोंमें श्रेष्ठ कौन-सा है ? रात-दिन कर्म करके भी लेशमात्र कर्म न करनेवाला सगुण भक्त है। निर्गुण उपासक भीतरसे सबके हितका चिंतन, सबकी चिंता करता है। ये दोनों भक्त भीतरसे एकरूप ही हैं, अलबत्ता बाहरसे भिन्न दिखाई देते हैं, परंतु दोनों हैं एक-से ही, दोनों भगवान्‌के प्यारे हैं। फिर भी इनमें सगुण भक्ति अधिक सुलभ है। इस तरह भगवान्‌ने जो उत्तर पाँचवें अध्यायमें दिया, वही यहाँ भी दिया है।

(६१) सगुण सुलभ और सुरक्षित

सगुण-भक्ति-योगमें प्रत्यक्ष इंद्रियोंसे काम लिया जा सकता है। इंद्रियाँ या तो साधन हैं या विघ्नरूप या दोनों हैं। वे मारक हैं या तारक—यह देखनेवालेकी दृष्टिपर अवलंबित है। मान लो कि किसीकी माँ मृत्यु-शय्यापर पड़ी हुई है और वह उससे मिलना चाहता है। दोनोंके बीच पंद्रह मीलका रास्ता है। उसपर मोटर नहीं जा सकती। टूटी-फूटी पगडंडी है। ऐसे समय यह रास्ता साधन है या विघ्न ? कोई कहेगा—"कहाँका यह मनहूस रास्ता बीचमें आ गया, नहीं तो मैं कबका माँसे जाकर मिल लेता !" ऐसे व्यक्तिके लिए वह रास्ता शत्रु है। किसी तरह रास्ता काटते हुए वह जाता है। वह

रास्तेको कोस रहा है। परंतु माँको देखनेके लिए उसे हर हालतमें जल्दी-जल्दी कदम उठाकर जाना जरूरी है। रास्तेको शत्रु समझकर वह वहीं नीचे बैठ जायगा, तो दुश्मन जान पड़नेवाले उस रास्तेकी विजय हो जायगी। वह सरपट चलकर ही उस शत्रुको जीत सकता है। दूसरा व्यक्ति कहेगा—"यह जंगल है, फिर भी इसमेंसे होकर जानेका रास्ता तो बना हुआ है, यही गनीमत है। किसी तरह माँतक जा पहुँचूँगा। यह न होता, तो इस दुर्गम पहाड़परसे कैसे आगे जा पाता ?" यह कहकर वह उस पगडंडीको एक साधन समझता हुआ तेजीसे आगे क़दम बढ़ाता जाता है। रास्तेके प्रति उसके मनमें स्नेह-भाव होगा, उसे वह मित्र मानेगा। अब आप उस रास्तेको चाहे मित्र मानिये या शत्रु, अंतर डालनेवाला कहिये या अंतर कम करनेवाला, जल्दी-जल्दी कदम तो आपको उठाना ही होगा। रास्ता विघ्नरूप है या साधनरूप, यह तो मनुष्यके चित्तकी भूमिकापर, उसकी दृष्टिपर अवलंबित है। यही बात इंद्रियोंकी है। वे विघ्नरूप हैं या साधक, यह आपकी अपनी दृष्टिपर निर्भर करता है।

सगुण उपासकके लिए इंद्रियाँ साधन हैं। इंद्रियाँ मानो पुष्प हैं, जिन्हें परमात्माको अर्पित करना है। आँखोंसे हरिका रूप देखें, कानोंसे हरि-कथा सुनें, जीभसे हरि-नामका उच्चारण करें, पाँवोंसे तीर्थ-यात्रा करें और हाथोंसे सेवा-कार्य करें—इस तरह समस्त इंद्रियोंको वह परमेश्वरको अर्पण कर देता है। इंद्रियाँ भोगके लिए नहीं रह जातीं। पुष्प तो भगवान्पर चढ़ानेके लिए होते हैं। फूलोंकी माला स्वयं अपने गलेमें डालनेके लिए नहीं होती। इसी तरह इंद्रियोंका उपयोग ईश्वरकी सेवाके लिए करना है। यह हुई सगुणोपासककी दृष्टि; परंतु निर्गुणोपासकको इंद्रियाँ विघ्नरूप मालूम होती हैं। वह उन्हें संयममें रखता है। बंद करके रखता है, उनका खाना बंद कर देता है, उनपर पहरा बैठा देता है। सगुणोपासकको यह सब कुछ नहीं करना पड़ता। वह सब इंद्रियोंको हरि-चरणोंमें चढ़ा देता है। ये दोनों विधियाँ इंद्रिय-निग्रहकी ही हैं—इंद्रिय-दमनके ही ये दोनों प्रकार हैं।

आप किसी भी विधिको लेकर चलिये, परंतु इंद्रियोंको अपने काबूमें रखिये। ध्येय दोनोंका एक ही है—उन्हें विषयोंमें न भटकने देना। एक विधि सुलभ है, दूसरी कठिन है।

निर्गुण उपासक सर्वभूतहित-रत होता है। यह कोई मामूली बात नहीं है। 'सारे विश्वका कल्याण करना' कहनेमें सरल है; पर करना बहुत कठिन है। जिसे समग्र विश्वके कल्याणकी चिंता है, वह चिंतनके सिवा दूसरा कुछ नहीं कर सकता। इसीलिए निर्गुण-उपासना कठिन है। सगुण-उपासना अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार अनेक प्रकारसे की जा सकती है। उस छोटे-से देहातकी, जहाँ हमारा जन्म हुआ, सेवा करना अथवा माँ-बापकी सेवा करना सगुण-पूजा है। इसमें केवल इतना ही ध्यान रखना है कि हमारी यह पूजा जगत्के हितकी विरोधी न हो। आपकी सेवा कितनी ही छोटी क्यों न हो, वह यदि दूसरोंके हितमें बाधा न डालती हो, तो अवश्य भक्तिकी श्रेणीमें पहुँच जायगी, नहीं तो वह सेवा आसक्तिका रूप ग्रहण कर लेगी। माँ-बाप हों, मित्र हों, दुःखी बंधु-बांधव हों, साधु-संत हों, इन्हें परमेश्वर समझकर इनकी सेवा करनी चाहिए। इन सबमें परमेश्वरकी मूर्तिकी कल्पना करके संतोष मानो। यह सगुण-पूजा सुलभ है; परंतु निर्गुण-पूजा कहीं कठिन है। यों दोनोंका अर्थ एक ही है। सुलभताकी दृष्टिसे सगुण श्रेयस्कर है, बस!

सुलभताके अलावा एक और भी मुद्दा है। निर्गुण-उपासनामें भय है। निर्गुण ज्ञानमय है। सगुण प्रेममय, भावनामय है। सगुणमें आर्द्रता है। उसमें भक्त अधिक सुरक्षित है। निर्गुणमें कुछ खतरा है। एक समय ऐसा था, जब ज्ञानपर मैं अधिक निर्भर था; परंतु अब मुझे ऐसा अनुभव हो गया है कि केवल ज्ञानसे मेरा काम नहीं चल सकता। ज्ञानसे मनका स्थूल मैल जलकर भस्म हो जाता है; परंतु सूक्ष्म मैलको मिटानेकी सामर्थ्य उसमें नहीं है। स्वावलंबन, विचार, विवेक, अभ्यास, वैराग्य—इन सभी साधनोंको ले लीजिये, फिर भी इनके द्वारा मनके सूक्ष्म मैल नहीं मिट सकते। भक्तिरूपी पानीकी सहायता के बिना ये

मैल नहीं धुल सकते। भक्तिरूपी पानीमें ही यह शक्ति है। इसे आप चाहें तो परावलंबन कह दीजिये। परंतु 'पर' का अर्थ 'दूसरा' न करके वह 'श्रेष्ठ परमात्मा' कीजिये और उसका अवलंबन—ऐसा अर्थ ग्रहण कीजिये। परमात्माका आधार लिये बिना चित्तके मैल नष्ट नहीं होते।

कोई यह कहेंगे कि "यहाँ 'ज्ञान' शब्दका अर्थ संकुचित कर दिया है। यदि 'ज्ञान' से चित्तके मैल नहीं धुल सकते, तो ज्ञानका दर्जा नीचा ठहरता है।" मैं इस आक्षेपको स्वीकार करता हूँ, परंतु मेरा कहना यह है कि शुद्ध ज्ञान इस मिट्टीके पुतलेमें रहते हुए होना कठिन है। इस देहमें रहते हुए जो ज्ञान होगा, वह कितना ही शुद्ध क्यों न हो, उसमें कुछ अशुद्धि, विकृति या अपूर्णता रह ही जायगी। इस देहमें जो ज्ञान उत्पन्न होगा, उसकी शक्ति मर्यादित ही रहेगी। यदि शुद्ध ज्ञानका उदय हो जाय, तो उससे सारे मैल भस्म हो जायँगे, इसमें मुझे तिलमात्र शंका नहीं है। चित्तसहित सारे मलोंको भस्म कर डालनेकी सामर्थ्य ज्ञानमें है; परंतु इस विकारवान् देहमें ज्ञानका बल कम पड़ता है, इससे उसके द्वारा सूक्ष्म मलोंका मिटना सम्भव नहीं है। अतः भक्तिका आश्रय लिये बिना सूक्ष्म मल मिटते नहीं। इसीलिए भक्तिमें मनुष्य अधिक सुरक्षित है। यह 'अधिक' शब्द मेरी ओरसे समझिये। सगुण भक्ति सुलभ है। इसमें परमेश्वरावलंबन है, निर्गुणमें स्वावलंबन। इसमें 'स्व' का भी क्या अर्थ है? "अपने अंतःस्थ परमात्माका आधार"— यही उस स्वावलंबनका अर्थ है। ऐसा कोई व्यक्ति नहीं मिल सकता, जो केवल बुद्धिके सहारे शुद्ध हो गया हो। स्वावलंबनसे अर्थात् आन्तरिक आत्म-ज्ञानसे शुद्ध ज्ञान प्राप्त होगा। सारांश, निर्गुण भक्तिके स्वावलंबनमें भी आत्माका ही आधार है।

(६२) निर्गुणके अभावमें सगुण भी सदोष

जैसे सगुण-उपासनाके पक्षमें मैंने सुलभता और सुरक्षिततारूपी वजन डाल दिया, वैसे ही निर्गुणके पक्षमें भी मैं डाल सकता हूँ। निर्गुणमें एक मर्यादा रहती है। उदाहरणार्थ, हम भिन्न-भिन्न कामोंके

लिए, सेवाके लिए संस्था स्थापित करते हैं। संस्थाएँ शुरूमें व्यक्तिको लेकर बनती हैं। वह व्यक्ति मुख्य आधार रहता है। संस्था पहले व्यक्ति-निष्ठ रहती है। परंतु जैसे-जैसे उसका विकास होता जाय, वैसे-वैसे वह व्यक्ति-निष्ठ न रहकर तत्त्वनिष्ठ होती जानी चाहिए। यदि उसमें ऐसी तत्त्वनिष्ठा उत्पन्न न हुई, तो स्फूर्तिदाताका लोप होते ही संस्थामें अँधेरा छा जाता है। मैं अपना प्रिय उदाहरण दूँ। चरखेकी माल टूटते ही सूतका कातना तो दूर, कता हुआ सूत लपेटना भी संभव नहीं होता। व्यक्तिका आधार टूटते ही वैसी ही दशा उस संस्थाकी हो जाती है। फिर वह अनाथ हो जाती है। पर यदि व्यक्ति-निष्ठासे तत्त्व-निष्ठा पैदा हो जाय, तो फिर ऐसा नहीं हो सकता। सगुणको निर्गुणकी सहायता चाहिए। कभी तो व्यक्तिसे—आकारसे—निकलकर बाहर जानेका अभ्यास करना चाहिए। गंगा हिमालयसे, शंकरके जटा-जूटसे निकली, परंतु वहीं थम नहीं गयी। जटाजूट छोड़कर वह हिमालयकी गिरि-कंदराओं, घाटियों, जंगलोंको पार करती हुई सपाट मैदानमें कल-कल, छल-छल बहती हुई जब आयी, तभी वह विश्व-जनोंके काम आ सकी। इसी प्रकार व्यक्तिका आधार टूट जानेपर भी तत्त्वके मजबूत खंभोंपर खड़ी रहनेके लिए संस्थाको तैयार रहना चाहिए। मकानमें जब मेहराब बनाते हैं, तो पहले उसे आधार देते हैं; परंतु बादमें आधार निकालना होता है। आधारके निकाल डालनेपर जब मेहराब टिक रहती है, तभी समझा जाता है कि वह आधार सही था। यह तो ठीक है कि पहले स्फूर्तिका प्रवाह सगुणसे चला, परंतु अंतमें उसकी परिपूर्णता तत्त्वनिष्ठामें, निर्गुणमें होनी चाहिए। भक्तिके उदरसे ज्ञानका जन्म होना चाहिए। भक्तिरूपी लतामें ज्ञानके पुष्प खिलने चाहिए।

बुद्धदेवके ध्यानमें यह बात आ गयी थी। इसलिए उन्होंने तीन प्रकारकी निष्ठाएँ बतायी हैं। पहले व्यक्ति-निष्ठा हो, तो भी उसमेंसे तत्त्व-निष्ठा और यदि एकाएक तत्त्व-निष्ठा न हो, तो कम-से-कम संघ-निष्ठा उत्पन्न होनी चाहिए। एक व्यक्तिके प्रति जो आदर था, वह दस-

पन्द्रहके लिए होना चाहिए। संघके प्रति यदि सामुदायिक प्रेम न होगा, तो आपसमें अनबन होगी, झगड़े होंगे। व्यक्ति-शरणता मिटकर संघ-शरणता उत्पन्न होनी चाहिए और फिर सिद्धांत-शरणता आनी चाहिए। इसीलिए बौद्ध-धर्ममें तीन प्रकारकी शरणागति बतायी गयी है—

बुद्धं शरणं गच्छामि। संघं शरणं गच्छामि। धम्मं शरणं गच्छामि।

पहले व्यक्तिके प्रति प्रीति हो, फिर संघके प्रति, परंतु ये दोनों निष्ठाएँ डगमग ही हैं। अंतमें सिद्धांत-निष्ठा उत्पन्न होनी चाहिए, तभी संस्था लाभदायी हो सकेगी। स्फूर्तिका स्रोत यद्यपि सगुणसे शुरू हुआ, तो भी वह निर्गुण-सागरमें जाकर मिलना चाहिए। निर्गुणके अभावमें सगुण सदोष हो जाता है। निर्गुणकी मर्यादा सगुणको सम-तोल रखती है, इसके लिए सगुण निर्गुणका आभारी है।

हिंदू, ईसाई, इसलाम आदि सभी धर्मोंमें किसी-न-किसी रूपमें मूर्ति-पूजा प्रचलित है। भले ही वह निचले दर्जेकी मानी गयी हो, पर मान्य जरूर है और महान् है। परंतु जबतक मूर्ति-पूजा निर्गुणकी सीमा-में रहती है, तभीतक वह निर्दोष रहती है। इस मर्यादाके छूटते ही सगुण सदोष हो जाता है। निर्गुणरूपी मर्यादाके अभावमें सारे धर्मोंके सगुण अवनतिको प्राप्त हो गये हैं। पहले यज्ञ-यागमें पशु-हत्या होती थी। आज भी शाक्त देवीको बलि चढ़ाते हैं। यह मूर्ति-पूजाका अत्या-चार हो गया। मर्यादाको छोड़कर मूर्ति-पूजा गलत दिशामें चली गयी। पर यदि निर्गुण-निष्ठाकी मर्यादा रहे, तो फिर यह अंदेशा नहीं रहता।

(६३) दोनों परस्पर पूरक : रामचरित्रके दृष्टांत

सगुण सुलभ और सुरक्षित है; परंतु सगुणको निर्गुणकी आव-श्यकता है। सगुणके बढ़ते हुए उसमें निर्गुणरूपी, तत्त्वनिष्ठारूपी बौर आना चाहिए। निर्गुण-सगुण परस्पर-पूरक हैं, परस्पर-विरुद्ध नहीं। सगुणसे निर्गुणतककी मंजिल तय करनी चाहिए और निर्गुणको भी चित्तके सूक्ष्म मल धोनेके लिए सगुणकी आर्द्रता चाहिए। दोनोंकी एक-दूसरेसे शोभा है। यह दोनों प्रकारकी भक्ति रामायणमें बड़े उत्तम

ढंगसे दिखायी गयी है। अयोध्याकांड में भक्तिके दोनों प्रकार आ गये हैं। इन्हीं दो भक्तियोंका विस्तार रामायणमें है। भरतकी भक्ति पहले प्रकारकी है और लक्ष्मणकी दूसरे प्रकारकी। इनके उदाहरणसे निर्गुण भक्ति और सगुण-भक्तिका स्वरूप समझमें आ जायगा।

राम जब वनवासके लिए निकले, तो वे लक्ष्मणको अपने साथ ले जानेके लिए तैयार नहीं थे। रामको उन्हें साथ ले जानेकी कोई जरूरत नहीं मालूम होती थी। उन्होंने लक्ष्मणसे कहा—"लक्ष्मण, मैं वनको जा रहा हूँ। मुझे पिताजीकी ऐसी ही आज्ञा है। तुम घरपर रहो। मेरे साथ चलकर दुःखी माता-पिताको और अधिक दुःखी न बनाओ। माता-पिताकी और प्रजाकी सेवा करो। तुम उनके पास रहोगे, तो मैं निश्चिंत रहूँगा। तुम मेरे प्रतिनिधिके तौरपर रहो। मैं वनमें जा रहा हूँ, इसका अर्थ यह नहीं कि किसी संकटमें पड़ रहा हूँ। बल्कि, ऋषियोंके आश्रमोंमें जा रहा हूँ।" इस तरह राम लक्ष्मणको समझा रहे थे; परंतु लक्ष्मणने रामकी सारी बातें एक ही शब्दमें उड़ा दीं। एक घाव दो टूक कर डाला। तुलसीदासने इसका बढ़िया चित्र खींचा है। लक्ष्मण कहते हैं—"आपने मुझे उत्कृष्ट निगम-नीति बतायी है। वास्तवमें मुझे इसका पालन भी करना चाहिए; परंतु यह राजनीतिका बोझ मुझसे नहीं उठ सकेगा। आपके प्रतिनिधि होनेकी शक्ति मुझमें नहीं। मैं तो बालक हूँ—

दीन्हि मोहि सिख नीकि गोसांई।
लागि अगम अपनी कदराई॥
नरवर धीर धरम-धुर-धारी।
निगम-नीतिके ते अधिकारी॥
मैं सिसु प्रभु-सनेह-प्रतिपाला।
मंदरु मेरु कि लेहिं मराला॥

"हंस क्या मेरु मंदरका भार उठा सकता है? राम भैया, मैं तो आजतक आपके प्रेमसे पोषित हुआ हूँ। आप यह राजनीति किसी दूसरेको सिखाइये। मैं तो अभी बालक हूँ।" यह कह लक्ष्मणने सारी बात ही खतम कर दी।

मछली जिस तरह पानीसे जुदा नहीं रह सकती, वही हाल लक्ष्मण-का था। रामसे दूर रहनेका बल उसमें नहीं था। उसके रोम-रोममें सहानुभूति भरी थी। राम सो जाय, तब भी स्वयं जागता रहे, उनकी सेवा करे, इसीमें उसे आनंद मालूम होता था। हमारी आँखपर कोई कंकड़ मारे, तो जैसे हाथ फौरन उठकर आँखपर आ जाता है और कंकड़की मार झेल लेता है, उसी तरह लक्ष्मण रामका हाथ बन गया था। राम-पर यदि प्रहार हो, तो पहले लक्ष्मण उसे झेलता। तुलसीदासने लक्ष्मण-के लिए एक बढ़िया दृष्टान्त दिया है। झंडा ऊँचा फहराता रहता है। गान-वंदना सब झंडेकी ही करते हैं। उसके रंग-आकार आदिके गीत गाये जाते हैं। परंतु उस सीधे खड़े डंडेको कौन पूछता है? रामके यशकी जो पताका उड़ रही है, उसका दंडकी तरह आधार लक्ष्मण ही था। वह सीधा तना खड़ा रहता। झंडेका डंडा कभी झुक नहीं सकता, उसी तरह रामके यशको फहरानेवाला लक्ष्मणरूपी डंडा कभी झुका नहीं। यश किसका? तो रामका! संसारको पताका दीखती है, डंडेकी याद नहीं रहती। कलश दीखता है, नींव—पाया—नहीं। रामका यश संसारमें फैल रहा है, परंतु लक्ष्मणका कहीं पता नहीं। चौदह सालतक यह दंड सीधा ही तना रहा, जरा भी नहीं झुका। खुद पीछे रहकर वह रामका यश फहराता रहा। राम बड़े-बड़े दुर्धर काम लक्ष्मणसे करवाते। सीताको वनमें छोड़नेका काम अंतमें लक्ष्मणको ही सौंपा गया। बेचारा लक्ष्मण सीताको पहुँचा आया। लक्ष्मणका कोई स्वतंत्र अस्तित्व ही नहीं रह गया था। वह रामकी आँखें, रामके हाथ-पाँव, रामका मन बन गया था। जिस तरह नदी समुद्रमें मिल जाती है, उसी तरह लक्ष्मणकी सेवा राममें मिल गयी थी। वह राम-की छाया बन गया था। लक्ष्मणकी यह भक्ति सगुण थी।

भरत निर्गुण भक्ति करनेवाला था। उसका भी चित्र तुलसीदासने खूब खींचा है। जब राम वनको गये, तब भरत अयोध्यामें नहीं था। जब भरत आया, तब दशरथ मर चुके थे। गुरु वशिष्ठ उसे समझा रहे थे कि "तुम राज करो।" पर भरतने कहा—"मुझे रामसे मिलना

चाहिए।" रामसे मिलनेके लिए वह भीतरसे छटपटा रहा था; परंतु साथ ही राज्यका प्रबंध भी वह कर रहा था। उसकी भावना यह थी कि यह राज्य रामका है, इसका प्रबंध करना रामका ही काम करना है। सारी संपत्ति मालिककी है, उसकी व्यवस्था करना उसे अपना कर्तव्य मालूम होता था। लक्ष्मणकी तरह भरत मुक्त नहीं हो सकता था। यह भरतकी भूमिका है। रामकी भक्तिका अर्थ है—रामका काम करना चाहिए, नहीं तो वह भक्ति किस कामकी? राज-काजकी सारी व्यवस्था करके भरत रामसे भेंट करने वनमें आया है। "भैया, यह आपका राज्य है। आप···" इतना ज्योंही वह कहता है, त्योंही राम उससे कहते हैं—"भरत, तुम्हीं राज-काज चलाओ।" भरत संकोचसे खड़ा रहता है। वह कहता है—"आपकी आज्ञा सिर आँखों-पर।" राम जो कहें, सो मंजूर। उसने अपना सब कुछ रामपर निछावर कर रखा था। वह गया और राज-काज चलाने लगा; परंतु उसमें भी तारीफ यह कि अयोध्यासे दो मीलपर वह तपस्या करता रहा। तपस्वी रहकर उसने राज-काज चलाया। अंतमें राम जब भरतसे मिले, तब यह पहचानना मुश्किल हो गया कि इनमें वनमें रहकर तप करनेवाला असली तपस्वी कौन है। दोनोंके एक-से चेहरे, उम्रमें थोड़ा-सा फर्क, मुखमुद्रापर वही तपस्या, दोनोंको देखकर पहचाना नहीं जाता कि इनमें राम कौन और भरत कौन है! यदि कोई चितेरा ऐसा चित्र निकाले, तो वह कितना पावन चित्र होगा! इस तरह भरत यद्यपि शरीरसे रामसे दूर था, तो भी मनसे वह क्षणभरके लिए भी दूर नहीं था। यद्यपि एक ओर वह राज-काज चला रहा था, तो भी मनसे वह रामके पास ही था। निर्गुणमें सगुण भक्ति खचाखच भरी रहती है। अतः वहाँ वियोगकी भाषा मुँहसे निकले ही कैसे? इसलिए भरतको रामका वियोग नहीं लगता था। वह अपने प्रभुका कार्य कर रहा था।

आजकलके युवक कहते हैं—"रामका नाम, रामकी भक्ति, रामकी उपासना—ये सब बातें हमारी समझमें नहीं आतीं। हम तो भगवान्‌का

काम करेंगे।" भगवान्का काम कैसे करना चाहिए, इसका नमूना भरतने दिखला दिया है। भगवान्का काम करके भरतने वियोगको आत्मसात् किया है। भगवान्का काम करते हुए भगवान्के वियोगका अनुभव करनेका समय न रहना एक बात है और जिसका भगवान्से कुछ देना-लेना नहीं, उसका बोलना दूसरी बात है। भगवान्का कार्य करते हुए संयमपूर्ण जीवन व्यतीत करना बड़ी दुर्लभ वस्तु है। यद्यपि भरतकी यह वृत्ति निर्गुण रूपसे काम करनेकी थी, तो भी वहाँ सगुण-का आधार टूट नहीं गया था। "प्रभो राम, आपकी आज्ञा मुझे शिरोधार्य है। आप जो कहेंगे, उसमें मुझे संदेह न होगा"—ऐसा कह-कर भरत लौटने लगा, तो उसने फिर पीछे मुड़कर रामकी ओर देखा और कहा—"भगवन्, मनको समाधान नहीं होता, कुछ-न-कुछ भूला हुआ-सा लगता है।" रामने तुरन्त उसका भाव पहचान लिया और कहा—"ये पादुकाएँ ले जाओ।" अंतमें सगुणके प्रति आदर रहा ही। निर्गुणको सगुणने अंतमें आर्द्र कर ही दिया। लक्ष्मणको पादुकाएँ लेनेसे समाधान न हुआ होता। उसकी दृष्टिसे यह दूधकी भूख छाछ पीकर मिटाने जैसा होता। भरतकी भूमिका इससे भिन्न थी। वह बाहरसे दूर रहकर कर्म कर रहा था, परन्तु मनसे राममय था। भरत यद्यपि अपने कर्तव्यका पालन करनेमें ही राम-भक्ति मानता था, तो भी उसे पादुकाओंकी आवश्यकता महसूस हुई ही। उनके अभावमें वह राज-काजका भार नहीं उठा सकता था। उन पादुकाओंकी आज्ञाके रूपमें वह अपना कर्तव्य कर रहा था। लक्ष्मण जैसा रामका भक्त था, वैसा ही भरत भी। दोनोंकी भूमिकाएँ बाहरसे भिन्न-भिन्न थीं। भरत यद्यपि कर्तव्यनिष्ठ था, तत्त्वनिष्ठ था, तो भी उसकी तत्त्वनिष्ठाको पादुकाकी आर्द्रताकी जरूरत महसूस हुई।

(६४) दोनों परस्पर पूरक : कृष्ण-चरित्रके दृष्टांत

हरिभक्तिरूपी आर्द्रता अवश्य होनी चाहिए। इसलिए भगवान्ने अर्जुनसे बार-बार कहा है—'मय्यासक्तमनाः पार्थ'—"अर्जुन, मुझमें आसक्त रह, मेरे रसका सहारा ले और फिर कर्म करता रह।" जिस

भगवद्गीताको 'आसक्ति' शब्द न तो सूझता है, न रुचता है, जिसने बार-बार इस बातपर जोर दिया है कि अनासक्त रहकर कर्म करो, राग-द्वेष छोड़कर कर्म करो, निरपेक्ष कर्म करो; 'अनासक्ति', 'निःसंगता' जिसका ध्रुपद या पालु-पद है, वही कहती है—"अर्जुन, मुझमें आसक्ति रख।" पर यहाँ याद रखना चाहिए कि भगवान्‌में आसक्ति रखना बड़ी ऊँची बात है। वह किसी पार्थिव वस्तुके प्रति आसक्ति थोड़े ही है। सगुण और निर्गुण, दोनों एक-दूसरेमें गुँथे हुए हैं। सगुण निर्गुण-का आधार सर्वथा तोड़ नहीं सकता और निर्गुणको सगुणके रसकी जरूरत होती है। जो मनुष्य सदैव कर्तव्य कर्म करता है, वह उस कर्मरूपमें पूजा ही कर रहा है, परन्तु पूजाके साथ रस, आर्द्रता चाहिए। 'मामनुस्मर युद्धय च।' मेरा स्मरण रखते हुए कर्म करो। कर्म स्वयं भी एक पूजा ही है, परन्तु अन्तरमें भावना सजीव रहनी चाहिए। केवल फूल चढ़ा देना ही पूजा नहीं है। उसमें भावना आवश्यक है। फूल चढ़ाना पूजाका एक प्रकार है, सत्कर्मोंद्वारा पूजा करना दूसरा प्रकार है, परन्तु दोनोंमें भावनारूपी आर्द्रता आवश्यक है। फूल चढ़ा दिये, पर मनमें भावना नहीं है, तो वे फूल मानो पत्थर-पर ही चढ़े। अतः असली वस्तु भावना है। सगुण और निर्गुण, कर्म और प्रीति, ज्ञान और भक्ति—ये सब चीजें एकरूप ही हैं। दोनों-का अंतिम अनुभव एक ही है।

उद्धव और अर्जुनकी बात लो। रामायणसे मैं एकदम महाभारतमें आ कूदा। इसका मुझे अधिकार भी है, क्योंकि राम और कृष्ण, दोनों एकरूप ही हैं। जैसे भरत और लक्ष्मण, वैसे उद्धव और अर्जुन हैं। जहाँ कृष्ण, वहाँ उद्धव मौजूद ही हैं। उद्धवको कृष्णका क्षणभरका वियोग सहन नहीं हो सकता। वह सतत कृष्णकी सेवामें निमग्न रहता है। कृष्णके बिना सारा संसार उसे फीका मालूम होता है। अर्जुन भी कृष्णका सखा था, परन्तु वह दूर, दिल्ली रहता था। अर्जुन कृष्णका काम करनेवाला था, परन्तु कृष्ण द्वारकामें तो अर्जुन हस्तिनापुरमें! ऐसा दोनोंका संबंध था। जब कृष्णको देह छोड़नेकी आवश्यकता

मालूम हुई, तो उन्होंने उद्धवसे कहा—"ऊधो, अब मैं जा रहा हूँ।" उद्धवने कहा—"मुझे क्या अपने साथ नहीं ले चलेंगे ? चलो, हम दोनों साथ ही चलेंगे।" परंतु कृष्णने कहा—"यह मुझे पसंद नहीं। सूर्य अपना तेज़ अग्निमें रख जाता है, उसी तरह मैं अपनी ज्योति तुझमें छोड़ जाता हूँ।" इस तरह भगवान्ने अंतकालीन व्यवस्था की और उसे ज्ञान देकर रवाना किया। फिर यात्रामें उद्धवको मैत्रेय ऋषिसे मालूम हुआ कि भगवान् निजधामको चले गये; किंतु उसके मनपर उसका कुछ भी असर न हुआ, मानो कुछ हुआ ही नहीं।

मरका गुरु, रडका चेला, दोहींचा बोध वायां गेला।

"गुरु मरा, तो चेला रोया—दोनोंने बोध व्यर्थ खोया।" ऐसा हाल उसका नहीं था। उसे लगा, मानो वियोग हुआ ही न हो। उसने जीवनभर सगुण-उपासना की थी। वह परमेश्वरके सान्निध्यमें ही रहता था। पर अब उसे निर्गुणमें ही आनंद आने लगा था। इस तरह उसे निर्गुणकी मंजिल तय करनी पड़ी। सगुण पहले, परंतु उसके बाद निर्गुणकी सीढ़ी आनी ही चाहिए, नहीं तो परिपूर्णता न होगी।

इससे उलटा हाल हुआ अर्जुनका। श्रीकृष्णने उसे क्या करनेके लिए कहा था ? अपने बाद सब स्त्रियोंकी रक्षाका भार अर्जुनपर सौंपा था। अर्जुन दिल्लीसे आया और द्वारकासे श्रीकृष्णके घरकी स्त्रियोंको लेकर चला। रास्तेमें हिसारके पास पंजावके चोरोंने उसे लूट लिया। जो अर्जुन उस समय एकमात्र नर और उत्कृष्ट वीरके नामसे प्रसिद्ध था, जो पराजय जानता ही न था और इसलिए 'जय' नामसे प्रसिद्ध हो गया था, जिसने प्रत्यक्ष शंकरका सामना किया और उन्हें झुका दिया, वही अजमेरके पास भागते-भागते बचा। कृष्णके चले जानेका उसके मनपर बड़ा असर हुआ। मानो उसका प्राण ही चला गया और केवल निस्त्राण और निष्प्राण शरीर ही बाकी रह गया। सारांश यह कि सतत कर्म करनेवाले, कृष्णसे दूर रहनेवाले निर्गुण उपासक अर्जुनको अंतमें यह वियोग दुःसह और भारी हो गया। उसके

निर्गुणको अंतमें वियोगकी वाचा फूट निकली। उसका सारा कर्म ही मानो समाप्त हो गया। उसके निर्गुणको आखिर सगुणका अनुभव हुआ। सारांश, सगुणको निर्गुणमें जाना पड़ता है और निर्गुणको सगुणमें आना पड़ता है। इस तरह दोनोंमें एक-दूसरेसे परिपूर्णता आती है।

(६५) सगुण-निर्गुणकी एकरूपताके विषयमें स्वानुभव-कथन

इसलिए जब यह कहनेकी नौबत आती है कि सगुण-उपासक और निर्गुण-उपासकमें क्या भेद है, तो वाणीकी गति कुंठित हो जाती है। सगुण और निर्गुण अंतमें एक हो जाते हैं। भक्तिका स्रोत यद्यपि पहले सगुणसे निकला हो, तो भी अंतमें वह निर्गुणतक जा पहुँचता है। पुरानी बात है। मैं वायकमका सत्याग्रह देखने गया था। मलाबारके किनारे शंकराचार्यका जन्म-ग्राम है, यह भूगोलकी बात मुझे याद थी। जहाँ होकर मैं जा रहा था, वहीं कहीं पासमें भगवान् शंकराचार्यका 'कालड़ी' ग्राम होगा, ऐसा मुझे लगा और मैंने साथके मलयाली सज्जनसे पूछा। उसने कहा—"यहाँसे दस-बारह मीलपर ही वह गाँव है। आप जाना चाहते हैं क्या?" मैंने इनकार कर दिया। मैं जा रहा था सत्याग्रह देखनेके लिए, अतः मुझे और कहीं जाना उचित न जान पड़ा और उस समय उस गाँवको देखनेके लिए न गया। मुझे आज भी ऐसा लगता है कि यह करके मैंने अच्छा ही किया। परंतु रातको जब मैं सोने लगता, तो वह कालड़ी गाँव, शंकराचार्यकी वह मूर्ति मेरी आँखोंके सामने बार-बार आ खड़ी होती। मेरी नींद उड़ जाती। वह अनुभव मुझे आज भी ज्यों-का-त्यों हो रहा है। शंकराचार्यका वह ज्ञान-प्रभाव, उनकी वह दिव्य अद्वैत-निष्ठा, सामने फैले हुए संसारको मिथ्या ठहरानेवाला उनका अलौकिक और ज्वलन्त वैराग्य, उनकी गंभीर भाषा और मुझपर हुए उनके अनंत उपकार—इन सबकी रह-रहकर मुझे याद आने लगती। रातको ये सारे भाव जाग्रत होते। तब मुझे इस बातका अनुभव हुआ कि निर्गुणमें सगुण कैसे भरा हुआ है। प्रत्यक्ष भेंट होनेमें भी उतना

प्रेम नहीं होता। निर्गुणमें भी सगुणका परमोत्कर्ष ठसाठस भरा हुआ है। मैं अधिक कुशलपत्र नहीं लिखता। पर किसी मित्रको पत्र न लिखनेपर भी भीतरसे उसका सतत स्मरण होता रहता है। पत्र न लिखते हुए भी मनमें उसकी स्मृति ठसाठस भरी रहती है। निर्गुणमें इस तरह सगुण गुप्त रहता है। सगुण और निर्गुण, दोनों एकरूप ही हैं। प्रत्यक्ष मूर्तिको लेकर पूजा करना, प्रकट रूपसे सेवा करना और भीतरसे सतत संसारके कल्याणका चिंतन करते हुए बाहरसे पूजाकी क्रिया दिखाई न देना—इन दोनोंका समान मूल्य और महत्त्व हैं।

(६६) सगुण-निर्गुण केवल दृष्टि-भेद, अतः भक्त-लक्षण प्राप्त करें

अंतमें मुझे कहना यह है कि सगुण क्या और निर्गुण क्या, इसका निश्चय करना भी आसान नहीं है। एक दृष्टिसे जो सगुण है, वह दूसरी दृष्टिसे निर्गुण ठहर सकता है। सगुणकी सेवा एक पत्थरको लेकर की जाती है। उस पत्थरमें भगवान्‌की कल्पना कर लेते हैं। हमारी माता-में और संतोंमें भी प्रत्यक्ष चैतन्य प्रकट हुआ है। उनमें ज्ञान, प्रेम, हार्दिकता स्पष्ट प्रकट है। पर उनमें परमात्मा मानकर पूजा नहीं करते। ये चैतन्यमय लोग सबको दिखाई देते हैं। अतः इनकी सेवा करनी चाहिए, इनमें सगुण परमात्माके दर्शन करने चाहिए, परंतु ऐसा न करके लोग पत्थरमें परमेश्वर देखते हैं। एक तरहसे पत्थरमें परमेश्वरको देखना निर्गुणकी पराकाष्ठा है। संत, माँ-बाप, पड़ोसी—इनमें प्रेम, ज्ञान, उपकारबुद्धि व्यक्त हुई है। इनमें ईश्वर मानना तो सरल है; परंतु पत्थरमें ईश्वर मानना कठिन है। उस नर्मदाके कंकड़को हम शंकर मानते हैं। यह क्या निर्गुण-पूजा नहीं है? बल्कि इसके विप-रीत ऐसा मालूम होता है कि यदि पत्थरमें परमेश्वरकी कल्पना न की जाय, तो फिर कहाँ की जाय? भगवान्‌की मूर्ति होनेके उपयुक्त तो वह पत्थर ही है। वह निर्विकार है, शांत है। अंधकार हो, प्रकाश हो, गर्मी हो, सर्दी हो, वह पत्थर जैसा-का-तैसा ही रहता है। ऐसा यह निर्विकार पत्थर ही परमेश्वरका प्रतीक होनेके योग्य है। माँ-बाप,

जनता, अड़ोसी-पड़ोसी, ये सब विकारसे भरे हैं, अर्थात् इनमें कुछ-न-कुछ विकार मिल ही जाता है। अतएव पत्थरकी पूजा करनेकी बनिस्बत उनकी सेवा करना एक दृष्टिसे कठिन ही है।

सारांश यह कि सगुण-निर्गुण परस्पर पूरक हैं। सगुण सुलभ है, निर्गुण कठिन है, परंतु दूसरी तरहसे सगुण भी कठिन है और निर्गुण भी सरल है। दोनोंके द्वारा एक ही ध्येयकी प्राप्ति होती है। पाँचवें अध्यायमें जैसा बताया है, चौबीसों घंटे कर्म करके भी लेशमात्र कर्म न करनेवाला और चौबीसों घंटे कुछ भी कर्म न करके सब कर्म करनेवाला योगी और संन्यासी, दोनों एकरूप ही हैं, वैसे ही यहाँ भी है। सगुण कर्म-दशा और निर्गुण संन्यासयोग, दोनों एकरूप ही हैं। संन्यास श्रेष्ठ है या योग—इसका उत्तर देनेमें भगवान्को जैसी कठिनाई पड़ी, वैसी ही कठिनाई यहाँ भी आ पड़ी है। अंतमें सुलभता-कठिनताके तारतम्यसे उत्तर देना पड़ा है, नहीं तो योग और संन्यास, सगुण और निर्गुण, दोनों एकरूप ही हैं। अंतमें भगवान् कहते हैं—"अर्जुन, तुम चाहे सगुण रहो या निर्गुण, पर भक्त जरूर रहो। गोल-मटोल पत्थर न रहो।" यह कहकर भगवान्ने अंतमें भक्तके लक्षण बताये हैं। अमृत मधुर होगा, परंतु हमें उसकी माधुरी चखनेका अवसर नहीं मिला। किंतु ये लक्षण प्रत्यक्ष मधुर हैं। इसमें कल्पनाकी जरूरत नहीं है। इन लक्षणोंका हम अनुभव करें। बारहवें अध्यायके ये भक्त-लक्षण स्थितप्रज्ञके लक्षणोंकी तरह हमें नित्य सेवन करने चाहिए, मनन करने चाहिए और इन्हें थोड़ा-थोड़ा अपने जीवनमें लाकर पुष्टि प्राप्त कर लेनी चाहिए। इस तरह हमें अपना जीवन धीरे-धीरे परमेश्वरकी ओर ले जाना चाहिए।

रविवार, ८-५-'३२

तेरहवाँ अध्याय

आत्मानात्म-विवेक

(६७) कर्मयोगके लिए उपकारक देहात्म-पृथक्करण

व्यासदेवने अपने जीवनका सार भगवद्गीतामें उँडेल दिया है। उन्होंने विस्तारपूर्वक दूसरा भी बहुत कुछ लिखा है। अकेली महाभारत संहितामें ही लाख-सवा लाख श्लोक हैं। संस्कृतमें 'व्यास' शब्दका अर्थ ही 'विस्तार' हो गया है, परन्तु भगवद्गीतामें उनका झुकाव विस्तार करनेकी ओर नहीं है। भूमितिमें जिस प्रकार युक्लिडने सिद्धांत बता दिये हैं, तत्त्व दिखला दिये हैं, उसी प्रकार व्यासदेवने जीवनके लिए उपयोगी तत्त्व गीतामें लिख दिये हैं। भगवद्गीतामें न तो विशेष चर्चा ही है, न विस्तार ही। इसका मुख्य कारण यह है कि जो बातें गीतामें कही गयी हैं, उन्हें प्रत्येक मनुष्य अपने जीवनमें परख सकता है; बल्कि वे इसलिए कही गयी हैं कि लोग उन्हें परखें। जितनी बातें जीवनके लिए उपयोगी हैं, उतनी ही गीतामें कही गयी हैं। उनके कहनेका उद्देश्य भी इतना ही था, इसीलिए व्यासने थोड़ेमें तत्त्व बताकर संतोष मान लिया है। उनकी इस संतोष-वृत्तिमें उनका सत्य तथा आत्मानुभवसंबंधी महान् विश्वास हमें दिखाई दे जाता है। जो बात सत्य है, उसके समर्थनके लिए अधिक युक्ति काममें लानेकी जरूरत नहीं रहती।

हम जो गीताकी तरफ दृष्टि लगाये रहते हैं, उसका मुख्य उद्देश्य यह है कि जीवनमें हमें जब-जब किसी सहायताकी आवश्यकता प्रतीत हो, तब-तब वह गीतासे हमें मिलती रहे। वह हमें सदैव मिलने जैसी भी है। गीता जीवनोपयोगी शास्त्र है और इसीलिए उसमें स्वधर्मपर इतना जोर दिया गया है। मनुष्यके जीवनका बड़ा पाया अगर कोई है, तो वह स्वधर्माचरण ही है। उसकी सारी इमारत इस स्वधर्माचरणपर खड़ी करनी है। यह पाया जितना मजबूत होगा,

इमारत उतनी ही ज्यादा टिक सकेगी। इस स्वधर्माचरणको गीतामें 'कर्म' कहा है। इस स्वधर्माचरणरूप कर्मके इर्द-गिर्द गीतामें बहुतेरी चीजें खड़ी की गयी हैं। उसकी रक्षाके लिए अनेक विकर्म रचे गये हैं। स्वधर्माचरणको सजानेके लिए, उसे सुन्दर बनानेके लिए, उसे सफल करनेके लिए जिन-जिन आधारोंकी और सहायताकी जरूरत है, वे सब उसे देना जरूरी है। इसलिए अबतक ऐसी बहुतेरी चीजें हमने देखीं। उनमें बहुत-सी भक्तिके रूपमें थीं। आज तेरहवें अध्यायमें जो चीज हमें देखनी है, वह भी स्वधर्माचरणमें बहुत उपयोगी है। उसका संबंध विचार-पक्षसे है।

गीतामें यह प्रधान बात सर्वत्र कही गयी है कि स्वधर्माचरण करनेवालेको फलका त्याग करना चाहिए। कर्म तो करें, पर उसका फल छोड़ दें। पेड़को पानी पिलायें, उसकी परवरिश करें; परन्तु उसकी छायाकी, फूल-फलकी अपने लिए अपेक्षा न रखें। यह स्वधर्माचरणरूप कर्मयोग है। कर्मयोगका अर्थ केवल इतना ही नहीं कि कर्म करते रहो। कर्म तो इस सृष्टिमें सर्वत्र हो ही रहा है। उसे बतानेकी जरूरत नहीं है; परन्तु स्वधर्माचरणरूप कर्म—कोरा कर्म नहीं—भलीभाँति करके उसका फल छोड़ देना,—यह बात कहनेमें, समझनेमें बड़ी सरल मालूम होती है, परंतु पालनेमें कठिन है; क्योंकि किसी कार्यकी प्रेरक शक्ति ही फल-वासना मानी गयी है। फल-वासनाको छोड़कर कर्म करना उलटा पंथ है। व्यवहार या संसारकी रीतिके विपरीत यह क्रिया है। जो कोई बहुत कर्म करता है, उसके जीवनमें गीताका कर्मयोग है, ऐसा हम बहुत बार कहते हैं। बहुत कर्म करनेवालेका जीवन कर्मयोगमय है; ऐसा हम कहते हैं, परन्तु इस प्रयोगमें भाषा-शैथिल्य है। गीताकी व्याख्याके अनुसार वह कर्मयोग नहीं है, लाखों कर्म करनेवालोंमें केवल कर्म ही नहीं; बल्कि स्वधर्माचरणरूप कर्म करनेवाले लाखों लोगोंमें भी गीताके कर्मयोगका आचरण करनेवाला विरला ही मिलेगा। कर्मयोगके सूक्ष्म और सच्चे अर्थमें देखा जाय, तो ऐसा संपूर्ण कर्मयोगी शायद ही कहीं मिले। कर्म तो करना, परन्तु उसके फलको छोड़

देना बिलकुल असाधारण बात है। अबतक गीतामें यही विश्लेषण, यही पृथक्करण किया गया है।

उस विश्लेषण या पृथक्करणके लिए ही उपयोगी एक दूसरा पृथक्करण इस तेरहवें अध्यायमें बताया गया है। 'कर्म करें और उसके फलकी आसक्ति छोड़ दें' इस पृथक्करणका सहायक महान् पृथक्करण है, 'देह और आत्मा' का। यही तेरहवें अध्यायमें उपस्थित किया गया है। आँखोंसे हम जिस रूपको देखते हैं, उसे हम मूर्ति, आकार, देह कहते हैं। यद्यपि बाह्य मूर्तिका परिचय हमारी आँखोंको हो जाय, तो भी वस्तुके अन्तरंगमें हमें प्रवेश करना पड़ता है। फलका ऊपरी कवच—छिलका—निकालकर उसका भीतरी गूदा चखना पड़ता है। नारियलको भी फोड़कर ही, भीतर क्या है, यह देखना पड़ता है। कटहलपर काँटे लगे रहते हैं, तो भी भीतर बढ़िया और रसीला गूदा भरा रहता है। हम चाहे अपनी ओर देखें, चाहे दूसरोंकी ओर, यह भीतर और बाहरका पृथक्करण आवश्यक हो जाता है। तो अब छिलका अलग करनेका अर्थ क्या? इसका अर्थ यह कि प्रत्येक वस्तुके भीतरी गूदे और बाहरी रूपका पृथक्करण किया जाय। बाह्य देह और भीतरी आत्मा, इस तरह प्रत्येक वस्तुका दुहरा रूप है। कर्ममें भी यही बात है। बाहरी फल कर्मका शरीर है और कर्मकी बदौलत जो चित्त-शुद्धि होती है, वह उस कर्मका आत्मा है। स्वधर्माचरणका बाहरी फलरूप शरीर छोड़कर भीतरी चित्तशुद्धिरूप सारभूत आत्माको हम ग्रहण करें, हृदयमें धारण कर लें। इस प्रकार देखनेकी आदत, देहको हटाकर प्रत्येक वस्तुका सार ग्रहण करनेकी सारग्राही दृष्टि हमें प्राप्त कर लेनी चाहिए। आँखोंको, मनको, विचारोंको ऐसी शिक्षा, ऐसी आदत, ऐसा अभ्यास करा देना चाहिए। हर बातमें देहको अलग करके आत्माकी पूजा करनी चाहिए। विचारके लिए यह पृथक्करण तेरहवें अध्यायमें दिया गया है।

(६८) सुधारका मूलाधार

सारग्राही दृष्टि रखनेका विचार बहुत महत्त्वपूर्ण है। यदि बचपन-

से ही हम ऐसी आदत डाल लें, तो कितना अच्छा हो! यह विषय हजम कर लेने जैसा, यह दृष्टि अंगीकार करने जैसी है। बहुतोंको ऐसा लगता है कि अध्यात्म-विद्याका जीवनसे कोई संबंध नहीं! कुछ लोगोंका ऐसा भी मत है कि यदि ऐसा कोई संबंध भी हो, तो वह न होना चाहिए। देहसे आत्माको अलग समझनेकी शिक्षा बचपनसे ही देनेकी योजना की जा सके, तो बड़े आनन्दकी बात होगी। यह शिक्षण-शास्त्रका विषय है। आजकल कुशिक्षणके फलस्वरूप बड़े बुरे संस्कार बच्चोंके मनपर पड़ रहे हैं। 'मैं केवल देहरूप हूँ' इससे बाहर यह शिक्षण हमें लाता ही नहीं। सब देहके ही चोचले चल रहे हैं; किन्तु इसके बावजूद देहको जो स्वरूप प्राप्त होना चाहिए, जो स्वरूप देना चाहिए, वह तो कहीं दिखाई ही नहीं देता। इस तरह इस देहकी यह वृथा पूजा हो रही है। आत्माके माधुर्यकी ओर ध्यान ही नहीं है। वर्तमान शिक्षा-पद्धतिसे यह स्थिति बन गयी है। इस तरह देहकी मूर्तिपूजाका अभ्यास दिन-रात कराया जाता है।

ठेठ बचपनसे ही हमें इस देह-देवताकी पूजा-अर्चा करना सिखाया जाता है। जरा कहीं पाँवमें ठोकर लग गयी, तो मिट्टी लगानेसे काम चल जाता है। बच्चेका इतने भरसे काम निपट जाता है या मिट्टी लगानेकी भी उसे जरूरत नहीं मालूम होती। थोड़ी-बहुत चोट-खुरचकी तो वह चिन्ता भी नहीं करेगा; परन्तु उस बच्चेका जो संरक्षक है, पालक है, उसका काम इतनेसे नहीं चलता। वह बच्चेको पास बुलाकर कहेगा—"अच्छा, चोट लग गयी! कैसे लगी, कहाँ लगी? अरे, सख्त चोट लगी मालूम होती है! अरे रे, खून निकल आया।" ऐसा कहकर वह, बच्चा न रोता हो, तो उलटा उसे रुला देता है। न रोनेवाले बच्चेको रुलानेके इन लक्षणोंके लिए अब क्या कहा जाय? उन्हें, कूद-फाँद मत करो, खेलने मत जाओ, देखो गिर पड़ोगे, चोट लग जायगी आदि देहपर ही ध्यान देनेवाला एकांगी शिक्षण दिया जाता है।

बच्चेकी प्रशंसा भी करते हैं, तो वह भी उसके देहपक्षको लेकर ही। उसकी निंदा भी देहपक्षको ही लेकर करते हैं। "कैसा गंदा है रे!"

कहते हैं। इससे बच्चेको कितनी चोट लगती है! कैसा मिथ्या आरोप है। गंदगी है, यह सही है, उसे साफ करना चाहिए, यह भी सही है; लेकिन इस गंदगीको सहज ही साफ न करके उस बच्चेपर कितना आघात किया जाता है! बच्चा उसे सहन नहीं कर पाता। वह बड़ा दुःखी हो जाता है। उसके अन्तरंगमें, आत्मामें स्वच्छता, निर्मलता भरी है, तो भी उसपर गंदे रहनेका यह कैसा व्यर्थ आरोप! वास्तवमें वह लड़का गंदा नहीं है; बल्कि जो अत्यन्त सुन्दर, मधुर, पवित्र, प्रिय, परमात्मा है, वही वह है। उसीका अंश उसमें विद्यमान है; परन्तु उसे कहते हैं 'गंदा।' उस गंदगीसे उसका ऐसा क्या सम्बन्ध है? यह बात बच्चेकी समझमें ही नहीं आती और इसीलिए वह इस आघातको सहन नहीं कर पाता। उसके चित्तमें क्षोभ होता है और क्षोभ उत्पन्न होनेपर सुधार होता नहीं। अतः उसे अच्छी तरह समझाकर साफ-सुथरा रखना चाहिए।

इसके विपरीत कृति करके उस लड़केके मनपर हम यह अंकित करते हैं कि वह देह है। शिक्षण-शास्त्रमें यह एक महत्त्वपूर्ण सिद्धांत समझना चाहिए। गुरुको यह भावना रखनी चाहिए कि मैं जिसे पढ़ा रहा हूँ, वह सर्वाङ्गसुन्दर है। सवाल गलत होनेपर चाँटा लगाते हैं। उस चाँटेसे और सवालकी गलतीसे क्या संबंध? स्कूलमें देरसे आया, तो लगाया चाँटा। चाँटेसे उसके गालपर रक्ताभिसरण तेज होने लगेगा, पर इससे क्या वह स्कूलमें जल्दी आयेगा? खूनकी यह तेजी क्या यह बतला सकेगी कि इस समय कितने बजे हैं? बल्कि सच पूछिये तो इस तरह मार-पीट करके हम उस बच्चेकी पशुताको ही बढ़ाते हैं। 'तुम यह देह ही हो' यह भावना पक्की करते हैं। उसका जीवन भयकी भीतपर खड़ा किया जा रहा है। सचमुच यदि हमें सुधार करना है, तो वह इस तरह जबरदस्ती करके देहासक्ति बढ़ानेसे कभी नहीं हो सकता। जब मैं यह समझ लूँगा कि मैं देहसे भिन्न हूँ, तभी मेरा सुधार हो सकेगा।

देहमें अथवा मनमें रहनेवाले किसी दोषका ज्ञान होना बुरा नहीं।

इससे उस दोपको दूर करनेमें सहायता मिलती है; परन्तु हमें यह बात साफ तौरसे मालूम रहनी चाहिए कि 'मैं देह नहीं हूँ'। 'मैं' जो हूँ, सो इस देहसे सर्वथा भिन्न, पृथक्, अत्यन्त सुन्दर, उज्ज्वल, पवित्र, त्रुटि-रहित हूँ। अपने दोषोंको दूर करनेके लिए जो आत्म-परीक्षण करता है, वह भी तो अपनेको देहसे पृथक् करके ही ऐसा करता है। अतः जब कोई उसे उसका दोष दिखाता है, तो उसे गुस्सा नहीं आता; बल्कि इस शरीररूपी, इस मनोरूपी यंत्रमें क्या दोष है, इसका विचार करके वह अपना दोष दूर करता है। इसके विपरीत जो देहको अपनेसे पृथक् नहीं मानता, वह सुधार कर ही नहीं सकता। यह देह, यह पिंड, यह मिट्टीका पुतला, यही मैं—ऐसा जो मानता है, वह अपना सुधार कैसे करेगा? सुधार तभी हो सकेगा, जब हम यह मानेंगे कि यह देह साधनरूपमें मुझे मिली है। चरखेमें यदि किसीने कोई कमी या दोष दिखाया, तो क्या मुझे गुस्सा आता है? बल्कि कोई कमी होती है, तो मैं उसे दूर करता हूँ। ऐसी ही बात देहकी है। जैसे खेतीके औजार, वैसी ही यह देह है। देह भगवान्के घरकी खेतीका एक औजार ही है। यह औजार यदि खराब हो जाय, तो इसे अवश्य बनाना, सुधारना चाहिए। यह देह एक साधनके रूपमें प्रस्तुत है। अतः इस देहसे अपनेको अलग रखकर दोषोंसे मुक्त होनेका प्रयत्न हमें करना चाहिए। इस देहरूपी साधनसे मैं पृथक् हूँ, मैं स्वामी हूँ, मालिक हूँ, इस देहसे काम करानेवाला, इससे उत्कृष्ट सेवा लेनेवाला मैं हूँ। बचपनसे ही इस प्रकार देहसे अलग रहनेकी भावना सीखनी चाहिए।

खेलसे अलग रहनेवाले तटस्थ लोग जैसे खेलके गुण-दोषोंको अच्छी तरह देख सकते हैं, उसी तरह हम भी देह-मन-बुद्धिसे अपनेको अलग रखकर ही उनके गुण-दोष परख सकेंगे। कोई-कोई कहते हैं— "इधर जरा मेरी स्मरण-शक्ति कम हो गयी है, इसका कोई उपाय बताइये न?" जब मनुष्य ऐसा कहता है, तब वह उस स्मरण-शक्तिसे भिन्न है, यह स्पष्ट हो जाता है। वह कहता है—"मेरी स्मरण-शक्ति खराब हो गयी है।" इसका अर्थ यह हुआ कि उसका कोई साधन,

कोई औजार बिगड़ गया है। किसीका लड़का खो जाता है, किसीकी पुस्तक खो जाती है, पर कोई स्वयं खो गया है, ऐसा नहीं होता। अन्तमें मरते समय भी उसकी देह ही सब तरहसे नष्ट होती है, बेकार हो जाती है, पर वह स्वयं तो भीतरसे ज्यों-का-त्यों रहता है। वह निर्दोष और नीरोगी रहता है। यह बात समझ लेने जैसी है और यदि समझमें आ जाय, तो इससे बहुतेरी झंझटोंसे छुटकारा मिल जाय।

(६९) देहासक्तिसे जीवन अवरुद्ध

देह ही 'मैं' हूँ, यह जो भावना सर्वत्र फैल रही है, इसके फलस्वरूप मनुष्यने बिना विचारे ही देह-पुष्टिके लिए नाना प्रकारके साधन निर्माण कर लिये हैं। उन्हें देखकर बड़ा भय मालूम होता है। मनुष्यकी यह धारणा सतत रहती है कि यह देह पुरानी हो गयी, जीर्ण-शीर्ण हो गयी, तो भी येन-केन प्रकारेण इसे बनाये ही रखना चाहिए; परंतु आखिर इस देहको, इस छिलकेको आप कबतक टिका रख सकेंगे? मृत्युतक ही न? जब मौतका वारंट आ जायगा, तो क्षणभर भी शरीर टिकाये नहीं रख सकते। मृत्युके आगे सारा गर्व ठंडा पड़ जाता है। फिर भी इस तुच्छ देहके लिए मनुष्य नाना प्रकारके साधन जुटाता है। दिन-रात इस देहकी चिंता करता है। अब कहते हैं कि देहकी रक्षाके लिए मांस खानेमें कोई हर्ज नहीं है, मानो मनुष्यकी देह बड़ी कीमती है, जो उसे बचानेके लिए मांस खाये। पशुकी देह कीमतमें कम है। सो क्यों? मनुष्य-देह क्यों कीमती सिद्ध हुई? क्या कारण है? अरे, पशु चाहे जिसे खा सकते हैं, सिवा स्वार्थके उन्हें दूसरा कोई विचार ही नहीं आता! मनुष्य ऐसा नहीं करता। मनुष्य अपने आसपासकी सृष्टिकी रक्षा करता है। अतः मानव-देहका मोल है, इसलिए वह कीमती है; परन्तु जिस कारण मनुष्यकी देह कीमती साबित हुई, उसीको तुम मांस खाकर नष्ट कर देते हो! भले आदमी, तुम्हारा बड़प्पन तो इसी बातपर अवलंबित है न कि तुम संयमसे रहते हो, सब जीवोंकी रक्षाके लिए उद्योग करते हो, सबकी सार-सँभाल रखनेकी भावना तुममें है? पशुसे भिन्न जो यह विशेषता

तुममें है, उसीसे न मनुष्य श्रेष्ठ कहलाता है? इसीसे मानव-देह दुर्लभ कही गयी है, परन्तु जिस आधारपर मनुष्य बड़ा—श्रेष्ठ—हुआ है, उसीको यदि वह उखाड़ने लगा, तो फिर उसके बड़प्पनकी इमारत टिकेगी कैसे? साधारण पशु, जो अन्य प्राणियोंका मांस खानेकी क्रिया करते हैं, वही क्रिया यदि मनुष्य निःसंकोच होकर करने लगे, तो फिर उसके बड़प्पनका आधार ही खींच लेने जैसा होगा। यह तो वैसा ही है, जैसा कि जिस डालपर मैं बैठा हूँ, उसीको काटनेका प्रयत्न करना।

आजकल वैद्यक-शास्त्र नाना प्रकारके चमत्कार दिखा रहा है। पशुको चुभाकर उसके शरीरमें—उस जीवित पशुके शरीरमें—रोग-जंतु उत्पन्न करते हैं और देखते हैं कि उन रोगोंका उसपर क्या-क्या असर होता है। सजीव पशुको इस प्रकार महान् कष्ट देकर जो ज्ञान प्राप्त किया जाता है, उसका उपयोग किया जाता है, इस क्षुद्र मानव-देहको बचानेके लिए! और यह सब चलता है 'भूत-दया' के नामपर। पशुके शरीरमें जंतु पैदा करके उसकी लस निकालकर मनुष्यके शरीरमें डालते हैं। ऐसे नाना प्रकारके भीषण कृत्य हो रहे हैं। जिस देहके लिए हम यह सब करते हैं, वह तो कच्चे काँचकी तरह है, जो पलभरमें ही फूट सकता है। वह कब फूटेगा, इसका जरा भी भरोसा नहीं। यद्यपि मानव-देहकी रक्षाके लिए ये सारे उद्योग हो रहे हैं, फिर भी अंतमें अनुभव क्या आता है? ज्यों-ज्यों इस नाजुक देहको सँभालनेका प्रयत्न किया जाता है, त्यों-त्यों उसका नाश होता जाता है। यह प्रतीति हमें होती रही है, फिर भी इस देहको मोटी-ताजी करनेका, इसकी महिमा बढ़ानेका प्रयत्न जारी ही है।

हमारा ध्यान कभी इस बातकी ओर नहीं जाता कि किस प्रकारका आहार करनेसे बुद्धि सात्त्विक होगी। मनुष्य देखता भी नहीं कि मनको अच्छा बनानेके लिए, बुद्धिको निर्मल रखनेके लिए क्या करना चाहिए और किस वस्तुकी सहायता लेनी चाहिए। वह तो इतना ही देखता है कि शरीरका वजन किस तरह बढ़ेगा। वह इसकी चिन्ता करता

दीखता है कि जमीनपरकी मिट्टी उठकर उसके शरीरपर कैसे चिपक जाय, मिट्टीके लौंदे उसके शरीरपर कैसे थुप जायँ। पर जैसे थोपा हुआ गोबरका कंडा सूखनेपर फिर नीचे गिर पड़ता है, उसी तरह शरीरपर चढ़ाया यह मिट्टीका लेप, यह चरबी अंतमें गल जाती है और शरीर फिर अपनी असली स्थितिमें आ जाता है। आखिर इसका मतलब क्या कि हम शरीरपर इतनी मिट्टी चढ़ा लें, इतना वजन बढ़ा लें कि शरीर उसका बोझ ही न सह सके? शरीरको इतना अनाप-शनाप मोटा बनाया ही क्यों जाय? यह शरीर हमारा एक साधन है, अतः इसे ठीक रखनेके लिए जो कुछ आवश्यक है, वह सब मुझे करना चाहिए। यंत्रसे काम लेना चाहिए। कोई 'यंत्राभिमान' जैसा भी कहीं हो सकता है? फिर इस शरीररूपी यंत्रके संबंधमें भी हम इसी तरह विचार क्यों न करें?

सारांश, यह देह साध्य नहीं, साधन है। यदि हमारा यह भाव दृढ़ हो जाय, तो फिर शरीरका जो इतना आडंबर बाँधा जाता है, वह न रहेगा। जीवन हमें और ही तरहसे दीखने लगेगा। फिर इस देहको सजानेमें हमें गौरवका अनुभव न होगा। सच पूछिये तो इस देहके लिए एक सादा कपड़ा काफी है। पर नहीं, हम चाहते हैं, वह नरम, मुलायम हो। उसका बढ़िया रंग हो, सुन्दर छपाई हो, अच्छे किनारे—बेल-बूटे हों, कलाबत्तू हो आदि। उसके लिए हम अनेक लोगोंसे तरह-तरहकी मेहनत कराते हैं। यह सब क्यों? उस भगवान्‌को क्या अक्ल नहीं थी? यदि इस देहके लिए सुन्दर बेल-बूटों और नक्काशीकी जरूरत होती, तो जैसे बाघके शरीरपर उसने धारियाँ डाल दी हैं, वैसे क्या तुम्हारे-हमारे शरीरपर नहीं डाल देता? उसके लिए क्या यह असंभव था? वह मोरकी तरह सुन्दर पूँछ हमें भी लगा सकता था; परन्तु ईश्वरने मनुष्यको एक ही रंग दिया है। उसमें जरा-सा दाग पड़ जाता है, तो उसका सौंदर्य नष्ट हो जाता है। मनुष्य जैसा है, वैसा ही सुन्दर है। परमेश्वरका यह उद्देश्य ही नहीं है कि मनुष्य-देहको सजाया जाय। सृष्टिमें क्या सामान्य सौंदर्य है?

मनुष्यका काम इतना ही है कि वह अपनी आँखोंसे इसे निहारता रहे; परन्तु वह रास्ता भूल गया है। कहते हैं, जर्मनीने हमारे रंगको मार दिया। अरे भाई, तुम्हारे मनका रंग तो पहले ही मर चुका, बादमें तुम्हें इस बनावटी रंग का शौक लगा! उसीके लिए तुम परावलंबी हो गये। व्यर्थ ही तुम इस शरीर-शृंगारके चक्करमें पड़ गये। मनको सजाना, बुद्धिका विकास करना, हृदयको सुन्दर बनाना तो एक तरफ ही रह गया!

(७०) तत्त्वमसि

इसलिए भगवान्‌ने इस तेरहवें अध्यायमें जो विचार हमें दिया है, वह बड़ा कीमती है। 'तू देह नहीं, आत्मा है।' 'तत् त्वमसि'—वह आत्मरूप तू ही है। यह बड़ा उच्च, पवित्र उद्‌गार है, पावन और उदात्त वचन है। संस्कृत-साहित्यमें यह बड़ा ही महान् विचार समाविष्ट किया गया है—"यह ऊपरका कवच, छिलका, ढाँचा तू नहीं है। वह असल अविनाशी फल तू है।" जिस क्षण मनुष्यके हृदयमें यह विचार स्फुरित होगा कि 'सो तू है', 'यह देह मैं नहीं, वह परमात्मा मैं हूँ' यह भाव मनमें जम जायगा, उसी क्षण उसके मनमें एक प्रकारका अननुभूत आनन्द लहराने लगेगा। मेरे उस रूपको मिटानेकी—नष्ट कर डालनेकी—सामर्थ्य संसारकी किसी वस्तुमें नहीं। किसीमें भी ऐसी शक्ति नहीं है। यह सूक्ष्म विचार इस उद्‌गारमें भरा हुआ है।

इस देहसे परे अविनाशी और निष्कलंक जो आत्मतत्त्व है, वही मैं हूँ। उस आत्मतत्त्वके लिए मुझे यह शरीर मिला हुआ है। जब-जब उस परमेश्वरीय तत्त्वके दूषित हो जानेकी संभावना होगी, तब-तब मैं उसे बचानेके लिए इस देहको फेंक दूँगा। परमेश्वरीय तत्त्वको उज्ज्वल रखनेके लिए यह देह होमनेको मैं सदा तैयार रहूँगा। मैं जो इस देहपर सवार होकर आया हूँ, सो क्या इसलिए कि अपनी दुर्दशा कराऊँ? देहपर मेरी सत्ता चलनी चाहिए। मैं इस देहका उपयोग करूँगा और उसके द्वारा हित-मंगलकी वृद्धि करूँगा। 'भरूँगा आनन्द

त्रिलोकमें।' इस देहको मैं महान् तत्त्वोंके लिए फेंक दूँगा और ईश्वरका जयजयकार करूँगा। रईस आदमी एक कपड़ेके मैले होते ही उसे फेंक देता और दूसरा पहन लेता है, वैसा ही मैं भी करूँगा। कामके लिए इस देहकी जरूरत है। जिस समय यह देह कामके लायक न रह जायगी, उस समय इसे फेंक देनेमें मुझे क्या पशोपेश हो सकता है?

सत्याग्रहके द्वारा हमें यही शिक्षण मिलता है। देह और आत्मा, ये अलग-अलग चीजें हैं। जिस दिन मनुष्य इस मर्मको समझ जायगा, उसी दिन उसके सच्चे शिक्षणकी, वास्तविक विकासकी शुरुआत होगी। उसी समय हमें सत्याग्रह सधेगा। अतः प्रत्येकको यह भावना हृदयमें अंकित कर लेनी चाहिए। देह तो निमित्तमात्र साधन है, परमेश्वरका दिया हुआ एक औजार है। जिस दिन उसका उपयोग मिटेगा, उसी दिन उसे फेंक देना है। सर्दीके गरम कपड़े हम गर्मियोंमें फेंक देते हैं, रातको ओढ़े हुए कंबल सुबह हटा देते हैं, सुबहके कपड़े दोपहरको निकाल देते हैं, उसी तरह इस देहको समझो। जबतक देहका उपयोग है, तबतक उसे रखेंगे, जिस दिन इसका उपयोग न रहेगा, उसी दिन यह देहरूपी कपड़ा फेंक देंगे। आत्माके विकासके लिए भगवान् यह युक्ति हमें बता रहे हैं।

(७१) जालिमोंकी सत्ता समाप्त

जबतक हम यह न समझ लेंगे कि देहसे मैं अलग हूँ, तबतक जालिम लोग हमपर जरूर जुल्म ढाते रहेंगे, हमें वंदा—'गुलाम'—बनाते रहेंगे, हमें न जाने क्या-क्या त्रास देते रहेंगे। भयके कारण ही जुल्म शक्य होता है। एक राक्षसने एक आदमीको पकड़ लिया था। वह उससे बराबर काम लेता रहता था। जब कभी वह काम न करता, तो राक्षस कहता—"खा जाऊँगा, तुझे चट कर डालूँगा।" शुरूमें तो वह मनुष्य डरता रहा, परन्तु जब वह धमकी असह्य हो गयी, तो उसने कहा—"ले, खा डाल, खाना हो तो खा जा।" पर राक्षस उसे खा जानेवाला थोड़े ही था! उसे तो एक बंदा, गुलाम चाहिए था। खा जानेपर उसका काम कौन करता? वह तो सिर्फ उसे खा जानेकी धमकी दिया करता था; परन्तु ज्यों ही यह जवाब मिला कि 'ले, खा

जा' तो उसका जुल्म बन्द हो गया। जालिम लोग यह जानते हैं कि ये लोग देहसे चिपके रहनेवाले हैं। इनकी देहको कष्ट पहुँचा नहीं कि ये गुलाम बने। परन्तु जहाँ आपने देहकी आसक्ति छोड़ दी कि तुरन्त सम्राट् बन जायँगे, स्वतन्त्र हो जायँगे। सारी सामर्थ्य आपके हाथमें आ जायगी। आपपर किसीका भी हुक्म नहीं चलेगा। फिर जुल्म करनेका आधार ही टूट जाता है। उसकी बुनियाद ही इस भावनापर है कि 'देह मैं हूं'। वे समझते हैं कि इनकी देहको सताया नहीं कि ये वशमें आये, इसीलिए वे धमकीकी भाषा बोलते हैं।

'मैं देह हूँ'—मेरी इस भावनाके कारण ही दूसरोंको मुझपर जुल्म करनेकी, सतानेकी इच्छा होती है। परन्तु इंग्लैंडके हुतात्मा—बलिवीर क्रेन्मर—ने क्या कहा था—"मुझे जलाते हो! अच्छा, जला डालो। लो, पहले यह दाहिना हाथ जलाओ।" इसी तरह रिड्ले और लैटिमरने कहा था—"तुम जलाना चाहते हो? हमें कौन जला सकता है? हम तो धर्मकी ऐसी ज्योति जला रहे हैं कि उसे कोई बुझा नहीं सकता। शरीररूपी इस मोमबत्तीको, इस चरबीको जलाकर सत्तत्त्वोंकी ज्योति जगमगाना तो हमारा काम ही है। देह मिट जायगी, वह तो मिटनेवाली ही है।" सुकरातको विष देकर मारनेकी सजा दी गयी। उसने कहा—"मैं अब बूढ़ा हो गया हूँ। चार दिनके बाद देह छूटनेवाली थी। जो मरनेवाला था, उसे मारकर आप लोग कौन-सी बहादुरी कर रहे हैं? जरा सोचो तो कि यह शरीर एक दिन अवश्य मरनेवाला है। जो मर्त्य है, उसे मारनेमें कौन-सी तारीफ है?" जिस दिन सुकरातको विष दिया जानेवाला था, उससे पहली रात वह शिष्योंको आत्माके अमरत्वकी शिक्षा दे रहा था। शरीरमें विषका प्रवेश होनेपर उसे क्या-क्या वेदनाएँ होंगी, इसका वर्णन वह मौजसे कर रहा था। उसे उसकी रत्तीभर भी चिन्ता न थी। आत्माकी अमरतासंबंधी यह चर्चा समाप्त होनेपर उसके एक शिष्यने पूछा—"मरनेपर आपकी अंत्येष्टि-क्रिया कैसे की जाय?" उसने जवाब दिया—"खूब, मारेंगे तो वे और गाड़ोगे तुम! तो क्या

वे मारनेवाले मेरे दुश्मन और तुम गाड़नेवाले मुझसे बड़ा प्रेम करनेवाले हो ? वे अक्लमंदीसे मुझे मारेंगे और तुम समझदारीसे मुझे गाड़ोगे ? तुम कौन हो मुझे गाड़नेवाले ? मैं तुम सबको पूरा पड़नेवाला हूँ। तुम किसमें मुझे गाड़ोगे ? मिट्टीमें या नासमें ? मुझे न कोई मार सकता है, न कोई गाड़ ही सकता है। अबतक मैंने क्या समझाया तुम लोगोंको ? आत्मा अमर है, उसे कौन मार सकता है, कौन गाड़ सकता है ? और सचमुच आज दो-ढाई हजार वर्षोंसे वह महान् सुकरात सबको गाड़कर जिन्दा है !

(७२) परमात्म-शक्तिपर विश्वास

सारांश, जबतक देहकी आसक्ति है, भय है, तबतक वास्तविक रक्षा नहीं हो सकती। तबतक एक-सा डर लगा रहेगा। जरा आँख झपकी कि यह खटका लगा कि कहीं साँप तो आकर न काट खाय, चोर तो आकर घात न कर जाय। मनुष्य सिरहाने डंडा लेकर सोता है। 'क्यों ?' तो कहता है—"साथ रखना अच्छा है, कहीं चोर-वोर आ जाय तो ?" अरे भले आदमी ! कहीं चोर वही डंडा उठाकर तुम्हारे सिरपर मार दे तो ? चोर यदि डंडा लाना भूल गया हो, तो तुम उसके लिए पहले ही से तैयारी कर रखते हो। तुम किसके भरोसे सोते हो ? उस समय तो तुम दुनियाके हाथमें रहते हो। तुम जागते होगे, तभी न बचाव करोगे ? नींदमें तुम्हारी रक्षा कौन करेगा ?

मैं किसी-न-किसी शक्तिपर विश्वास करके सोता हूँ। जिस शक्तिपर भरोसा रखकर बाघ, गाय आदि जानवर सोते हैं, उसीके भरोसे मैं भी सोता हूँ। बाघको भी तो नींद आती है। बाघ भी, जो सारी दुनियासे वैर होनेके कारण हर घड़ी पीछे देखता है, वह भी सोता ही है। उस शक्तिपर यदि विश्वास न हो, तो कुछ बाघ सोते और कुछ जगकर पहरा देते—ऐसी व्यवस्था उन्हें करनी पड़ती। जिस शक्तिपर विश्वास रखकर भेड़िया, बाघ, सिंह आदि क्रूर जीव भी सोते हैं, उसी विश्वव्यापक शक्तिकी गोदमें मैं भी सो रहा हूँ। माँकी गोदमें बच्चा निश्चिन्त सोता है। वह मानो उस समय दुनियाका बादशाह

होता है। हमें चाहिए कि आप और हम भी उसी विश्वंभर माताकी गोदमें इसी तरह प्रेम, विश्वास और ज्ञानपूर्वक सोनेका अभ्यास करें। जिस शक्तिके आधारपर मेरा यह सारा जीवन चल रहा है, उसका मुझे अधिकाधिक परिचय कर लेना चाहिए। उस शक्तिकी मुझे उत्तरोत्तर प्रतीति होनी चाहिए। इस शक्तिमें मुझे जितना विश्वास पैदा होगा, उतना ही अधिक मेरा रक्षण हो सकेगा। जैसे-जैसे मुझे इस शक्तिका अनुभव होता जायगा, वैसे-ही-वैसे मेरा विकास होता जायगा। इस तेरहवें अध्यायमें इसका किंचित् क्रम भी दिग्दर्शित किया गया है।

(७३) परमात्म-शक्तिका उत्तरोत्तर अनुभव

जबतक देहस्थित आत्माका विचार नहीं आता, तबतक मनुष्य साधारण क्रियाओंमें ही तल्लीन रहता है। भूख लगी तो खा लिया, प्यास लगी तो पानी पी लिया, नींद आयी तो सो गये, इससे अधिक वह कुछ नहीं जानता। इन्हीं बातोंके लिए वह लड़ेगा, इन्हींकी प्राप्तिका लोभ मनमें रखेगा। इस तरह इन दैहिक क्रियाओंमें ही वह मग्न रहता है। विकासका आरंभ तो इसके बादसे होता है। इस समयतक आत्मा सिर्फ देखता रहता है। माँ जिस तरह कुएँकी ओर रेंगते जानेवाले बच्चेके पीछे सतत सतर्क खड़ी रहती है, उसी प्रकार आत्मा हमपर निगाह रखे खड़ा रहता है। शांतिके साथ वह सब क्रियाओंको देखता है। इस स्थितिको 'उपद्रष्टा'—साक्षीरूपसे सब देखनेवाला—कहा है।

इस अवस्थामें आत्मा देखता है, परंतु अभी वह सम्मति नहीं देता है। परंतु यह जीव, जो अबतक अपनेको देहरूप समझकर सब क्रिया, सब व्यवहार करता है, वह आगे चलकर जागता है। उसे भान होता है कि अरे, मैं पशुकी तरह जीवन बिता रहा हूँ। जीव जब इस तरह विचार करने लगता है, तब उसकी नैतिक भूमिका शुरू होती है। तब पग-पगपर वह उचित-अनुचितका विचार करता है। विवेकसे काम लेने लगता है। उसकी विश्लेषण-बुद्धि जाग्रत होती है। स्वैर क्रियाएँ रुकती हैं। स्वच्छंदताकी जगह संयम आता है। जब जीव इस नैतिक भूमिकामें आता है, तब आत्मा केवल चुप बैठकर नहीं

देखता, वह भीतरसे अनुमोदन करता है—'शावाश', 'खूब' ऐसी आवाज अंदरसे आती है। अब आत्मा केवल 'उपद्रष्टा' न रहकर 'अनुमन्ता' बन जाता है।

कोई भूखा अतिथि द्वारपर आ जाय, आप अपनी परोसी थाली उसे दे दें और फिर रातको अपनी इस सत्कृतिका स्मरण हो, तो देखिये मनको कितना आनंद होता है। भीतरसे आत्माकी हलकी गुंजार कानोंमें होती है, 'वहुत अच्छा किया'। माँ जब बच्चेकी पीठपर हाथ फिराकर कहती है, 'अच्छा किया बेटा', तो उसे ऐसा मालूम होता है, मानो दुनियाकी सारी बख्शिश उसे मिल गयी। उसी तरह हृदयस्थ परमात्माके 'शाबाश बेटा' शब्द हमें प्रोत्साहन देते हैं। ऐसे समय जीव भोगमय जीवन छोड़कर नैतिक जीवनकी भूमिकामें आ खड़ा होता है।

इसके बादकी भूमिका लीजिये। नैतिक जीवनमें मनुष्य कर्तव्य-कर्मके द्वारा अपने मनके सभी मलोंको धोनेका यत्न करता है, परंतु जब मनुष्य ऐसा करते-करते थकने लगता है, तब जीव ऐसी प्रार्थना करने लगता है—'हे भगवन्! मेरे उद्योगोंकी, मेरी शक्तिकी पराकाष्ठा हो गयी। मुझे अधिक शक्ति दे, अधिक बल दे।' जबतक मनुष्यको यह अनुभव नहीं होता कि अपने सभी प्रयत्नोंके बावजूद वह अकेला ही पर्याप्त नहीं हो सकता, तबतक प्रार्थनाका मर्म उसकी समझमें आ नहीं सकता। अपनी सारी शक्ति लगाकर, जब वह पर्याप्त नहीं जान पड़ती तब, आर्तभावसे द्रौपदीकी तरह परमात्माको पुकारना चाहिए। परमेश्वरकी कृपा और सहायताका स्रोत तो सतत बहता ही रहता है। जिस किसीको प्यास लग रही हो, वह अपना हक समझकर उसमेंसे पानी पी सकता है। जिसे कमी पड़ती हो, वह माँग ले। इस तरहका सम्बन्ध इस तीसरी भूमिकामें आता है। परमात्मा अधिक निकट आता है। अब वह केवल शाब्दिक शावाशी न देते हुए सहायता करनेके लिए दौड़ आता है।

पहले परमेश्वर दूर खड़ा था। गुरु जिस तरह शिष्यसे यह कहकर कि 'सवाल हल करो' दूर खड़ा रहता है, उसी तरह जबतक

जीव भोगमय जीवनमें लिप्त रहता है, तबतक परमात्मा दूर खड़ा रहता है। वह कहता है—"ठीक है, मारने दो हाथ-पैर।" फिर जीव नैतिक भूमिकामें आता है। तब परमात्मा केवल तटस्थ नहीं रहता। जीवके हाथसे सत्कर्म हो रहा है, ऐसा देखते ही भगवान् धीरेसे झाँकता है और कहता है—'शाबाश!' इस तरह सत्कर्म होते-होते अब चित्तके स्थूल मल धुल जाते हैं, सूक्ष्म मल धुलनेका समय आता है और जब उसके सारे प्रयत्न थकने लगते हैं, तब वह परमात्माको पुकारता है और वह 'आया' कहकर दौड़ आता है। भक्तका उत्साह कम पड़ते ही वह वहाँ आ खड़ा होता है। जगत्का सेवक सूर्यनारायण आपके द्वारपर सदैव खड़ा ही है। सूर्य बंद द्वारको तोड़कर भीतर नहीं घुसेगा; क्योंकि वह सेवक है। वह स्वामीकी मर्यादाका पालन करता है। वह दरवाजेपर धक्का नहीं मारता। भीतर मालिक सोया है, इसलिए सूर्यरूपी सेवक दरवाजेके बाहर खड़ा रहता है। जरा दरवाजा खोलिये कि वह सारा-का-सारा प्रकाश लेकर भीतर घुस आता है और अँधेरा दूर कर देता है। परमात्मा भी ऐसा ही है। उससे मदद माँगी कि वह बाहु फैलाकर आया। भीमाके किनारे (पंढरपुरमें) कमरपर हाथ रखकर वह तैयार ही खड़ा है।

उभारूनि बाहे। विठो पाळवीत आहे॥

ऐसा वर्णन तुकाराम आदिने किया है। नाक खोलो कि हवा भीतर आयी। दरवाजा खोला कि प्रकाश भीतर आया। वायु और प्रकाशके दृष्टांत भी मुझे अधूरे मालूम होते हैं। उनकी अपेक्षा भी परमात्मा अधिक समीप, अधिक उत्सुक है। वह उपद्रष्टा, अनुमन्ता न रहकर 'भर्ता'—सब तरह सहायक—बनता है। मनकी मलिनता मिटानेके लिए अगतिक होकर जब हम पुकारते हैं—'मारी नाड़ तमारे हाथे प्रभु संभाळजो रे।' हम प्रार्थना करते हैं—'तू ही एक मेरा मददगार है, तेरा आसरा मुझको दरकार है।' तब फिर वह दयाघन कैसे दूर रहेगा? भक्तकी सहायता करनेवाला वह भगवान्, अधूरेको पूरा करनेवाला वह प्रभु दौड़ पड़ता है। तब वह रैदासके चमड़े

धोता है, सजन कसाईका मांस बेचता है, कबीरकी चादर बुनता है और जनाबाईके साथ चक्की पीसता है।

इसके बादकी सीढ़ी है, परमेश्वरके कृपा-प्रसादसे कर्मका जो फल मिले, उसे भी स्वयं न लेकर उसीको अपण कर देना। इस भूमिकामें जीव परमेश्वरसे कहता है—"अपना फल तू ही भोग।" नामदेव धरना देकर बैठ गया कि "प्रभु, दूध पीना ही पड़ेगा।" कितना मधुर प्रसंग है! वह सारा कर्मफलरूपी दूध नामदेव भगवान्‌को अर्पण कर रहा है। इस तरह जीवनकी सारी पूँजी, सारी कमाई जिस परमात्माकी कृपासे प्राप्त हुई, उसीको वह अर्पण कर देता है। धर्मराज स्वर्गमें चरण रखनेवाले ही थे कि उनके साथके कुत्तेको आगे नहीं जाने दिया गया। तब उन्होंने अपने सारे जीवनका पुण्य-फल—स्वर्ग—एक क्षणमें छोड़ दिया। इसी तरह भक्त भी सारा फल-लाभ ईश्वरार्पण कर देता है। 'उपद्रष्टा', 'अनुमन्ता', 'भर्ता'—इन स्वरूपोंमें प्रतीत होनेवाला परमात्मा अब 'भोक्ता' हो जाता है। अब जीव उस भूमिकामें आ जाता है, जब परमात्मा ही इस शरीरमें भोगोंको भोगता है।

इसके बाद अब संकल्प ही करना छोड़ देना है। कर्ममें तीन सीढ़ियाँ आती हैं। पहले हम संकल्प करते हैं, फिर कार्य करते हैं और बादमें फल आता है। कर्मके लिए प्रभुकी सहायता लेकर जो फल मिला, वह भी उसीको अर्पण कर दिया। कर्म करनेवाला परमेश्वर, फल चखनेवाला भी परमेश्वर! अब उस कर्मका संकल्प करनेवाला भी परमेश्वर हो जाने दो। इस प्रकार कर्मके आदि, मध्य और अंतमें सर्वत्र प्रभु ही को रहने दो। ज्ञानदेवने कहा है—

"माळियें जेउतें नेलें। तेउतें निवांत चि गेलें।
तया पाणिया ऐसें केलें। होआवें गा॥"

—'माली जिधर ले जाय, उधर ही चुपचाप चले जानेवाले पानीकी तरह बनो।'

माली पानीको जिधर ले जाना चाहता है, उधर ही वह बिना चीं-चपड़ किये चला जाता है। माली जिन फूल और फलके पौधोंको चाहता है,

उन्हें वह पानी पोसता और बढ़ाता है, इसी तरह मेरे हाथों जो कुछ होना है, वह उसीको तय करने दो। अपने चित्तके सभी संकल्पोंकी जिम्मेदारी मुझे उसीपर सौंपने दो। यदि मैंने अपना सारा बोझ घोड़ेपर डाल ही दिया है, तो बाकी बोझा मैं अपने ही सिरपर क्यों लादकर बैठूँ? वह भी घोड़ेकी पीठपर ही क्यों न लाद दूँ? अपने सिरपर बोझ रखकर भी यदि मैं घोड़ेपर बैठूँगा, तो भी बोझ घोड़ेपर ही पड़ेगा, फिर सारा ही बोझ उसकी पीठपर क्यों न लाद दूँ? इस तरह जीवनकी सभी हलचल, नाच-कूद, फलना-फलाना, सब कुछ अंतमें परमात्मा ही हो जाता है। मेरे जीवनका वह 'महेश्वर' ही बन जाता है। इस तरह विकास होते-होते सारा जीवन ही परमेश्वरमय हो जाता है, केवल देहका पर्दा ही बाकी रहता है। वह जब हट जाता है, तो जीव और शिव, आत्मा और परमात्मा एक ही हो जाते हैं। इस प्रकार—

उपद्रष्टाऽनुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।

इस स्वरूपमें हमें परमात्माका उत्तरोत्तर अधिक अनुभव करना है। प्रभु पहले केवल तटस्थ रहकर देखता है। फिर नैतिक जीवनका आरंभ होनेपर हमारे हाथोंसे सत्कर्म होने लगते हैं, तब वह हमें 'शाबाशी' देता है। फिर चित्तके सूक्ष्म मल धो डालनेके लिए, अपने प्रयत्नोंको अपर्याप्त देखकर भक्त जब पुकारता है, तो वह अनाथ-नाथ सहायताके लिए दौड़ पड़ता है। उसके बाद फलको भी भगवान्को अर्पण करके उसे 'भोक्ता' बना देना और अंतमें सभी संकल्प उसीको अर्पण करके सारा जीवन हरिमय बना लेना है। यही मानवका अंतिम साध्य है। 'कर्मयोग' और 'भक्ति-योग' रूपी दोनों पंखोंसे उड़ते हुए साधकको इस अंतिम मंजिलतक जा पहुँचना है।

(७४) नम्रता, निर्दम्भता आदि मूलभूत ज्ञान-साधना

यह सब करनेके लिए नैतिक साधनाकी मजबूत बुनियाद चाहिए। सत्य-असत्यका विवेक करके सत्यको ही सदा ग्रहण करना चाहिए। सार-असारका विचार करके सार ही लेना चाहिए। सीपको फेंककर

मोती ग्रहण करना चाहिए। इस प्रकार जीवनका श्रीगणेश करना है। फिर आत्म-प्रयत्न और परमेश्वरीय कृपाके बलपर ऊपर चढ़ते जाना है। इस सारी साधनामें यदि हम देहसे आत्माको अलग करनेका अभ्यास डाल लें, तो हमें बड़ी मदद मिलेगी। ऐसे समय मुझे ईसाका बलिदान याद आ जाता है। उनके शरीरमें कीलें ठोंक-ठोंककर मार रहे थे। कहते हैं, उस समय उनके मुँहसे ये उद्गार निकले—"भगवन्, इतनी यातनाएँ क्यों देते हैं ?" किंतु फौरन भगवान् ईसाने अपनेको सँभाला और कहा—"प्रभु, तेरी ही इच्छा पूर्ण हो। इन लोगोंको क्षमा कर। ये नहीं जानते कि ये क्या कर रहे हैं।" ईसाके इस उदाहरणमें बड़ा रहस्य भरा है। देहसे आत्माको कितना अलग करना चाहिए, इसका यह प्रतीक है। कहाँतक मंजिल तय करनी चाहिए, कहाँतक वह तय की जा सकती है, यह ईसामसीहके जीवनसे मालूम हो जाता है। देह एक कवच, एक छिलकेकी तरह अलग हो रही है—यहाँतक मंजिल आ पहुँची है। जब-जब आत्माको देहसे अलग करनेका विचार मेरे मनमें आता है, तब-तब ईसामसीहका यह जीवन मेरी आँखोंके सामने आ जाता है। देहसे सर्वथा पृथक् हो जानेका, उससे संबंध टूट-सा जानेका उदाहरण ईसामसीहका जीवन है।

देह और आत्माका यह पृथक्करण तबतक शक्य नहीं है, जबतक सत्य-असत्यका विवेक न किया जाय। यह विवेक, यह ज्ञान हमारी रग-रगमें व्याप्त हो जाना चाहिए। ज्ञानका अर्थ हम करते हैं 'जानना' परंतु बुद्धिसे जानना ज्ञान नहीं है। मुँहमें कौर डाल लेना भोजन कर लेना नहीं है। मुँहका कौर चबाकर गलेमें जाना चाहिए और वहाँसे पेटमें जाकर, पचकर उसका रस-रक्त सारे शरीरमें पहुँचकर पुष्टि मिलनी चाहिए। ऐसा हो, तभी वह सच्चा भोजन होगा। उसी तरह कोरे बुद्धिगत ज्ञानसे काम नहीं चल सकता। वह जानकारी, वह ज्ञान सारे जीवनमें व्याप्त होना चाहिए, हृदयमें संचरित होना चाहिए। हमारे हाथ, पाँव, आँख आदि इंद्रियोंके द्वारा वह ज्ञान प्रकट होना चाहिए। ऐसी स्थिति हो जानी चाहिए कि सारी ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ विचारपूर्वक

ही सब कर्म कर रही हैं। इसलिए इस तेरहवें अध्यायमें भगवान्‌ने ज्ञानकी बहुत बढ़िया व्याख्या की है। स्थितप्रज्ञके लक्षणकी तरह ही ज्ञानके लक्षण हैं—

नम्रता, दम्भशून्यत्व, अहिंसा, ऋजुता, क्षमा।

ऐसे बीस गुण भगवान्‌ने बताये हैं। वे केवल यह कहकर नहीं रुके कि इन गुणोंको ज्ञान कहते हैं, बल्कि यह भी स्पष्ट बताया है कि इसके विपरीत जो कुछ है, वह अज्ञान है। ज्ञानकी जो साधना बतायी, उसीका अर्थ है ज्ञान। सुकरात कहता है कि सद्‌गुणको ही मैं ज्ञान मानता हूँ। साधना और साध्य, दोनों एकरूप ही हैं।

गीताके इन बीस साधनोंको ज्ञानदेवने अठारह ही कर दिया है। उन्होंने इनका वर्णन बड़ी हार्दिकतासे किया है। इन गुणोंसे संबंध रखनेवाले केवल पाँच ही श्लोक भगवद्‌गीतामें हैं; परंतु ज्ञानदेवने अपनी ज्ञानेश्वरीमें इनपर सात सौ ओवियाँ (छंद) लिखी हैं। वे इस बातके लिए बड़े बेचैन थे कि समाजमें सद्‌गुणोंका विकास हो, सत्य-स्वरूप परमेश्वरकी महिमा फैले। इन गुणोंका वर्णन करते हुए उन्होंने अपना सारा अनुभव उन ओवियोंमें उँड़ेल दिया है। मराठी भाषा-भाषियोंपर उनका यह अनंत उपकार है। ज्ञानदेवके रोम-रोममें ये गुण व्याप्त थे। भैंसेकी पीठपर जो चाबुक लगाया गया, उसका निशान ज्ञानदेवकी पीठपर उभर आया। भूतमात्रके प्रति इतनी समवेदना उनमें थी। ज्ञानदेवके ऐसे करुणापूर्ण हृदयसे 'ज्ञानेश्वरी' प्रकट हुई है। इन गुणोंका उन्होंने विवेचन किया। उसका गुण-वर्णन हम पढ़ें, मनन करें और हृदयमें भर लें। ज्ञानदेवकी यह मधुर भाषा मैं चख सका—इसके लिए मैं अपनेको धन्य मानता हूँ। उनकी मधुर भाषा मेरे मुँहमें आकर बैठ जाय, इसके लिए यदि मुझे फिरसे जन्म लेना पड़े, तो मैं धन्यताका ही अनुभव करूँगा। अस्तु। सार यह कि—

उत्तरोत्तर अपना विकास करते हुए आत्माको देहसे पृथक् करते हुए सब लोग अपने जीवनको परमेश्वरमय बनानेका यत्न करें।

रविवार, १५-५-'३२

चौदहवाँ अध्याय

गुणोत्कर्ष और गुण-निस्तार

(७५) प्रकृतिका विश्लेषण

भाइयो, आजका चौदहवाँ अध्याय एक अर्थमें पिछले अध्यायका पूरक ही है। सच पूछो, तो आत्माको कुछ करनेकी आवश्यकता नहीं है। वह स्वयंपूर्ण है। अपने आत्माकी गति स्वभावतः ही ऊर्ध्वगामी है; परंतु जिस तरह किसी वस्तुके साथ कोई भारी वजन बाँध दिया जाता है, तो जैसे वह नीचे खिंचती चली जाती है, उसी तरह शरीरका यह बोझ आत्माको नीचे खींच ले जाता है। पिछले अध्यायमें हमने यह देखा कि किसी भी उपायसे यदि देह और आत्माको हम पृथक् कर सकें, तो हमारी प्रगति हो सकती है। यह बात भले ही कठिन हो, पर इसका फल भी महान् है। आत्माके पाँवकी यह देहरूपी बेड़ी यदि हम काट सकें, तो हम बड़े आनंदका अनुभव करेंगे। फिर मनुष्य देहके दुःखसे दुःखी न होगा। वह स्वतंत्र हो जायगा। यदि इस देहरूपी वस्तुको मनुष्य जीत ले, तो फिर संसारमें कौन उसपर सत्ता चला सकता है? जो अपने-आपपर राज्य करता है, वह विश्वका सम्राट् हो जाता है। अतः आत्मापर देहकी जो सत्ता हो गयी है, उसे हटा दो। देहके ये जो सुख-दुःख हैं, सब विदेशी हैं। सब विजातीय हैं। आत्मासे उनका तिलमात्र भी संबंध नहीं है।

इन सब दुःखोंको किस अंशतक देहसे अलग किया जाय, इसकी कल्पना मैंने भगवान् ईसाके उदाहरण द्वारा बतायी है। उन्होंने दिखा दिया है कि देह टूट रही हो, फिर भी किस तरह मनको शांत और आनंदमय रखा जा सकता है; परंतु इस तरह देहको आत्मासे अलग रखना जहाँ एक ओर विवेकका काम है, वहीं दूसरी ओर वह निग्रहका भी काम है।

विवेकासहित वैराग्याचें बळ। (विवेकके साथ वैराग्यका बळ।)

ऐसा तुकारामने कहा है। विवेक और वैराग्य, दोनों बातोंकी जरूरत है। वैराग्य ही एक प्रकारका निग्रह, तितिक्षा है। इस चौदहवें अध्यायमें निग्रहकी दिशा दिखायी गयी है। नावको खेनेका काम बल्लियाँ करती हैं, परंतु दिशा दिखानेका काम पतवार करती है। बल्लियाँ और पतवार, दोनों चाहिए। उसी तरह देहके सुख-दुःखोंसे आत्माको अलग रखनेके लिए विवेक और निग्रह, दोनोंकी आवश्यकता है।

वैद्य जिस तरह मनुष्यकी प्रकृति देखकर दवा बताता है, उसी तरह भगवान्‌ने चौदहवें अध्यायमें सभी प्रकृतिकी परीक्षा करके, पृथक्करण करके, कौन-कौन-सी बीमारियाँ हैं, यह बताया है। इसमें प्रकृतिके ठीक-ठीक विभाग किये गये हैं। राजनीति-शास्त्रमें विभाजनका एक बड़ा सूत्र है। जो शत्रु सामने है, उसके दलमें यदि विभाजन-भेद किये जा सकें, तो वह शीघ्र पराजित किया जा सकता है। भगवान्‌ने यहाँ ऐसा ही किया है।

मेरी, आपकी, सब जीवोंकी, सारे चराचरकी जो प्रकृति है, उसमें तीन गुण हैं। जिस तरह आयुर्वेदमें कफ, पित्त, वात हैं, उसी तरह यहाँ सत्त्व, रज, तम, ये तीन गुण प्रकृतिमें भरे हुए हैं। सब जगह इन्हीं तीन गुणोंका मसाला भरा है। कहीं कम है, तो कहीं ज्यादा। इतना ही अन्तर है। जब इन तीनोंसे आत्माको अलग करेंगे, तभी देहसे आत्माको अलग किया जा सकेगा। देहसे आत्माको अलग करने-का तरीका ही है, इन तीन गुणोंकी परीक्षा करके इन्हें जीत लेना। निग्रहके द्वारा एक-एक वस्तुको जीतकर अंतमें मुख्य वस्तुतक जा पहुँचना है।

(७६) तमोगुण और उसका उपाय शरीर-श्रम

पहले हम तमोगुणको लें। वर्तमान समाज-स्थितिमें हमें तमोगुणके बहुत ही भयानक परिणाम दिखाई देते हैं। इसका मुख्य परिणाम है,

आलस्य। इसीसे फिर नींद और प्रमादका जन्म होता है। इन तीन बातोंको जीत लिया, तो फिर तमोगुणको जीत लिया ही समझो। इनमें आलस्य तो बड़ा ही भयंकर है। अच्छे-से-अच्छे आदमी भी आलस्यके कारण बिगड़ जाते हैं। समाजकी सारी सुख-शांतिको मिटा डालनेवाला यह रिपु है। यह छोटेसे लेकर बड़ेतक, सबको बिगाड़ देता है। इस शत्रुने सबको ग्रसित कर रखा है। यह हमपर हावी होनेके लिए घात लगाकर बैठा ही रहता है। जरा-सा मौका मिला कि भीतर घुसा। दो कौर ज्यादा खा लिये कि इसने लेटनेको विवश किया। जहाँ जरा ज्यादा लेटे कि आँखोंसे आलस्य टपका। जबतक इस आलस्यको न पछाड़ा, तबतक सब प्रयत्न व्यर्थ हैं। परन्तु हम तो आलस्यके लिए उत्सुक रहते हैं। इच्छा रहती है कि एक बार दिन-रात मेहनत करके रुपया इकट्ठा कर लें, फिर सारी जिंदगी चैनसे कटे। बहुत रुपये कमानेका अर्थ है, आगेके लिए आलस्यकी तैयारी कर रखना। हम लोग आम तौरपर मानते हैं कि बुढ़ापेमें आरामकी जरूरत रहती है; परंतु यह धारणा गलत है। यदि हम जीवनमें ठीक तरहसे रहें, तो बुढ़ापेमें भी काम करते रहेंगे, बल्कि अधिक अनुभवी हो जानेसे बुढ़ापेमें ज्यादा उपयोगी साबित होंगे, और उसी समय, कहते हैं कि आराम करेंगे!

ऐसी सावधानी रखनी चाहिए कि जिससे आलस्यको जरा-सा भी मौका न मिले। नल राजा इतना महान्! परंतु पाँव धोते हुए जरा-सा हिस्सा कोरा रह गया, तो कहते हैं कि उसीमेंसे कलि भीतर पैठ गया! नल राजा था तो अत्यंत शुद्ध, सब तरहसे स्वच्छ, परंतु जरा-सा शरीर सूखा रह गया, इतना आलस्य रह गया, तो फौरन 'कलि' भीतर घुस गया। हमारा तो सारा-का-सारा शरीर खुला पड़ा है। कहींसे भी आलस्य हमारे अंदर घुस सकता है। शरीर अलसाया कि मन-बुद्धि भी अलसाने लगती है। आजके समाजकी रचना इस आलस्यपर ही खड़ी है। इससे अनंत दुःख उत्पन्न हो गये हैं। यदि हम इस आलस्यको निकाल सकें, तो सब न सही, बहुतसे दुःखोंको तो अवश्य ही हम दूर कर सकेंगे।

आजकल चारों ओर समाज-सुधारकी चर्चा चलती है। साधारण आदमीको भी कम-से-कम इतना सुख मिलना चाहिए और इसके लिए अमुक तरहकी समाज-रचना होनी चाहिए, आदि चर्चा चलती है। एक ओर अतिशय सुख है, तो दूसरी ओर अतिशय दुःख। एक ओर संपत्तिका ढेर, तो दूसरी ओर दरिद्रताकी गहरी खाई! यह सामाजिक विषमता कैसे दूर हो? सभी आवश्यक सुख सहज रूपसे प्राप्त करनेका एक ही उपाय है और वह है, आलस्य छोड़कर सब श्रम करनेको तैयार हों। मुख्य दुःख हमारे आलस्यके ही कारण है। यदि सब लोग शारीरिक श्रम करनेका निश्चय कर लें, तो यह दुःख दूर हो जाय।

परंतु आज समाजमें हम देखते क्या हैं? एक ओर जंग चढ़-चढ़कर निरुपयोगी हुए लोग दीखते हैं। श्रीमानोंकी इंद्रियाँ जंग खा रही हैं। उनके शरीरका उपयोग ही नहीं किया जा रहा है। दूसरी ओर इतना काम करना पड़ रहा है कि सारा शरीर घिस-घिसकर गल गया है। सारे समाजमें शारीरिक श्रमसे बचनेकी प्रवृत्ति हो रही है। जो मर-पचकर काम करते हैं, वे खुशी-खुशी ऐसा नहीं करते। छुटकारा नहीं है, इसलिए करते हैं। पढ़े-लिखे समझदार लोग श्रमसे बचनेके लिए तरह-तरहके बहाने बनाते हैं। कोई कहते हैं—"व्यर्थ क्यों शारीरिक श्रममें समय गँवायें?" परंतु कोई ऐसा नहीं कहता—"यह नींद क्यों लें?" "भोजनमें समय क्यों नष्ट करें?" भूख लगती है, तो खाते हैं। नींद आती है, तो सो जाते हैं। परंतु जब शारीरिक श्रमका प्रश्न आता है, तभी हम कहते हैं—"व्यर्थ क्यों समय नष्ट करें? क्यों अपने शरीरको इतने कष्टमें डालें? हम तो मानसिक श्रम कर ही लेते हैं!" भले आदमी! यदि मानसिक काम करते हैं, तो फिर खाना भी मानसिक खा लीजिये और नींद भी मानसिक ले लीजिये! मनोमय नींद और मनोमय भोजन करनेकी योजना बना लीजिये न!

इस तरह समाजमें दो तरहके लोग हैं। एक तो वे, जो दिन-रात पिसते-मरते हैं और दूसरे वे, जो हाथतक नहीं हिलाते। मेरे एक मित्रने

एक दिन कहा—"कुछ रुण्ड और कुछ मुण्ड। एक ओर धड़ है, दूसरी ओर सिर। धड़ सिर्फ खपता रहे, सिर सिर्फ विचार करता रहे। इस तरह समाजमें ये राहु-केतु, रुण्ड और मुण्ड, दो प्रकार और हो गये हैं।" परंतु यदि सचमुच ही ये रुण्ड-मुण्ड होते, तो कोई बात नहीं थी। तब अंध-पंगु न्यायसे ही कोई व्यवस्था हो सकती थी। अंधेको लँगड़ा रास्ता दिखाता, लँगड़ेको अंधा कंधेपर बैठाता। परंतु केवल रुंडके अथवा केवल मुंडके अलग-अलग गुट नहीं हैं। प्रत्येकमें रुंड और मुंड, दोनों हैं। ये जुड़े रुंड-मुंड सब जगह हैं। तब क्या करें? अतः प्रत्येकको चाहिए कि आलस्य छोड़ दे।

आलस्य छोड़नेके लिए शारीरिक श्रम करना चाहिए। आलस्यको जीतनेका एक यही उपाय है। यदि इससे काम न लिया गया, तो इसकी सजा भी प्रकृतिकी ओरसे मिले बिना न रहेगी। बीमारियोंके या किसी और कष्टके रूपमें वह सजा भोगनी ही पड़ेगी। जब कि शरीर हमें मिला है, तो श्रम करना ही होगा। शरीर-श्रममें जो समय लगता है, वह व्यर्थ नहीं जाता। इसका प्रतिफल अवश्य मिलता है। उत्तम आरोग्य प्राप्त होता है। बुद्धि सतेज, तीव्र और शुद्ध होती है। बहुतेरे विचारकोंके विचारोंमें भी उनके पेट-दर्द और सिर-दर्दका प्रतिबिंब आ जाता है। विचारशील लोग यदि धूपमें, खुली हवामें, सृष्टिके सान्निध्यमें श्रम करेंगे, तो उनके विचार भी तेजस्वी बनेंगे। शारीरिक रोगका जैसे मनपर असर होता है, वैसे ही शारीरिक आरोग्यका भी होता है, यह अनुभवसिद्ध है। बादमें क्षय रोग होनेपर भुवाली या और कहीं पहाड़पर शुद्ध हवामें जाने या सूर्य-किरणोंका प्रयोग करनेके पहले ही यदि बाहर कुदाली लेकर खोदने, बागमें पेड़ोंको पानी देने और लकड़ी काटनेका काम करें, तो क्या बुरा है?

(७७) तमोगुणका एक और उपाय

आलस्य जीतना एक बात है, नींद जीतना दूसरी। नींद वस्तुतः पवित्र वस्तु है। सेवा करके थके हुए साधु-संतोंकी नींद एक योग ही

है। इस प्रकारकी शांत और गहरी नींद परम भाग्यवानोंको ही मिलती है। नींद गहरी, गाढ़ी होनी चाहिए। नींदका महत्त्व लंबाई-चौड़ाईपर नहीं है। बिछौना कितना लंबा था और उसपर मनुष्य कितनी देर पड़ा रहा; इस बातपर नींद अवलंबित नहीं है। कुआँ जितना गहरा होगा; उतना ही उसका पानी अधिक साफ और मीठा होगा। उसी तरह नींद चाहे थोड़ी हो; पर यदि गहरी हो, तो उससे बड़ा काम बनता है। मन लगाकर किया आधा घंटा अध्ययन, चंचलतासे किये गये तीन घंटेके अध्ययनसे ज्यादा फलदायी होता है। यही बात नींदकी है। लंबी नींद अन्तमें हितकर ही होती है; ऐसा नहीं कह सकते। बीमार चौबीसों घंटे बिस्तरपर पड़ा रहता है। बिस्तरकी और उसकी लगातार भेट है; लेकिन नींदसे भेट ही नहीं। सच्ची नींद वह, जो गहरी और निःस्वप्न हो। मरनेपर यम-यातना जो कुछ होती हो सो हो, परन्तु जिसे नींद अच्छी नहीं आती, दुःस्वप्न आते रहते हैं, उसकी यातनाका हाल मत पूछिये। वेदमें ऋषि त्रस्त होकर कहते हैं—

परा दुःस्वप्न्यं सुव।

'ऐसी दुष्ट नींद मुझे नहीं चाहिए, नहीं चाहिए।' नींद आरामके लिए होती है, परन्तु यदि उसमें भी तरह-तरहके स्वप्न और विचार पिंड न छोड़ते हों, तो फिर आराम कहाँ ?

तो गहरी और गाढ़ी नींद आये कैसे ? जो उपाय आलस्यके लिए बताया है, वही नींदके लिए भी है। शरीरसे सतत काम लेते रहना चाहिए। फिर बिछौनेपर जाते ही मनुष्य मुर्देकी तरह पड़ रहेगा। नींद एक छोटी-सी मृत्यु ही है। ऐसी सुन्दर मृत्यु आनेके लिए दिनमें पूर्व तैयारी अच्छी होनी चाहिए। शरीर थककर चूर हो जाना चाहिए। अंग्रेज-कवि शेक्सपियरने कहा है—"राजाके सिरपर तो मुकुट है, परन्तु सिरमें चिंता है !" राजाको नींद नहीं आती। उसका एक कारण यह है कि वह शारीरिक श्रम नहीं करता। जागनेके समय जो सोता है, वह सोनेके समय जागता रहेगा। दिनमें बुद्धि और शरीरका उपयोग

न करना नींद नहीं तो क्या है? फिर नींदके समय बुद्धि विचार करती फिरती है और शरीर भी वास्तविक निद्रा-सुख नहीं पाता। तब देर-तक सोते पड़े रहते हैं। जिस जीवनमें परम पुरुषार्थ साधना है, उसे यदि नींदने खा डाला, तो पुरुषार्थकी नौबत कब आयेगी? आधा जीवन यदि नींदमें ही चला जाय, तो इसमें फिर क्या मिलनेवाला है?

जब बहुत-सा समय नींदमें ही चला जाता है, तो फिर तमोगुणका तीसरा दोष—'प्रमाद' अपने-आप होने लगता है। निद्राशील मनुष्यका चित्त दक्ष और सावधान नहीं रह सकता। उससे अनवधान उत्पन्न होता है। अधिक नींदसे फिर आलस्य बढ़ता है और आलस्यसे विस्मृति। विस्मृति परमार्थके लिए नाशक हो जाती है। व्यवहारमें भी विस्मृतिसे हानि होती है; परन्तु हमारे समाजमें तो विस्मृति एक स्वाभाविक बात बन बैठी है। विस्मृति कोई बड़ा दोष है, ऐसा किसीको लगता ही नहीं। किसीसे भेंट करना निश्चित करते हैं, परन्तु समयपर जाते नहीं। पूछनेपर कहते हैं—"अरे भाई, मैं तो भूल ही गया।" ऐसा कहनेवालेको भी कोई बड़ी भूल हो गयी है, ऐसा नहीं लगता और सुननेवाला भी संतुष्ट हो जाता है। विस्मरणका कोई इलाज ही नहीं है, ऐसा लोगोंका खयाल बना हुआ-सा दीखता है; परन्तु यह गफलत परमार्थमें भी हानिकर है और प्रपंचमें भी। वास्तवमें विस्मरण एक बड़ा रोग है। उससे बुद्धिमें घुन लग जाता है। जीवन खोखला हो जाता है।

मनका आलस्य विस्मरणका कारण है। मन यदि जाग्रत रहे, तो वह भूलेगा नहीं। लेटे रहनेवाले मनको विस्मरणरूपी बीमारी हुए बिना नहीं रहती। इसीलिए भगवान् बुद्ध कहते हैं—

पमादो मच्चुनो पदम्।

—प्रमाद, विस्मरण मृत्यु ही है। इस प्रमादपर विजय पानेके लिए आलस्य और निद्राको जीतिये। शरीर-श्रम कीजिये और सतत सावधान रहिये। हर काम विचारपूर्वक कीजिये। यों ही बिना विचारे कोई काम नहीं होना चाहिए। कृतिके पहले विचार, बादमें भी विचार।

आगे-पीछे सर्वत्र विचाररूपी परमेश्वर खड़ा रहना चाहिए। जब ऐसी आदत डाल लेंगे, तो फिर अनवधानरूपी रोग दूर हो जायगा। सारे समयको ठीक तौरसे बाँधे रखिये। एक-एक क्षणका हिसाब रखिये, तो फिर आलस्यको घुसनेकी जगह नहीं रहेगी। इस रीतिसे सारे तमोगुणको जीतनेका प्रयत्न करना चाहिए।

(७८) रजोगुण और उसका उपाय स्वधर्म-मर्यादा

इसके उपरान्त रजोगुणसे मोर्चा लेना है। रजोगुण भी एक भयानक शत्रु है। यह तमोगुणका ही दूसरा पहलू है, बल्कि यही कहना चाहिए कि दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। जब शरीर बहुत सो चुकता है, तो वह हलचल करने लगता है और जब शरीर बहुत दौड़-धूप कर चुकता है, तब बिस्तरपर पड़ना चाहता है। तमोगुणसे रजोगुणकी और रजोगुणसे तमोगुणकी प्राप्ति होती है। जहाँ एक है, वहाँ दूसरा आया ही समझिये। जिस तरह रोटी एक ओर आग और दूसरी ओर भूभरमें फँस जाती है, उसी तरह मनुष्यके आगे-पीछे ये रजोगुण-तमोगुण लगे ही रहते हैं। रजोगुण कहता है—"इधर आ, तुझे तमोगुणकी तरफ उड़ाऊँ।" तमोगुण कहता है—"मेरी तरफ आ, तुझे रजोगुणकी ओर फेंकूँ।" इस प्रकार ये रजोगुण और तमोगुण परस्पर सहायक होकर मनुष्यका नाश कर डालते हैं। फुटबॉलका जन्म जैसे चारों ओरसे ठोकरें खानेके लिए है, वैसे ही मनुष्यका जीवन रजोगुण और तमोगुणकी ठोकरें खानेमें ही बीतता है।

रजोगुणका प्रधान लक्षण है—नाना प्रकारके काम करनेकी लालसा, अमानुष कर्म करनेकी अपार आसक्ति। रजोगुणके द्वारा अपरंपार कर्म-संग लागू होता है। लोभात्मक कर्मासक्ति उत्पन्न होती है। फिर वासना-विकारोंका वेग सँभलने नहीं पाता। इधरका पहाड़ उधर ले जाकर उधरका खड्डा भर डालनेकी इच्छा होती है। इधर समुद्रमें मिट्टी डालकर उसे भर डालने और उधर सहाराके रेगिस्तानमें पानी भरकर समुद्र बनानेकी प्रेरणा होती है। इधर स्वेज-नहर खोदूँ, उधर

नामा नहर बनाऊँ, ऐसी उधेड़-बुन शुरू होती है। जोड़-तोड़के सिवा चैन नहीं पड़ती। छोटा बच्चा जैसे एक कतरनको लेकर उसे फाड़ता है, फिर कुछ बनाता है, ऐसी ही यह क्रिया है। इसमें यह मिलाओ, उसमें वह डुबाओ, उसे यों उड़ाओ, इसे यों बनाओ—ऐसे ही अनन्त खेल रजोगुणके होते हैं। पक्षी आकाशमें उड़ता है, हम भी आकाशमें क्यों न उड़ें ? मछली पानीमें रहती है, हम भी पनडुब्बी बनाकर जलमें क्यों न रहें ? इस तरह, नर-देहमें आकर पक्षियों और मछलियों-की बराबरी करनेमें हमें कृतार्थता मालूम होती है। पर-काया-प्रवेशकी तथा दूसरी देहोंके आश्चर्योंका अनुभव करनेकी हविस उसे नर-देहमें सूझती है। कोई कहता है—"चलो, मंगलकी सैर कर आयें और वहाँकी आबादी देख आयें।" चित्त एक-सा भ्रमण करता रहता है, मानो अनेक वासनाओंका भूत ही हमारे शरीरमें बैठ गया है। जो जहाँ है, वह वहाँ देखा ही नहीं जाता। उथल-पुथल होनी चाहिए। उसे लगता है—मैं इतना बड़ा मनुष्य-जीव, मेरे जीवित रहते यह सृष्टि जैसी-की-तैसी कैसे रहे ? मानो किसी पहलवानपर चरबी चढ़ी है, जिसे उतारने-के लिए वह कभी दीवारसे टक्कर लेता है, तो कभी पेड़को धक्का मारता है। रजोगुणकी ऐसी ही उमंगें होती हैं। इनके प्रभावमें आकर मनुष्य धरतीको गहरी खोदता है; उसके पेटमेंसे कुछ पत्थर निकालता है और उन्हें वह हीरा, माणिक, जवाहर नाम देता है। इसी उमंगके वशीभूत होकर वह समुद्रमें गोता लगाता है और उसकी तलीका कूड़ा-करकट ऊपर लाकर उसे 'मोती' नाम देता है। मोतीमें छेद नहीं होता, अतः उसमें छेद करता है। अब ये मोती पहने कहाँ ? तो सुनारसे नाक-कान छिदवाता है। मनुष्य यह सब उखाड़-पछाड़ क्यों करता है ? यह सारा रजोगुणका प्रभाव है।

रजोगुणका दूसरा परिणाम यह होता है कि मनुष्यमें स्थिरता नहीं रहती। रजोगुण तत्काल फल चाहता है। अतः जरा-सी विघ्न-बाधा आते ही वह अंगीकृत मार्ग छोड़ देता है। रजोगुणी मनुष्य सतत इसे ले, उसे छोड़, ऐसा करता रहता है। उसका चुनाव रोज

बदलता रहता है। इसका परिणाम यही होता है कि अन्तमें पल्ले कुछ भी नहीं पड़ता।

राजसं चलमध्रुवम्।

रजोगुणीकी सारी कृति चंचल और अनिश्चित रहती है। छोटे बच्चे गेहूँ बोते हैं और उसी समय खोदकर देखते हैं। वैसा ही हाल रजोगुणी मनुष्यका होता है। झट-पट सब कुछ उसके पल्ले पड़ना चाहिए। वह अधीर हो उठता है। संयम खो देता है। एक जगह पाँव जमाना वह जानता ही नहीं। यहाँ जरा-सा काम किया, वहाँ कुछ प्रसिद्धि हुई कि चला दूसरी जगह। आज मद्रासमें मानपत्र, कल कलकत्तेमें और परसों बंबई-नागपुरमें! कुल म्युनिसिपैलिटियोंसे मान-पत्र पानेकी उसे लालसा रहती है। मान-ही-मान उसे सब जगह दीखता है। एक जगह जमकर काम करनेकी उसे आदत ही नहीं होती। इससे रजोगुणी मनुष्यकी स्थिति बड़ी भयानक होती है।

रजोगुणके प्रभावसे मनुष्य विविध धंधों, कार्योंमें टाँग अड़ाता रहता है। उसका स्वधर्म नहीं रहता। वास्तविक स्वधर्माचरणका अर्थ है, इतर नाना कार्योंका त्याग। गीताका कर्मयोग रजोगुणका रामबाण उपाय है। रजोगुणमें सब कुछ चंचल है। पर्वतके शिखरपरसे गिरनेवाला पानी यदि विविध दिशाओंमें बहने लगे, तो फिर वह कहींका नहीं रहता। सारा-का-सारा बिखरकर बेकार हो जाता है; परन्तु वही यदि एक दिशामें बहेगा, तो आगे चलकर उसकी एक नदी बन जायगी। उसमेंसे एक शक्ति उत्पन्न होगी। देशको उससे लाभ पहुँचेगा। इसी तरह मनुष्य यदि अपनी सारी शक्ति विविध उद्योगोंमें न लगा-कर उसे एकत्र करके एक ही कार्यमें सुव्यवस्थित रूपसे लगाये, तभी उसके हाथसे कुछ कार्य हो सकेगा। इसलिए स्वधर्मका बड़ा महत्त्व है।

स्वधर्मका सतत चिन्तन करके उसीमें सारी शक्ति लगानी चाहिए, दूसरी बातकी ओर ध्यान ही न जाने पाये। यही स्वधर्मकी कसौटी है। कर्मयोग यानी कोई अति अथवा भारी कर्म नहीं है।

केवल अमित कर्म करनेका नाम कर्मयोग नहीं है। गीताका कर्मयोग कुछ और ही चीज है। उसकी विशेषता यह है—फलकी ओर ध्यान न देते हुए केवल स्वभाव-प्राप्त अपरिहार्य स्वधर्मका पालन करना और उसके द्वारा चित्त-शुद्धि करते रहना, नहीं तो यों सृष्टिमें एक-सा कर्म-कलाप होता ही रहता है। कर्मयोगका अर्थ है, विशिष्ट मनोवृत्तिसे समस्त कर्म करना। खेतमें बीज बोना और यों ही मुट्ठीभर अनाज लेकर कहीं फेंक देना—दोनों सर्वथा भिन्न बातें हैं। दोनोंमें बड़ा अन्तर है। हम देखते ही हैं कि अनाज बोनेसे कितना फल मिलता है और यों ही उसे फेंक देनेसे कितना नुकसान होता है। गीता जिस कर्मका उपदेश देती है, वह बुआईकी तरह है। ऐसे स्वधर्मरूप कर्तव्यमें अमित शक्ति रहती है। वहाँ सभी परिश्रम अधूरे पड़ते हैं। अतः उसमें भारी दौड़-धूपके लिए कोई अवसर ही नहीं रहता।

(७९) स्वधर्मका निश्चय कैसे करें ?

यह स्वधर्म निश्चित कैसे किया जाय? ऐसा कोई प्रश्न करे, तो उसका सरल उत्तर है—'वह स्वाभाविक होता है।' स्वधर्म सहज होता है। उसे खोजनेकी कल्पना ही विचित्र मालूम होती है। मनुष्य-के जन्मके साथ ही उसका स्वधर्म भी जनमा है। बच्चेके लिए जैसे उसकी माँ तलाश नहीं करनी पड़ती, वैसे ही स्वधर्म भी किसीको तलाशना नहीं पड़ता। वह तो पहलेसे ही प्राप्त है। हमारे जन्मके पहले भी दुनिया थी, हमारे बाद भी वह रहेगी। हमारे पीछे भी एक बड़ा प्रवाह था और आगे भी वह है ही—ऐसे प्रवाहमें हमारा जन्म हुआ है। जिन माँ-बापके यहाँ मैंने जन्म लिया है, उनकी सेवा, जिन पास-पड़ोसियोंके बीच जनमा हूँ, उनकी सेवा—ये कर्म मुझे निसर्गतः ही मिले हैं। फिर मेरी वृत्तियाँ तो मेरे नित्य अनुभवकी ही हैं न? मुझे भूख लगती है, प्यास लगती है; अतः भूखेको भोजन देना, प्यासेको पानी पिलाना, यह धर्म मुझे स्वतः प्राप्त हो गया। इस प्रकार यह सेवारूप, भूतदयारूप स्वधर्म हमें खोजना नहीं पड़ता। जहाँ

कहीं स्वधर्मकी खोज हो रही हो, वहाँ निश्चित समझ लेना चाहिए कि कुछ-न-कुछ परधर्म अथवा अधर्म हो रहा है।

सेवकको सेवा खोजने कहीं जाना नहीं पड़ता। वह अपने-आप उसके पास आ जाती है। परन्तु एक बात ध्यानमें रखनी चाहिए कि जो अनायास प्राप्त हो, वह सब सदा धर्म्य ही होता हो, ऐसी बात नहीं है। कोई किसान रातको मुझसे कहे—"चलो, वह बाड़ चार-पाँच हाथ आगे हटा दें। मेरा खेत बढ़ जायगा। अभी कोई है नहीं, बिना गुल-गपाड़ेके ही सब काम हो जायगा।" यद्यपि यह काम मुझे अपने पड़ोसीने बताया है और यह सहज प्राप्त है, तो भी इसमें असत्यका आश्रय होनेके कारण यह मेरा कर्तव्य नहीं ठहरता।

चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था जो मुझे मधुर मालूम होती है, उसका कारण यही है कि उसमें स्वाभाविकता और धर्म दोनों हैं। इस स्वधर्मको छोड़नेसे काम नहीं चल सकता। जो माँ-बाप मुझे प्राप्त हुए हैं, वे ही मेरे माँ-बाप रहेंगे। यदि मैं यह कहूँ कि वे मुझे पसन्द नहीं हैं, तो कैसे काम चलेगा? माँ-बापका पेशा स्वभावतः ही लड़केको विरासतमें मिलता है। जो पेशा पूर्वापरसे चला आया है, वह यदि नीति-विरुद्ध न हो, तो उसीको करना, उसी उद्योगको आगे चलाना चातुर्वर्ण्यकी एक बड़ी विशेषता है। यह वर्ण-व्यवस्था आज अस्त-व्यस्त हो गयी है। उसका पालन आज बहुत कठिन हो गया है, परन्तु यदि वह ठीक ढंगपर लायी जा सके, तो बहुत अच्छा होगा; नहीं तो आज शुरूके पचीस-तीस साल तो नये धंधे सीखनेमें ही चले जाते हैं। काम सीख लेनेपर फिर मनुष्य अपने लिए सेवा-क्षेत्र, कार्य-क्षेत्र खोजता है। इस तरह शुरूके पचीस सालतक तो वह सीखता ही रहता है। इस शिक्षाका उसके जीवनसे कोई संबंध नहीं रहता। कहते हैं, वह भावी जीवनकी तैयारी कर रहा है। शिक्षा प्राप्त करते समय मानो वह जीता ही न हो। जीना बादमें है। कहते हैं, पहले सब सीखना और बादमें जीना। मानो जीना और सीखना, ये दोनों चीजें अलग-अलग कर दी गयी हों। जहाँ जीनेका संबंध नहीं, उसे मरना

ही तो कहेंगे ? हिंदुस्तानकी औसत उम्र तेईस साल है और पचीस सालतक तो वह तैयारी ही करता रहता है। इस तरह नया काम-धंधा सीखनेमें ही दिन चले जाते हैं, तब नया काम-धंधा शुरू होता है। इससे उमंग और महत्त्वके वर्ष व्यर्थ चले जाते हैं। जो उत्साह, जो उमंग जन-सेवामें खर्च करके जीवन सार्थक किया जा सकता है, वह यों ही व्यर्थ चली जाती है। जीवन कोई खेल नहीं है। पर दुःखकी बात है कि जीवनका पहला अमूल्य अंश तो जीवनका काम-धंधा खोजनेमें ही चला जाता है। हिंदू-धर्मने इसीलिए वर्ण-धर्मकी युक्ति निकाली है।

परंतु चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थाको एक ओर रख दें, तो भी सभी राष्ट्रोंमें सर्वत्र, जहाँ यह व्यवस्था नहीं है वहाँ भी, स्वधर्म सबको प्राप्त ही है। हम सब इस प्रवाहमें किसी एक परिस्थितिको साथ लेकर जनमे हैं; इसीलिए स्वधर्माचरणरूपी कर्तव्य स्वतः ही हमें प्राप्त रहता है। अतः जो दूरवर्ती कर्तव्य हैं—जिन्हें वास्तवमें कर्तव्य कहना ठीक नहीं—वे कितने ही अच्छे दिखाई देनेपर भी ग्रहण न करने चाहिए। बहुत बार दूरके ढोल सुहावने लगते हैं। मनुष्य दूरकी बातोंपर लट्टू हो जाता है। मनुष्य जहाँ खड़ा है, वहाँ भी गहरा कुहरा फैला रहता है; परन्तु पासका घना कुहरा उसे नहीं दीखता। वह दूर अँगुली दिखाकर कहता है—"वहाँ बड़ा कुहरा फैला है।" उधरका मनुष्य इसकी ओर अंगुली बताकर कहता है—"उधर घना कुहरा है।" कुहरा सब जगह है, परन्तु पासका दिखाई नहीं देता। मनुष्यको दूरका आकर्षण रहता है। निकटका कोनेमें पड़ा रहता है और दूरका स्वप्नमें दीखता है। परन्तु यह मोह है। इसे छोड़ना ही चाहिए। प्राप्त स्वधर्म यदि साधारण हो, अपर्याप्त हो, नीरस लगता हो, तो भी जो मुझे प्राप्त है, वही अच्छा है। वही मेरे लिए सुन्दर है। जो मनुष्य समुद्रमें डूब रहा हो, उसे कोई टेढ़ा-मेढ़ा और भद्दा-सा लकड़ीका टुकड़ा मिले, पॉलिश किया हुआ चिकना और सुन्दर न मिले, तो भी वही तारनेवाला है। बढ़ईके कारखानेमें बहुत-से बढ़िया चिकने

और वेल-बूटेदार टुकड़े पड़े होंगे, परन्तु वे तो हैं कारखानेमें और वह यहाँ समुद्रमें डूब रहा है। अतएव वह बेढंगा लकड़ीका टुकड़ा ही उसका तारक है, उसीको उसे पकड़ लेना चाहिए। इसी तरह जो सेवा मुझे प्राप्त हो गयी है, वह गौण मालूम होनेपर भी मेरे कामकी है। उसीमें मग्न हो जाना मुझे शोभा देता है। उसीमें मेरा उद्धार है। यदि मैं दूसरी सेवा खोजनेके चक्करमें पड़ूँगा, तो पहली सेवा भी जायगी और दूसरी भी। इससे मनुष्य सेवा-वृत्तिसे ही दूर भटक जाता है। अतः स्वधर्मरूप कर्तव्यमें ही हमें मग्न रहना चाहिए।

जब हम स्वधर्ममें मग्न रहने लगते हैं, तो रजोगुण फीका पड़ जाता है, क्योंकि तब चित्त एकाग्र होता है। वह स्वधर्म छोड़कर कहीं जाता ही नहीं, इससे चंचल रजोगुणका सारा जोर ही ढीला पड़ जाता है। नदी जब शांत और गहरी होती है, तो कितना ही पानी उसमें बढ़ आये, तो भी वह उसे अपने पेटमें समा लेती है। इसी तरह स्वधर्म-रूपी नदी मनुष्यका सारा बल, सारा वेग, सारी शक्ति अपने भीतर समा ले सकती है। स्वधर्ममें जितनी शक्ति लगाओगे, उतनी कम ही है। स्वधर्ममें आप सब शक्ति लगा देंगे, तो फिर रजोगुणकी दौड़-धूप करनेवाली वृत्ति समाप्त हो जायगी। लगेगा, मानो आपने चंचलताका मुँह ही कुचल दिया। यह रीति है रजोगुणको जीतनेकी।

(८०) सत्त्वगुण और उसका उपाय

अब रहा सत्त्वगुण। इससे बहुत सँभलकर रहना चाहिए। इससे आत्माको अलग कैसे करें? बड़े सूक्ष्म विचारकी यह बात है। सत्त्व-गुणको एकदम निर्मूल नहीं करना है। रज-तमका तो पूर्ण उच्छेद ही करना पड़ता है, परंतु सत्त्वगुणकी भूमिका कुछ अलग है। जब बहुत भीड़ इकट्ठी हो गयी हो और उसे तितर-बितर करना हो, तो सिपाहियोंको हुक्म दिया जाता है कि कमरके ऊपर नहीं, पाँवकी तरफ गोलियाँ चलाओ। इससे मनुष्य मरता नहीं, घायल हो जाता है। इसी तरह सत्त्वगुणको घायल कर देना है, मार नहीं डालना है।

रजोगुण और तमोगुणके चले जानेपर शुद्ध सत्त्वगुण रह जाता है। जबतक हमारा शरीर कायम है, तबतक हमें किसी-न-किसी भूमिकामें रहना ही पड़ेगा। तो फिर रज-तमके चले जानेपर जो सत्त्वगुण रहेगा, उससे अलग रहनेका अर्थ क्या है?

जब सत्त्वगुणका अभिमान हो जाता है, तब वह आत्माको अपने शुद्ध स्वरूपसे नीचे खींच लाता है। लालटेनका प्रकाश स्वच्छ रूपमें बाहर फैलाना हो, तो उसके अन्दरका सारा काजल पोंछ ही देना पड़ता है; परन्तु यदि काँचपर धूल जम गयी हो, तो वह भी धो डालनी पड़ती है। इसी तरह आत्माकी प्रभाके आसपास जो तमोगुण-रूपी काजल जमा रहता है, उसे अच्छी तरह दूर कर डालना चाहिए। उसके बाद रजोगुणरूपी धूलको भी साफ कर देना है। इस तरह जब तमोगुणको धो डाला, रजोगुणको साफ कर डाला, तो अब सत्त्वगुणरूपी काँच बाकी रह गया। इस सत्त्वगुणको भी दूर करनेका अर्थ क्या यह है कि हम काँचको भी फोड़ डालें? नहीं। यदि काँच ही फोड़ डालेंगे, तो फिर प्रकाशका कार्य नहीं होगा। ज्योतिका प्रकाश फैलानेके लिए काँचकी तो जरूरत रहेगी ही। अतः इस शुद्ध चमकदार काँचको फोड़ें तो नहीं, परन्तु एक ऐसा छोटा-सा कागजका टुकड़ा उसके सामने जरूर लगा दें, जिससे आँखें चकाचौंध न हो जायँ। जरूरत सिर्फ आँखोंको चकाचौंध न होने देनेकी है। सत्त्वगुणपर विजय पानेका अर्थ यह है कि उसके प्रति हमारा अभिमान, हमारी आसक्ति हट जाय। सत्त्वगुणसे काम तो ले लेना है, परन्तु सावधानीसे और युक्ति-से। सत्त्वगुणको निरहंकारी बना देना चाहिए।

इस सत्त्वगुणके अहंकारको जीता कैसे जाय? इसका एक उपाय है। सत्त्वगुणको हम अपने अन्दर स्थिर कर लें। सातत्यसे उसका अभिमान चला जाता है। सत्त्वगुण-कर्मोंको ही हम सतत करते रहें। उसे अपना स्वभाव ही बना लें। सत्त्वगुण हमारे यहाँ घड़ीभरके लिए आया हुआ मेहमान ही नहीं रहे, बल्कि वह घरका आदमी बन जाय। जो क्रिया कभी-कभी हमसे होती है, उसका हमें अभिमान होता

है। सोते हम रोज हैं, परन्तु उसकी चर्चा दूसरोंसे नहीं करते। लेकिन जब किसी बीमारको पन्द्रह दिन नींद न आयी हो और फिर जरा-सी नींद लगी हो, तो वह सबसे कहता है—"कल तो भाई, जरा झपकी लगी थी।" उसे वह बात महत्त्वपूर्ण मालूम होती है। इससे भी अच्छा उदाहरण हम श्वासोच्छ्वास-क्रियाका ले सकते हैं। साँस हम चौबीसों घंटे लेते हैं, परन्तु हर किसीसे उसका जिक्र नहीं करते। कोई यह डींग नहीं मारता कि "मैं एक साँस लेनेवाला प्राणी हूँ।" हरद्वारसे फेंका तिनका यदि गंगामें बहता-बहता डेढ़ हजार मील दूर कलकत्तामें पहुँच जाय, तो क्या वह उसपर गर्व करेगा? वह तो धाराके साथ सहज-रूपसे बहता चला आया। परन्तु यदि कोई बाढ़की उलटी धारामें दस-बीस हाथ तैर आया, तो वह कितनी शेखी बघारेगा! सारांश यह कि जो बात स्वाभाविक है, उसका हमें अहंकार नहीं मालूम होता।

कोई अच्छा काम हमारे हाथसे हो जाता है, तो हमें उसका अभिमान मालूम होता है। क्यों? इसलिए कि वह बात सहजरूपसे नहीं हुई। मुन्नाके हाथसे कोई काम अच्छा हो जाय, तो माँ उसकी पीठ ठोंकती है। वरना यों तो माँकी छड़ीसे ही हमेशा उसकी पीठकी भेंट होती है। रातके घने अन्धकारमें एकआध जुगनू हो, तो फिर देखिये उसकी ऐंठ! वह एकबारगी अपनी सारी चमक नहीं दिखाता। बीचमें लुक-लुक करता है, फिर रुकता है, फिर लुक-लुक करता है। वह प्रकाशकी आँखमिचौनी खेलता है। परन्तु उसका प्रकाश यदि सतत रहने लगे, तो फिर उसकी ऐंठ नहीं रहेगी। सातत्यके कारण विशेषता मालूम नहीं होती। इस तरह सत्त्वगुण यदि हमारी क्रियाओंमें सतत प्रकट होने लगे, तो फिर वह हमारा स्वभाव ही हो जायगा। सिंहको अपने शौर्यका अभिमान नहीं रहता, बल्कि भान भी नहीं रहता। इसी तरह अपनी सात्त्विक वृत्तिको इतनी सहज हो जाने दो कि हमें उसकी स्मृति भी न होने पाये। प्रकाश देना सूर्यकी नैसर्गिक क्रिया है। उसका सूर्यको कोई अभिमान नहीं रहता। उसके लिए यदि कोई सूर्यको मान-पत्र देने जाय, तो वह कहेगा—"इसमें मैंने विशेष क्या किया? मैं प्रकाश

देता हूँ, तो अधिक क्या करता हूँ? प्रकाश देना ही तो मेरा जीवन है। प्रकाश न दूँ, तो मैं मर जाऊँगा। मैं दूसरी कोई चीज ही नहीं जानता।" ऐसी ही स्थिति सात्त्विक मनुष्यकी हो जानी चाहिए। सात्त्विक गुण उसके रोम-रोममें भिद जाना चाहिए। सत्त्वगुणका ऐसा स्वभाव ही बन जाय, तो हमें उसका अभिमान न होगा। सत्त्वगुणको निस्तेज करनेकी, उसे जीतनेकी यह एक युक्ति हुई।

दूसरी युक्ति है, सत्त्वगुणकी आसक्तितक छोड़ देना। अहंकार और आसक्ति, ये दो भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं। यह भेद जरा सूक्ष्म है। दृष्टांतसे जल्दी समझमें आ जायगा। सत्त्वगुणका अहंकार चला जानेपर भी आसक्ति रह जाती है। श्वासोच्छ्वासका ही उदाहरण लें। साँस लेनेका अभिमान तो नहीं होता, परन्तु उसमें बड़ी आसक्ति रहती है। यदि कहो कि पाँच मिनटतक साँस रोके रहो, तो नहीं बनता। नाकको श्वासोच्छ्वासका अभिमान भले ही न हो, परन्तु वह हवा बराबर लेती रहती है। सुकरातकी एक मजेदार कहानी है। उसकी नाक थी चपटी। अतः लोग उसे देखकर हँसा करते; परन्तु हँसोड़ सुकरात कहता—"मेरी नाक सबसे सुन्दर है। जिस नाकके नासापुट बड़े हों, वह भरपूर हवा ले सकती है और इसलिए वही सबसे सुन्दर है।" तात्पर्य यह कि नाकको श्वासोच्छ्वासका अभिमान तो नहीं, पर आसक्ति है। सत्त्वगुणोंके प्रति इसी तरह आसक्ति हो जाती है। जैसे भूत-दया। यह गुण अत्यन्त उपयोगी है, परन्तु उसकी भी आसक्तिसे दूर रह सकें, ऐसा होना चाहिए। भूत-दया तो आवश्यक है, परन्तु उसकी आसक्ति न होनी चाहिए।

संत लोग इस सत्त्वगुणकी ही बदौलत दूसरोंके मार्ग-दर्शक बनते हैं। उनकी देह भूतदयाके कारण सार्वजनिक हो जाती है। मक्खियाँ जिस प्रकार गुड़की भेलीको ढाँक लेती हैं, उसी प्रकार सारी दुनिया संतोंपर अपने प्रेमकी चादर ओढ़ाती है। संतोंके अन्दर प्रेमका इतना प्रकर्ष हो जाता है कि सारा विश्व उनसे प्रेम करने लगता है। संत अपनी देहकी आसक्ति छोड़ देते हैं, अतः सारे संसारकी आसक्ति उनमें

हो जाती है। सारी दुनिया उनके शरीरकी चिन्ता करने लगती है। परन्तु यह आसक्ति भी संतोंको दूर करनी चाहिए। यह जो संसारका प्रेम है, यह जो महान् फल है, उससे भी आत्माको पृथक् करना चाहिए। मैं कोई विशेष व्यक्ति हूँ—ऐसा उन्हें कभी न लगना चाहिए। इस तरह सत्त्वगुणको शरीरमें पचा डालना चाहिए।

पहले अहंकारको जीतो, फिर आसक्तिको। सातत्यसे अहंकार जीत लिया जायगा और फलासक्तिको छोड़कर सत्त्वगुणसे प्राप्त फलको भी ईश्वरार्पण करनेसे आसक्तिपर विजय प्राप्त की जा सकती है। जीवनमें जब सत्त्वगुण स्थिर हो जाता है, तो कभी सिद्धिके रूपमें और कभी कीर्तिके रूपमें फल सामने आता है। परन्तु उस फलको भी तुच्छ मानिये। आमका पेड़ अपना एक भी फल खुद नहीं खाता। फल कितना ही बढ़िया हो, कितना ही मीठा हो, कितना ही रसीला हो, पर खानेकी अपेक्षा न खाना ही उसे मधुरतर लगता है। उपभोगकी अपेक्षा त्याग अधिक मधुर है। धर्मराजने जीवनके सारे पुण्यके सार-स्वरूप स्वर्ग-सुखरूपी फलको भी अन्तमें ठुकरा दिया। जीवनके सारे त्यागोंपर उन्होंने कलश चढ़ा दिया। उन मधुर फलोंको चखनेका उन्हें अधिकार था; परन्तु यदि वे उन्हें चख लेते, तो सब स्वाहा हो जाता। 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' यह चक्र फिर उनके पीछे लग जाता। धर्मराजका कितना महान् यह त्याग! यह सदैव मेरी आँखोंके सामने खड़ा रहता है। इस तरह सत्त्वगुणके सतत आचरण-द्वारा उसके अहंकारको जीत लेना चाहिए। तटस्थ रहकर सब फल ईश्वरको सौंपकर उसकी आसक्तिसे छूट जाना चाहिए। तब कह सकते हैं कि सत्त्वगुणपर विजय प्राप्त हो गयी।

(८१) अन्तिम बात : आत्मज्ञान और भक्तिका आश्रय

अब अन्तिम बात! भले ही आप सत्त्वगुणी हो जाइये, अहंकारको जीत लीजिये, फलासक्तिको भी छोड़ दीजिये; फिर भी जबतक यह शरीर चिपटा है, तबतक बीच-बीचमें रज-तमके हमले होते ही रहेंगे।

थोड़ी देरके लिए हमें ऐसा लगा भी कि हमने इन गुणोंको जीत लिया, तो भी वे फिर-फिर जोर मारेंगे। अतः सतत जाग्रत रहना चाहिए। समुद्रका पानी वेगसे भीतर घुसकर जिस तरह बड़ी खाड़ियाँ बना लेता है, उसी तरह रज-तमके जोरदार प्रवाह हमारी मनोभूमिमें प्रविष्ट होकर खाड़ियाँ बना लेते हैं। अतः जरा भी छिद्र न रहने दीजिये। पक्का इंतजाम और पहरा रखिये। चाहे कितनी ही साव-धानी, दक्षता रखिये, जबतक आत्मज्ञान नहीं हुआ है, आत्म-दर्शन नहीं हो गया है, तबतक खतरा ही समझिये। अतः जैसे भी हो, आत्मज्ञान प्राप्त कर लीजिये।

आत्म-ज्ञान कोरी जाग्रतिकी कसरतसे नहीं होगा। तो फिर होगा कैसे? क्या अभ्याससे? नहीं, उसका एक ही उपाय है। वह है—'सच्चे हृदयसे, हार्दिक व्याकुलतासे भगवान्‌की भक्ति करना।' आप रज और तम गुणोंको जीतेंगे, सत्त्वगुणको स्थिर करके उसकी फलासक्ति भी छोड़ देंगे, परन्तु इतनेसे भी काम नहीं चलेगा। जबतक आत्म-ज्ञान नहीं हुआ है, तबतक काम चलनेवाला नहीं। अतः अन्तमें भगवत्कृपा चाहिए ही। सच्ची हार्दिक भक्तिके द्वारा उसकी कृपाका पात्र बनना चाहिए। इसके सिवा मुझे दूसरा उपाय नहीं दिखाई देता। इस अध्यायके अन्तमें अर्जुनने यही प्रश्न पूछा है और भगवान्‌ने उत्तर दिया है—"अत्यन्त एकाग्र मनसे निष्कामभावसे मेरी भक्ति करो, मेरी सेवा करो। जो इस प्रकार मेरी सेवा करता है, वह मायाके उस पार जा सकता है, नहीं तो इस गहन मायाको तरा नहीं जा सकता।" यह भक्तिका सरल उपाय है। उसके लिए यह एक ही मार्ग है।

रविवार, २२-५-'३२

पंद्रहवाँ अध्याय

पूर्णयोग : सर्वत्र पुरुषोत्तम-दर्शन

(८२) प्रयत्न-मार्गसे भक्ति भिन्न नहीं

आज एक अर्थमें इस गीताके छोरपर आ पहुँचे हैं। पन्द्रहवें अध्यायमें सब विचारोंकी परिपूर्णता हो गयी है। सोलहवाँ और सत्रहवाँ अध्याय परिशिष्टरूप हैं, अठारहवाँ उपसंहार है। यही कारण है कि भगवान्‌ने इस अध्यायके अन्तमें इसे 'शास्त्र' संज्ञा दी है।

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयाऽनघ।

—ऐसा अन्तमें भगवान्‌ने कहा है। यह इसलिए नहीं कि यह अन्तिम अध्याय है; बल्कि इसलिए कि अबतक जीवनके जो शास्त्र, जो सिद्धांत बताये, उनकी परिपूर्णता इस अध्यायमें की गयी है। इस अध्यायमें परमार्थ पूरा हो गया। वेदोंका सम्पूर्ण सार इसमें आ गया। परमार्थकी चेतना मनुष्यमें उत्पन्न कर देना ही वेदोंका कार्य है। वह इस अध्यायमें किया गया है, अतः इसे 'वेदका सार' यह गौरवपूर्ण पदवी मिली है।

तेरहवें अध्यायमें हमने देहसे आत्माको अलग करनेकी आवश्यकता देखी। चौदहवेंमें तत्संबंधी प्रयत्नवादकी थोड़ी छानबीन की। रजोगुण और तमोगुणका निग्रहपूर्वक त्याग करें, सत्त्वगुणका विकास करके उसकी आसक्तिको जीत लें, उसके फलका त्याग करें—इस तरह यह प्रयत्न करना है। अन्तमें कहा गया कि इन प्रयत्नोंके सोलहों आने सफल होनेके लिए आत्म-ज्ञानकी आवश्यकता है और आत्म-ज्ञान बिना भक्तिके संभव नहीं।

परन्तु भक्ति-मार्ग प्रयत्न-मार्गसे भिन्न नहीं है। यही सूचित करनेके लिए इस पन्द्रहवें अध्यायके आरंभमें ही संसारको एक महान् वृक्षकी उपमा दी गयी है। इस वृक्षमें त्रिगुणोंसे पोषित प्रचंड शाखाएँ फूटी हैं। आरंभमें ही यह कह दिया है कि अनासक्ति और वैराग्यरूपी शस्त्रोंसे इस वृक्षको काटना चाहिए। स्पष्ट है कि पिछले अध्यायमें जो साधन-मार्ग

बताया गया है, वही फिर आरंभमें यहाँ दुहराया गया है। रज-तमको मिटाना और सत्त्वगुणकी पुष्टिद्वारा अपना विकास कर लेना है। एक काम विनाशक है, दूसरा विधायक। दोनोंको मिलाकर मार्ग एक ही होता है। घास-फूस काटना और बीज बोना—दोनों एक ही क्रियाके दो अंग हैं। वैसी ही यह बात है। रामायणमें रावण, कुंभकर्ण और बिभीषण, ये तीन भाई हैं। कुंभकर्ण तमोगुण है, रावण रजोगुण है, बिभीषण सत्त्वगुण है। हमारे शरीरमें इन तीनोंकी रामायण रची जा रही है। इस रामायणमें रावण और कुंभकर्णका तो नाश ही विहित है। रहा केवल बिभीषण-तत्त्व। यदि वह हरिचरण-शरण हो जाय, तो उन्नतिका साधक और पोषक हो सकेगा। इसलिए वह अपनाने जैसा है। हमने चौदहवें अध्यायमें इस चीजको समझ लिया है। इस पंद्रहवें अध्यायके आरंभमें फिर वही बात आयी है। सत्त्व-रज-तमसे भरे संसारको असंगरूपी शस्त्रसे छेद डालो। रज-तमका निरोध करो। सत्त्वगुणका विकास करके पवित्र बनो और उसकी आसक्तिको जीतकर अलिप्त रहो। कमलका यह आदर्श भगवद्गीता प्रस्तुत कर रही है। भारतीय संस्कृतिमें जीवनकी आदर्श वस्तुओंकी, उत्तमोत्तम वस्तुओंकी कमलसे उपमा दी गयी है। कमल भारतीय संस्कृतिका प्रतीक है। उत्तमोत्तम विचार प्रकट करनेका चिह्न कमल है। कमल स्वच्छ और पवित्र होकर भी अलिप्त रहता है। पवित्रता और अलिप्तता, ऐसी दुहरी शक्ति कमलमें है। भगवान्‌के भिन्न-भिन्न अवयवोंकी कमलसे उपमा देते हैं। नेत्र-कमल, पद-कमल, कर-कमल, मुख-कमल, नाभि-कमल, हृदय-कमल, शिरः-कमल आदि उपमाओंके द्वारा यह भाव हमारे हृदयमें अंकित किया है कि सर्वत्र सौंदर्य और पावित्र्यके साथ ही अलिप्तता है।

पिछले अध्यायमें बतायी साधनाको पूर्णतापर पहुँचानेके लिए यह अध्याय लिखा गया है। प्रयत्नमें जब आत्म-ज्ञान और भक्ति मिल जाय, तो फिर पूर्णता आ जायगी। भक्ति प्रयत्न-मार्गका ही एक भाग है। आत्म-ज्ञान और भक्ति उसी साधनाके अंग हैं। वेदोंमें ऋषि कहते हैं—

यो जागार तं ऋचः कामयन्ते ,
यो जागार तमु सामानि यन्ति ।

"जो जाग्रत रहते हैं, उनसे वेद प्रेम करते हैं, उनसे भेंट करनेके लिए वे आते हैं।" अर्थात् जो जाग्रत है, उसके पास वेदनारायण आते हैं। उसके पास ज्ञान आता है, भक्ति आती है। प्रयत्न-मार्गमें ज्ञान और भक्ति पृथक् नहीं हैं। इस अध्यायमें यही दिखाना है कि ये दोनों तत्त्व प्रयत्नमें मधुरता लानेवाले हैं। अतः एकाग्रचित्तसे भक्ति-ज्ञानका यह स्वरूप श्रवण कीजिये।

(८३) भक्तिसे प्रयत्न सुकर होता है

मैं जीवनके टुकड़े नहीं कर सकता। कर्म, ज्ञान और भक्तिको मैं पृथक्-पृथक् नहीं कर सकता, न ये पृथक् हैं ही। उदाहरणके लिए इस जेलके रसोईके कामको ही देखिये। पाँच-सात सौ मनुष्योंकी रसोई बनानेका काम अपनेमेंसे कुछ लोग करते हैं। यदि इनमें कोई ऐसा मनुष्य हो, जो रसोई बनानेका ठीक-ठीक ज्ञान न रखता हो, तो वह रसोई बिगाड़ देगा। रोटियाँ कच्ची रह जायँगी या जल जायँगी। परंतु यहाँ हम यह मानकर चलें कि रसोई बनानेका उत्तम ज्ञान है; फिर भी यदि उस व्यक्तिके हृदयमें उस कर्मके प्रति प्रेम न हो, भक्तिका भाव न हो, ये रोटियाँ मेरे भाइयोंको अर्थात् नारायणको ही मिलनेवाली हैं, इन्हें अच्छी तरह बेलना और सेंकना चाहिए, यह प्रभुकी सेवा है—ऐसा भाव उसके हृदयमें न हो, तो पूर्वोक्त ज्ञान रहनेपर भी वह इस कामके लिए उपयुक्त नहीं सिद्ध होगा। इस रसोई-कामके लिए जैसे ज्ञान आवश्यक है, वैसे ही प्रेम भी। भक्ति-तत्त्वका रस हृदयमें न हो, तो रसोई सरस नहीं बन सकती। इसीलिए तो बिना माँकी रसोई फीकी रहती है। माँके सिवा कौन इस कामको इतनी आस्थासे, प्रेम-भावसे करेगा? फिर इसके लिए तपस्या भी चाहिए। ताप सहन किये बिना, कष्ट उठाये बिना यह काम होगा कैसे? इससे यह सिद्ध होता है कि किसी भी कामको सफल बनानेके लिए प्रेम, ज्ञान और कर्म—तीनों चीजोंकी

जरूरत है। जीवनके सारे कर्म इन तीन गुणोंपर खड़े हैं। तिपाईका यदि एक पाँव भी टूट जाय, तो वह खड़ी नहीं रह सकती! तीनों पाँव चाहिए। उसके नाममें ही उसका रूप निहित है। यही हाल जीवनका है। ज्ञान, भक्ति और कर्म अर्थात् श्रम-सातत्य, ये जीवनके तीन पाँव हैं। इन तीनों खंभोंपर जीवनरूपी द्वारका खड़ी करनी है। ये तीन पाँव मिलाकर एक ही वस्तु बनती है। इसपर तिपाईका दृष्टांत अक्षरशः लागू होता है। तर्कके द्वारा भले ही आप भक्ति, ज्ञान और कर्मको पृथक् मानिये, परन्तु प्रत्यक्ष रूपसे इन्हें पृथक् नहीं किया जा सकता। तीनों मिलकर एक ही विशाल वस्तु बनती है।

ऐसा होनेपर भी यह बात नहीं कि भक्तिमें विशेष गुण न हो। किसी भी कर्ममें जब भक्ति-तत्त्व मिलेगा, तभी वह सुलभ लगेगा। 'सुलभ लगने' का अर्थ यह नहीं कि कष्ट होंगे ही नहीं। उसका अर्थ यही है कि वे कष्ट 'कष्ट' नहीं मालूम होंगे, उलटे आनंदरूप मालूम होंगे। शूल फूल जैसे प्रतीत होंगे। भक्ति-मार्ग सरल है, इसका तात्पर्य भी क्या है? यही कि भक्ति-भावके कारण कर्मका बोझ नहीं मालूम होता। कर्मकी कठिनता चली जाती है। कितना ही कर्म करो, वह न किये-सा मालूम होता है। भगवान् ईसामसीह एक जगह कहते हैं— "यदि तू उपवास करता है, तो चेहरेपर उपवासके चिह्न न दिखने चाहिए; बल्कि गालोंपर सुगन्धित पदार्थ लगे हों, ऐसा चेहरा प्रफु-ल्लित और आनन्दित दीखना चाहिए। उपवाससे कष्ट हो रहा है, ऐसा न दिखना चाहिए।" सारांश यह कि वृत्ति इतनी भक्तिमय, तल्लीन हो जानी चाहिए कि कष्ट भूल जायँ। हम कहते हैं न कि "फलाँ बहादुर, देश-भक्त हँसते-हँसते फाँसीपर चढ़ गया। सुधन्वा तेलकी कढ़ाईमें हँस रहा था। मुँहसे कृष्ण, विष्णु, हरि, गोविंदकी ध्वनि निकल रही थी।" इसका इतना ही अर्थ है कि अपार कष्ट आ पड़नेपर भी भक्तिके प्रभावसे वे कुछ भी न मालूम हुए। पानीपर पड़ी हुई नावको धकेलना कठिन नहीं है; परन्तु यदि उसीको धरतीपरसे, चट्टानोंपरसे खींचकर ले जाना हो, तो कितनी मेहनत पड़ेगी? नावके

नीचे यदि पानी होगा, तो हम सहज ही तर जायँगे। इसी तरह हमारी जीवन-नौकाके नीचे यदि भक्तिरूपी पानी होगा, तो वह आनंदसे खेयी जा सकेगी। परंतु यदि जीवन शुष्क होगा, रास्तेमें रेत पड़ी होगी, कंकड़-पत्थर होंगे, खड्डे-खाई होंगी, तो इस नौकाको खींचकर ले जाना बड़ा विकट काम हो जायगा। भक्ति-तत्त्व हमारी जीवन-नौकाको पानीकी तरह सुलभता प्राप्त करा देता है।

भक्ति-मार्गसे साधनामें सुलभता आ जाती है, परंतु आत्मज्ञानके बिना सदाके लिए त्रिगुणोंके उस पार जानेकी आशा नहीं। तो फिर आत्म-ज्ञानके लिए साधन क्या? यही कि सत्त्व-सातत्यसे सत्त्वगुणको आत्मसात् करके उसका अहंकार और भक्तिके द्वारा उसके फलकी आसक्ति जीतनेका प्रयत्न! इस साधनाके द्वारा सतत, अखंड प्रयत्न करते हुए एक दिन आत्मदर्शन हो जायगा। तबतक हमारे प्रयत्नका अंत नहीं आ सकता। यह परम पुरुषार्थकी बात है। आत्मदर्शन कोई हँसी-खेल नहीं है। रास्ते चलते यों ही आत्मदर्शन हो जायगा—ऐसा नहीं है। उसके लिए सतत प्रयत्नकी धारा बहानी होगी। परमार्थ-मार्गकी शर्त ही यह है कि "मैं निराशाको तिलमात्र जगह न दूँ। क्षणभर भी मैं निराश होकर न बैठूँ।" इसके सिवा परमार्थका दूसरा साधन नहीं है। कभी-कभी साधक थक जाता है और कहने लगता है—

तुव कारन तप संयम किरिया
कहो कहाँ लौं कीजै।

"भगवन्, मैं तुम्हारे लिए कहाँतक तप करता रहूँ?" परंतु यह कहना गौण है। तप और संयमका हम इतना अभ्यास कर लें कि वे हमारा स्वभाव ही बन जायँ। 'कहाँतक साधन करते रहें', यह भाषा भक्तिमार्गमें शोभा नहीं देती। भक्ति कभी भी अधीर-भाव, निराशाभाव पैदा नहीं होने देगी। जी ऊबने जैसी कोई बात उसमें न होनी चाहिए। भक्तिमें उत्तरोत्तर उल्लास और उत्साह मालूम होता रहे, इसके लिए बहुत सुन्दर विचार इस अध्यायमें बताया गया है।

(८४) सेवाकी त्रिपुटि : सेव्य, सेवक, सेवा-साधन

इस विश्वमें हमें अनंत वस्तुएँ दिखाई देती हैं। इनके तीन भाग करें। जब कोई भक्त सुबह उठता है, तो तीन ही चीजें उसकी आँखोंके सामने आती हैं। पहले उसका ध्यान भगवान्‌की तरफ जाता है। तब वह उनकी पूजाकी तैयारी करता है। मैं सेवक भक्त, वह सेव्य भगवान्, स्वामी—ये दो चीजें उसके पास सदैव तैयार रहती हैं। अब रही बाकी सृष्टि, सो वह है उसकी पूजाका साधन। फूल, गंध, धूप-दीप इनके लिए यह सारी सृष्टि है। तीन ही चीजें हैं—सेवक भक्त, सेव्य परमात्मा और सेवा-साधनके रूपमें यह सृष्टि। यही शिक्षा इस अध्यायमें दी गयी है। परंतु जो सेवक किसी एक मूर्तिकी पूजा करता है, उसे सृष्टिके सब पदार्थ पूजाके साधन नहीं मालूम होते। वह बगीचेसे चार फूल तोड़कर लाता है, कहींसे अगरबत्ती ले आता है। वह कुछ नैवेद्य लगा देता है। वह चुनकर, छाँटकर ही चीजें लेना चाहता है; परंतु पंद्रहवें अध्यायमें जो विशाल सीख दी गयी है, उसमें यह चुनाव करनेकी जरूरत नहीं है। जो कुछ भी तपस्याके साधन हैं, कर्मके साधन हैं, वे सब परमेश्वरकी सेवाके साधन हैं। उनमेंसे कुछको हम फूल कहेंगे, कुछको गंध और कुछको नैवेद्य। इस तरह जितने भी कर्म हैं, उन सबको पूजा-द्रव्य बना देना है। ऐसी यह दृष्टि है। बस, संसारमें सिर्फ ये तीन ही चीजें हैं। गीता जिस वैराग्यमय साधन-मार्गको हमारे मनपर अंकित करना चाहती है, उसीको वह भक्तिमय स्वरूप दे रही है। उसमेंसे कर्मत्व हटा रही है और उसमें सुलभता ला रही है।

आश्रममें जब किसीको बहुत ज्यादा काम करना पड़ता है, तब उसके मनमें यह विचार ही कभी नहीं आता—"मैं ही क्यों ज्यादा काम करूँ ?" इस बातमें बड़ा सार है। पूजा करनेवालेको यदि दोकी जगह चार घंटे पूजा करनेको मिले, तो क्या वह उकताकर ऐसा कहेगा—"अरे राम, आज तो चार घंटा पूजा करनी पड़ी !" बल्कि

उससे उसे अधिक ही आनंद मालूम होगा। आश्रममें ऐसा अनुभव होता है। यही अनुभव हमें जीवनमें सर्वत्र होना चाहिए। जीवन सेवा-परायण हो जाना चाहिए। वह सेव्य पुरुषोत्तम, उसकी सेवाके लिए सदैव तत्पर मैं अक्षर-पुरुष हूँ। 'अक्षर-पुरुष' का अर्थ है, कभी भी न थकनेवाला, सृष्टिके आरम्भसे लेकर सेवा करनेवाला सनातन सेवक। जैसे हनुमान् रामके सामने सदैव हाथ जोड़कर खड़े ही हैं। उन्हें आलस्य छूतक नहीं गया है। हनुमान्की तरह ही चिरंजीव यह सेवक तत्पर खड़ा है।

ऐसे आजन्म सेवकका ही नाम अक्षर-पुरुष है। 'परमात्मा' यह संस्था जीवित है और मैं उसका सेवक भी सदैव कायम हूँ। प्रभु कायम हैं, तो मैं भी कायम हूँ। देखें, वह सेवा लेते हुए थकता है या मैं सेवा करता हुआ? यदि उसने दस अवतार लिये हैं, तो मेरे भी दस अवतार हुए हैं। वह राम हुआ तो मैं हनुमान्, वह कृष्ण हुआ तो मैं उद्धव। जितने उसके अवतार, उतने ही मेरे भी। लगने दो ऐसी मीठी होड़! परमेश्वरकी इस तरह युग-युग सेवा करनेवाला, कभी नाश न पानेवाला यह जीव अक्षर-पुरुष है। वह पुरुषोत्तम स्वामी और मैं उसका बंदा, सेवक। यह भावना एक-सी हृदयमें रखनी चाहिए। और यह प्रतिक्षण बदलनेवाली, अनंत रूपोंसे सजनेवाली सृष्टि, इसे पूजा-साधन, सेवाका साधन बनाना है। प्रत्येक क्रिया मानो पुरुषोत्तमकी पूजा ही है।

सेव्य परमात्मा—पुरुषोत्तम, सेवक जीव—अक्षर-पुरुष; परंतु यह साधन-रूप सृष्टि क्षर है। इस 'क्षर' होनेमें बड़ा अर्थ है। सृष्टिका यह दूषण नहीं, भूषण है। इससे सृष्टिमें नित्य-नवीनता है। कलके फूल आज काम नहीं दे सकते। वे निर्माल्य हो गये। सृष्टि नाशवान् है, यह बड़े भाग्यकी बात है। यह सेवाका वैभव है। रोज नवीन फूल सेवाके लिए तैयार मिलता है। उसी तरह मैं यह शरीर भी नया-नया धारण करके परमेश्वरकी सेवा करूँगा। अपने साधनोंको मैं नित्य नवीनरूप दूँगा और उन्हींसे उसकी पूजा करूगा। इस नश्वरताके

कारण यह सौंदर्य है। चंद्रकी कला जो आज है, वह कल नहीं। चंद्रका नित्य नया लावण्य है, दूजके उस वर्धमान चन्द्रको देखकर कितना आनंद होता है। शंकरके ललाटपर उस द्वितीयाके चन्द्रकी शोभा प्रकट है। अष्टमीके चंद्रमाका सौंदर्य कुछ और ही होता है। उस दिन आकाशमें चुने-चुने मोती ही दिखाई देते हैं। पूर्णिमाको चंद्रमाके तेजसे तारे नहीं दीखते। पूर्णिमाको परमेश्वरका मुख-चंद्र दीखता है। अमावास्याका आनंद तो बड़ा गंभीर होता है। उस रात्रिमें कितनी निस्तब्ध शांति छायी रहती है। चंद्रमाके जालिम प्रकाशके हट जानेसे छोटे-बड़े अगणित तारे पूरी आजादीसे खुलकर चमकते रहते हैं। अमावास्याको स्वतंत्रता पूर्णरूपसे विलास करती है। अपने तेजकी शान दिखानेवाला चंद्रमा आज वहाँ नहीं है। अपने प्रकाशदाता सूर्यसे वह आज एकरूप हो गया है। वह परमेश्वरमें मिल गया है। उस दिन मानो वह दिखाता है कि जीव खुद आत्मार्पण करके किस तरह संसारको जरा भी दुःख न पहुँचाये। चंद्रका स्वरूप क्षर है, परिवर्तन-शील है; परंतु वह भिन्न-भिन्न रूपमें आनंद देता है।

सृष्टिकी जो नश्वरता है, वही उसकी अमरता है। सृष्टिका रूप छलछल वह रहा है। यह रूप-गंगा यदि बहती न रहे, तो उसका एक डबरा बन जायगा। नदीका पानी अखंडरूपसे बहता रहता है। वह सतत बदलता रहता है। एक बूँद गयी, दूसरी आयी। वह पानी जीवित रहता है। वस्तुमें जो आनंद मालूम होता है, वह उसकी नवीनताके कारण। ग्रीष्म ऋतुमें परमात्माको और तरहके फूल चढ़ाये जाते हैं। वर्षा ऋतुमें हरी-हरी दूब चढ़ायी जाती है। शरद् ऋतुमें सुरम्य कमलके पुष्प चढ़ाते हैं। तत्तत् ऋतु-कालोद्भव फल-पुष्पों-से भगवान्‌की पूजा की जाती है। इसीसे वह पूजा जगमग और नित्य नूतन प्रतीत होती है। उससे जी नहीं ऊबता। छोटे बच्चेको जब 'क' लिखकर कहते हैं कि "इसपर हाथ फेरो, इसे मोटा बनाओ", तो यह क्रिया उसे उबा देनेवाली मालूम होती है। वह समझ नहीं पाता कि इसे मोटा क्यों बनाया जाता है। वह पेंसिल आड़ी करके उसे जल्दी

मोटा बना देता है। परन्तु फिर वह नये अक्षरोंको, उनके समुदायको देखता है। तरह-तरहकी पुस्तकें पढ़ने लगता है। साहित्यिक नानाविध सुमन-मालाका अनुभव उसे होता है, तब उसे अपार आनंद मालूम होता है। यही बात सेवा-प्रांतकी है। साधनोंकी नित्य नवीनतासे सेवा-की उमंग बढ़ती है। सेवा-वृत्तिका विकास होता है।

सृष्टिकी यह नश्वरता नित्य नये पुष्प खिला रही है। गाँवके निकट श्मशान है, इसीसे गाँव रमणीक मालूम होता है। पुराने लोग जा रहे हैं, नये बालक जन्म ले रहे हैं। सृष्टि नित्य नवीन बढ़ रही है। बाहरका वह श्मशान यदि मिटा दोगे, तो वह घरमें आकर बैठ जायगा। तुम ऊब उठोगे उन्हीं-उन व्यक्तियोंको रोज-रोज देखकर। गर्मियोंमें गर्मी पड़ती है। पृथ्वी तपती है; परन्तु इससे तुम घबराओ नहीं। यह रूप बदल जायगा। वर्षाका सुख लेनेके लिए यह तपन आवश्यक है। यदि जमीन खूब तपी न होगी, तो पानी बरसते ही कीचड़ हो जायगा। फिर तृण-धान्य उसमें नहीं सजने पायेंगे। मैं एक बार गर्मियोंमें घूम रहा था। सिर तप रहा था। बड़ा आनंद आ रहा था। एक मित्रने मुझसे कहा—"सिर गरम हो जायगा, तो तकलीफ होगी।" मैंने कहा—"नीचे जमीन भी तो तप रही है। इस मिट्टीके पुतलेको भी जरा तपने दो।" अहा—इधर सिर तपा हुआ हो, उधर पानीकी फुहारें पड़ने लगें—तो कैसा आनन्द होता है! परन्तु जो गर्मियोंमें तपता नहीं, वह पानी बरसनेपर भी अपनी पुस्तकमें सिर घुसाकर बैठा रहेगा। अपने कमरेमें, उस कब्रमें ही घुसा रहेगा। बाहरके इस विशाल अभिषेक-पात्रके नीचे खड़ा रहकर आनंदसे नाचेगा नहीं; परन्तु हमारे वे महर्षि मनु बड़े रसिक और सृष्टि-प्रेमी थे। वे स्मृतिमें लिखते हैं—"जब पानी बरसने लगे, तो छुट्टी कर दो।" जब वर्षा हो रही हो, तो क्या आश्रममें बैठे पाठ घोखते रहें? वर्षामें तो नाचना-गाना चाहिए। सृष्टिसे एकरूपता स्थापित करनी चाहिए। वर्षामें पृथ्वी और आकाश एक-दूसरेसे मिलते हैं। यह भव्य दृश्य कितना आनंददायी होता है—यह सृष्टि स्वतः हमें शिक्षा दे रही है।

सारांश, सृष्टिकी क्षरता, नश्वरताका अर्थ है—साधनोंकी नवीनता। इस तरह यह नव-नव-प्रसवा साधनदात्री सृष्टि, कमर कसकर सेवाके लिए खड़ा सनातन सेवक और वह सेव्य परमात्मा। अब चलने दो खेल। वह परम पुरुष पुरुषोत्तम नये-नये विचित्र सेवा-साधन देकर मुझसे प्रेममूलक सेवा ले रहा है। नाना प्रकारके साधन देकर वह मुझे खिला रहा है। मुझसे तरह-तरहके प्रयोग करा रहा है। यदि हमें जीवनमें ऐसी दृष्टि आ जाय, तो कितना आनंद मिले।

(८५) अहं-शून्य सेवाका ही अर्थ भक्ति

गीता चाहती है कि हमारी प्रत्येक कृति भक्तिमय हो। हम जो घड़ी, आध-घड़ी ईश्वरकी पूजा करते हैं, सो तो ठीक ही है। सुबह-शाम जब सुन्दर सूर्य-प्रभा अपना रङ्ग छिटकाती है, तब चित्तको स्थिर करके घंटा, आध-घंटा संसारको भूल जाना और अनंतका चिंतन करना उत्तम विचार है। इस सदाचारको कभी न छोड़ना चाहिए। परन्तु गीताको इतनेसे संतोष नहीं है। सुबहसे शामतककी सारी क्रियाएँ भगवान्‌की पूजाके लिए होनी चाहिए। नहाते, खाते, सफाई करते उसका स्मरण रहना चाहिए। झाड़ते समय यह भावना होनी चाहिए कि मैं अपने प्रभु, अपने जीवन-देवका आँगन साफ कर रहा हूँ। हमारे समस्त कर्म इस तरह पूजा-कर्म हो जाने चाहिए। यदि यह दृष्टि आ जाय तो फिर देखियेगा, आपके व्यवहारमें कितना अंतर पड़ जाता है। हम कितनी सावधानीसे पूजाके लिए फूल चुनते हैं, उन्हें जतनसे डलिया-में सँभालकर रखते हैं, वे दब न जायँ, कुचल न जायँ, कुम्हला न जायँ, इसका कितना ध्यान रखते हैं? कहीं मलिन न हो जायँ, इस खयालसे उन्हें नाकके पास नहीं ले जाते। यही दृष्टि, यही भावना हमारे जीवनके प्रतिदिनके कर्मोंमें हो जानी चाहिए। अपने इस गाँवमें मेरे पड़ोसीके रूपमें मेरा नारायण, मेरा प्रभु ही तो रम रहा है। इस गाँवको मैं साफ-सुथरा, निर्मल रखूँगा। गीता हमें यह दृष्टि देना चाहती है।

हमारे सभी कर्म प्रभु-पूजा ही हो जायँ, इस बातका गीताको बड़ा शौक है। गीता जैसे ग्रंथराजको घड़ी, आध-घड़ीकी पूजासे समाधान नहीं। सारा जीवन हरिमय होना चाहिए, पूजारूप होना चाहिए, यह गीताकी उत्कट इच्छा है।

गीता पुरुषोत्तम-योग बताकर कर्ममय जीवनको पूर्णतापर पहुँचाती है। वह सेव्य पुरुषोत्तम, मैं उसका सेवक और सेवाके साधनरूप यह सारी सृष्टि—यदि इस बातका दर्शन हमें एक बार हो जाय, तो फिर और क्या चाहिए? तुकाराम कह रहे हैं—

झालिया दर्शन करीन मी सेवा।
आणिक कांहीं देवा न लगे दुजें॥

दर्शन हो गया तो सेवा करूँगा। मुझे और कुछ नहीं चाहिए, प्रभो!॥

फिर तो अखंड सेवा ही होती रहेगी। तब 'मैं' जैसा कुछ रहेगा ही नहीं। मैं—मेरापन सब पुछ जायगा, जो होगा सब परमात्माके लिए। पर-हितार्थ जीनेके सिवा दूसरा विषय ही नहीं रहेगा। गीता बार-बार यही कह रही है कि मैं अपनेपनमेंसे मैं-पनको निकालकर हरिपरायण जीवन बनाऊँ, भक्तिमय जीवन रचूँ। सेव्य परमात्मा, मैं सेवक और साधनरूप यह सृष्टि! परिग्रहका नाम ही कहाँ रहा? जीवनमें अब किसी बातकी चिंता ही नहीं रही।

(८६) ज्ञान-लक्षण : मैं पुरुष, वह पुरुष, वह भी पुरुष

अबतक हमने देखा कि इस तरह कर्ममें भक्तिका योग करना चाहिए; परन्तु उसमें ज्ञान भी चाहिए, नहीं तो गीताको संतोष न होगा। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि ये तीनों चीजें भिन्न-भिन्न हैं, केवल बोलनेके लिए हम भिन्न-भिन्न भाषा बोलते हैं। कर्मका अर्थ ही है भक्ति। भक्ति कोई अलगसे लाकर कर्ममें मिलानी नहीं पड़ती। यही बात ज्ञानकी है। यह ज्ञान मिलेगा कैसे? गीता कहती है—"सर्वत्र पुरुष-दर्शनसे।" तुम सेवा करनेवाले सनातन सेवक—तुम सेवा-पुरुष,

वह पुरुषोत्तम सेव्य पुरुष और नानारूपधारिणी, नानासाधनदायिनी, प्रवाहमयी वह सृष्टि, वह भी पुरुष ही !

ऐसी दृष्टि रखनेका अर्थ क्या ? सर्वत्र त्रुटिरहित निर्मल सेवा-भाव रखना ! तुम्हारे पैरकी चप्पल चर्र-चूं बज रही है, जरा उसे तेल दे दो। उसमें भी परमात्माका ही अंश है, अतः उसे सँभालकर रखो। यह सेवाका साधन चर्खा, इसमें भी तेल डालो। देखो, यह आवाज दे रहा है। 'नेति-नेति'—'सूत नहीं कातूँगा'—कहता है। यह चर्खा—यह सेवा-साधन—भी पुरुष ही है। इसकी माल, इसका यह जनेऊ भली प्रकार रखो। सारी सृष्टिको चैतन्यमय मानो। इसे जड़ मत समझो। ॐकारका सुंदर गान करनेवाला यह चर्खा क्या जड़ है ? यह तो परमात्माकी मूर्ति ही है। भाद्रपदकी अमावस्याको हम अहंकार छोड़कर बैलकी पूजा* करते हैं। बड़ी भारी बात है यह। रोज अपने मनमें इस उत्सवका ध्यान रख करके, बैलोंको अच्छी हालतमें रखकर उनसे उचित काम लेना चाहिए। उत्सवके दिनकी भक्ति उसी दिन समाप्त न होनी चाहिए। बैल भी परमात्माकी ही मूर्ति है। वह हल, खेतीके सब औजार अच्छी हालतमें रखो। सेवाके सभी साधन पवित्र होते हैं। कितनी विशाल है यह दृष्टि ! पूजा करनेका अर्थ यह नहीं कि गुलाल, गंधाक्षत और फूल चढ़ायें। उन बरतनोंको काँचकी तरह साफ-सुथरा रखना बरतनोंकी पूजा है। दीपकको स्वच्छ करना दीपक-पूजा है। हसियेको तेज करके घास काटनेके लिए तैयार रखना उसकी पूजा है। दरवाजेका कब्जा जंग खाये, तो उसे तेल लगाकर संतुष्ट कर देना उसकी पूजा है। जीवनमें सर्वत्र इस दृष्टिसे काम लेना चाहिए। सेवा-द्रव्य उत्कृष्ट और निर्मल रखना चाहिए। सारांश यह कि मैं अक्षर-पुरुष, वह पुरुषोत्तम और साधन-रूप यह सृष्टि, वह भी पुरुष ही, परमात्मा ही। सर्वत्र एक ही चैतन्य रम रहा है—जब यह दृष्टि आ गयी, तो समझ लो कि हमारे कर्ममें ज्ञान भी आ गया।

---

* महाराष्ट्रका विशिष्ट त्योहार, जिसे 'पोळा' कहा जाता है।

पहले कर्ममें भक्तिका पुट दिया, अब ज्ञानका भी योग कर दिया, तो जीवनका एक दिव्य रसायन बन गया। गीताने हमें अंतमें अद्वैतमय सेवाके रास्तेपर लाकर छोड़ दिया। इस सारी सृष्टिमें जहाँ देखिये, तीन पुरुष विद्यमान हैं। एक ही पुरुषोत्तमने ये तीन रूप धारण किये हैं। तीनोंको मिलाकर वास्तवमें एक ही पुरुष है। केवल अद्वैत है। यहाँ गीताने हमें सबसे ऊँचे शिखरपर लाकर छोड़ दिया है। कर्म, भक्ति, ज्ञान, सब एकरूप हो गये। जीव, शिव, सृष्टि, सब एकरूप हो गये। कर्म, भक्ति और ज्ञानमें कोई विरोध नहीं रह गया। ज्ञानदेवने 'अमृतानुभव' में महाराष्ट्रका प्रिय दृष्टांत दिया है—

देव देऊळ परिवारु । कीजें कोरूनि डोंगरु ।
तैसा भक्तीचा वेव्हारु । कां न होआवा ।।
—पर्वत कुरेदकर देव, मन्दिर, परिवार बनाया
भक्तिका ऐसा आचार क्यों न हो ?

एक ही पत्थरको कुरेदकर उसीका मंदिर, उस मंदिरमें पत्थरकी गढ़ी हुई भगवान्की मूर्ति और उसके सामने पत्थरका ही भक्त, उसके पास पत्थरके ही बनाये हुए फल, ये सब जैसे एक ही पत्थरकी चट्टान खोद-काटकर बनाते हैं—एक ही अखंड पत्थर अनेक रूपोंमें सजा हुआ है, वैसा ही भक्तिके व्यवहारमें भी क्यों न होना चाहिए ? स्वामि-सेवक-संबंध रहकर भी एकता क्यों नहीं हो सकती ? यह बाह्य सृष्टि, यह पूजा-द्रव्य पृथक् होते हुए भी आत्मरूप क्यों न बन जाय ? तीनों पुरुष एक ही तो हैं। ज्ञान, कर्म, भक्ति, इन तीनोंको मिलाकर एक विशाल जीवन-प्रवाह बना दिया जाय, ऐसा यह परिपूर्ण पुरुषोत्तम-योग है। स्वामी, सेवक और सेवा-द्रव्य सब एकरूप ही हैं; अब भक्ति-प्रेमका खेल खेलना है।

ऐसा यह पुरुषोत्तम-योग जिसके हृदयमें अंकित हो जाय, वही सच्ची भक्ति करता है।

स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत।

ऐसा पुरुष ज्ञानी होकर भी सोलहों आना भक्त रहता है। जिसमें ज्ञान है, उसमें प्रेम तो है ही। परमेश्वरका ज्ञान और परमेश्वरका प्रेम, ये दो अलग चीजें नहीं हैं। 'करैला कड़आ' ऐसा ज्ञान हो, तो उसके प्रति प्रेम नहीं उत्पन्न होता। एकआध अपवाद हो सकता है; परन्तु जहाँ कड़एपनका अनुभव हुआ कि जी ऊबा। पर मिश्रीका ज्ञान होते ही वह गलने लगता है। तुरन्त ही प्रेमका स्रोत उमड़ पड़ता है। परमेश्वरके विषयमें ज्ञान होना और प्रेम उत्पन्न होना, दोनों बातें एक ही हैं। परमेश्वरके रूपकी मधुरताकी उपमा क्या रही शक्करसे दी जाय? उस मधुर परमेश्वरका ज्ञान होते ही उसी क्षण प्रेमभाव भी पैदा हो जायगा। यही मानिये कि ज्ञान होना और प्रेम होना, ये दोनों मानो भिन्न क्रियाएँ ही नहीं हैं। अद्वैतमें भक्तिको स्थान है या नहीं, इस बहसमें कुछ नहीं रखा है। ज्ञानदेव कहते हैं—

हें चि भक्ति हें चि ज्ञान।
एक विठ्ठल चि जाण॥

'वही भक्ति है, वही ज्ञान है। एक विट्ठलको ही जान।'
भक्ति और ज्ञान एक ही वस्तुके दो नाम हैं।

जीवनमें परम भक्तिका संचार हो जानेपर जो कर्म होगा, वह भक्ति और ज्ञानसे अलग नहीं रहता। कर्म, भक्ति और ज्ञान मिलकर एक ही रमणीय रूप बन जाता है। इस रमणीय रूपसे अद्भुत प्रेममय, ज्ञानमय सेवा सहज ही उत्पन्न होती है। माँपर मेरा प्रेम है, किंतु यह प्रेम कर्मके द्वारा प्रकट होना चाहिए। प्रेम सदैव मरता, खपता रहता है, सेवारूपमें व्यक्त होता रहता है। प्रेमका बाह्य रूप है सेवा। प्रेम अनंत सेवा-कर्मके द्वारा सजकर नाचता है। प्रेम हो तो फिर ज्ञान भी वहाँ आ जाता है। जिसकी सेवा मुझे करनी है, उसे कौन-सी सेवा प्रिय होगी, इसका ज्ञान मुझे होना चाहिए, नहीं तो यह सेवा अ-सेवा या कु-सेवा हो रहेगी। सेव्य वस्तुका ज्ञान प्रेमको होना चाहिए। प्रेमका प्रभाव कार्यद्वारा फैलानेके लिए ज्ञानकी आवश्यकता

है; परन्तु उसके मूलमें प्रेम होना चाहिए। वह न हो तो ज्ञान निरुपयोगी हो जाता है। प्रेमके द्वारा होनेवाला कर्म मामूली कर्मसे भिन्न होता है। खेतसे थके-माँदे आये लड़केपर माँ सहज प्रेमकी दृष्टि डालती और कहती है—"बेटा, थक गये हो", परन्तु इस छोटे कर्ममें, देखिये तो कितनी सामर्थ्य है। अपने जीवनके समस्त कर्मोंमें ज्ञान और भक्तिको ओतप्रोत कीजिये। यही पुरुषोत्तम-योग कहलाता है।

(८७) सर्व-वेद-सार मेरे ही हाथोंमें

यह सब वेदोंका सार है। वेद अनन्त हैं; परंतु उन अनंत वेदोंका सार-संक्षेप यह पुरुषोत्तम-योग है। ये वेद हैं कहाँ? वेदोंकी बात विचित्र है। वेदोंका सार है कहाँ? अध्यायके प्रारंभमें ही कहा है—'पत्र हैं जिसके वेद।' भाई, वेद तो इस वृक्षके एक-एक पत्तेमें भरे हुए हैं। वेद उन संहिताओंमें, आपके ग्रंथों और पोथियोंमें छिपे हुए नहीं हैं। वे विश्वमें सर्वत्र फैले हैं। शेक्सपियर कहता है—

"बहते हुए झरनोंमें सद्ग्रंथ मिलते हैं, पत्थरों-चट्टानोंसे प्रवचन सुनाई पड़ते हैं।" सारांश यह कि वेद न संस्कृतमें हैं, न संहिताओंमें, वे सृष्टिमें हैं। सेवा करो तो वे दिखाई देंगे। 'प्रभाते करदर्शनम्'—सुबह उठते ही अपनी हथेली देखनी चाहिए। सारे वेद उसी हाथमें हैं। वह वेद कहता है, "सेवा करो।" कल हाथने काम किया था या नहीं, आज करने योग्य है या नहीं, उसमें कामके घट्टे पड़े हैं या नहीं, यह देखिये। सेवा करके जब हाथ घिस जाता है, तो फिर ब्रह्मलिखित खुलता है, यह अर्थ है 'प्रभाते करदर्शनम्' का।

पूछते हैं, वेद कहाँ हैं? भाई, तुम्हारे पास ही तो हैं। शंकराचार्यके लिए कहते हैं कि उन्हें आठवें वर्ष ही सारे वेदोंका ज्ञान हो गया था। बेचारे शंकराचार्य तो थे मंद-बुद्धि। उन्हें आठ वर्ष लग गये! परन्तु हमें-तुम्हें तो जन्मतः ही वे प्राप्त हैं। आठ वर्षोंकी भी क्या जरूरत? मैं खुद ही जीता-जागता वेद हूँ। अबतककी सारी परम्परा मुझमें आत्मसात् हुई है। मैं उस परम्पराका फल हूँ। उस वेद-

बीजका जो फल है, वही तो मैं हूँ। अपने फलमें मैंने अनंत वेदोंका बीज संचित कर रखा है। मेरे उदरमें वेद पाँच-पचास गुना बड़े हो गये हैं। सारांश, वेदोंका सार हमारे हाथोंमें है। सेवा, प्रेम और ज्ञान-की नींवपर हमें जीवन गढ़ना होगा। इसीका अर्थ है, वेद हाथोंमें हैं। मैं जो अर्थ करूँगा, वही वेद होगा, वेद कहीं बाहर नहीं है। सेवामूर्ति संत कहते हैं—वेदांचा तो अर्थ आम्हांसी च ठावा। 'वेदोंका जो अर्थ है, वह एक हमीं जानते हैं।' भगवान् कह रहे हैं—"सारे वेद मुझे ही जानते हैं। मैं ही सब वेदोंका अर्क, सार, पुरुषोत्तम हूँ।" यह जो वेदोंका सार पुरुषोत्तम-योग है, उसे यदि हम अपने जीवनमें आत्मसात् कर सकें, तो कितना आनन्द हो! तो फिर ऐसा पुरुष जो कुछ करता है, उसमेंसे वेद ही प्रकट होते हैं, ऐसा गीता सुझाती है। इस अध्यायमें सारी गीताका सार आ गया है। गीताकी शिक्षा इसमें पूर्णरूपसे प्रकट हुई है। उसे अपने जीवनमें उतारनेका हमें रात-दिन प्रयत्न करना चाहिए। और क्या?

रविवार, २९-५-'३२

सोलहवाँ अध्याय

परिशिष्ट १—दैवी और आसुरी वृत्तियोंका झगड़ा

(८८) पुरुषोत्तम-योगकी पूर्वप्रभा : दैवी सम्पत्ति

गीताके पहले पाँच अध्यायोंमें हमने देखा कि जीवनकी सारी योजना क्या है और हम अपना जन्म सफल कैसे कर सकते हैं। उसके बाद छठे अध्यायसे ग्यारहवें अध्यायतक हमने भक्तिका भिन्न-भिन्न प्रकारसे विचार किया। ग्यारहवें अध्यायमें भक्तिका दर्शन हुआ। बारहवेंमें सगुण और निर्गुण भक्तिकी तुलना करके भक्तके महान् लक्षण देखे। बारहवें अध्यायके अंततक कर्म और भक्ति, इन दोनों तथ्योंकी छानबीन हुई। ज्ञानका तीसरा विभाग रह गया था, उसे हमने तेरहवें, चौदहवें और पंद्रहवें अध्यायोंमें देख लिया—आत्माको देहसे अलग करना और उसके लिए तीनों गुणोंको जीतकर अंतमें सर्वत्र प्रभुको देखना। पंद्रहवें अध्यायमें जीवनका संपूर्ण शास्त्र देख लिया। पुरुषोत्तम-योगमें जीवनकी पूर्णता होती है। उसके बाद फिर कुछ बाकी नहीं रहता।

कर्म, ज्ञान और भक्तिकी पृथक्ता मुझे सहन नहीं होती। कुछ साधकोंकी ऐसी निष्ठा होती है कि उन्हें केवल कर्म ही सूझता है। कोई भक्तिके स्वतंत्र मार्गकी कल्पना करते हैं और उसीपर सारा जोर देते हैं। कुछ लोगोंका झुकाव ज्ञानकी ओर होता है। जीवनका अर्थ केवल कर्म, केवल भक्ति, केवल ज्ञान—ऐसा 'केवल'-वाद मुझे माननेकी इच्छा नहीं होती। इसके विपरीत कर्म, भक्ति और ज्ञानके योगरूप समुच्चय-वादको भी मैं नहीं मानता। कुछ भक्ति, कुछ ज्ञान और कुछ कर्म, ऐसा उपयोगिता-वाद भी मुझे नहीं जँचता। पहले कर्म, फिर भक्ति, फिर ज्ञान, इस तरहके क्रम-वादको भी मैं नहीं स्वीकारता। तीनों वस्तुओंका मेल मिलाया जाय, ऐसा सामंजस्य-वाद भी मुझे पसंद नहीं है। मुझे तो अनुभव करनेकी इच्छा होती है कि जो कर्म है, वही भक्ति

है, वही ज्ञान है। बर्फीके एक टुकड़ेकी मिठास, उसका आकार और उसका वजन अलग-अलग नहीं हैं। जिस क्षण हम बर्फीका टुकड़ा मुँहमें डालते हैं, उसी क्षण उसका आकार भी हम खा लेते हैं। उसका वजन भी पचा लेते हैं और उसकी मिठास भी चख लेते हैं। तीनों बातें मिली-जुली हैं। बर्फीके प्रत्येक कणमें आकार, वजन और मधुरता है। यह नहीं कि उसके एक टुकड़ेमें केवल आकार है, दूसरेमें कोरी मिठास है और तीसरेमें सिर्फ वजन ही है। उसी तरह जीवनकी प्रत्येक क्रियामें परमार्थ भरा रहना चाहिए—प्रत्येक कृत्य सेवामय, प्रेममय और ज्ञानमय होना चाहिए। जीवनके अंग-प्रत्यंगमें कर्म, भक्ति और ज्ञान भरा रहना चाहिए, इसे पुरुषोत्तम-योग कहते हैं। सारे जीवनको केवल परमार्थमय ही बना डालना—यह बात कहनेमें तो बड़ी आसान है, परन्तु इस उच्चारणमें जो भाव है, उसका यदि विचार करने लगें, तो केवल निर्मल सेवा करनेके लिए अंतःकरणमें शुद्ध ज्ञान-भक्तिकी हार्दिकता गृहीत समझकर चलना होगा। इसलिए कर्म, भक्ति और ज्ञान अक्षरशः एकरूप हैं, इस परम दशाको पुरुषोत्तम-योग कहते हैं। यहाँ जीवनकी अंतिम सीमा आ गयी।

अब, आज इस सोलहवें अध्यायमें क्या कहा गया है? जिस प्रकार सूर्योदय होनेके पहले उसकी प्रभा फैलने लगती है, उसी तरह जीवनमें कर्म, भक्ति और ज्ञानसे पूर्ण पुरुषोत्तम-योगके उदय होनेके पहले सद्गुणोंकी प्रभा बाहर प्रकट होने लगती है। परिपूर्ण जीवनकी इस आगामी प्रभाका वर्णन इस सोलहवें अध्यायमें किया गया है। किस अंधकारसे झगड़कर यह प्रभा प्रकट होती है, उसका भी वर्णन इसमें किया गया है। अदृष्ट वस्तुकी सिद्धिके लिए हम कोई प्रत्यक्ष प्रतीक देखना चाहते हैं। सेवा, भक्ति और ज्ञान हमारे जीवनमें आ गये हैं, यह कैसे समझा जाय? खेतपर हम मेहनत करते हैं, तो उसके फलस्वरूप अनाजकी फसल हम तौल-नापकर घर ले आते हैं। इसी तरह हम जो साधना करते हैं, उससे हमें क्या-क्या अनुभव हुए, कितनी सद्वृत्तियाँ गहरी पैठीं, कितने सद्गुण प्रविष्ट हुए, जीवन सचमुच

सेवामय कितना हुआ, इसकी जाँच करनेकी ओर यह अध्याय संकेत करता है। जीवनकी कला कितनी बढ़ी और चढ़ी है, इसे नापनेके लिए यह अध्याय है। जीवनकी इस वृद्धिमती कलाको गीता 'दैवी-संपत्ति' का नाम देती है। इसके विरुद्ध जो वृत्तियाँ हैं, उन्हें 'आसुरी' कहा है। सोलहवें अध्यायमें दैवी और आसुरी संपत्तियोंका संघर्ष बताया गया है।

(८९) अहिंसाकी और हिंसाकी सेना

जिस तरह पहले अध्यायमें एक ओर कौरव-सेना और दूसरी ओर पांडव-सेना आमने-सामने खड़ी की है, उसी तरह यहाँ सद्गुणरूपी दैवी-सेना और दुर्गुणरूपी आसुरी-सेना एक-दूसरेके सामने खड़ी की है। बहुत प्राचीनकालसे मानवीय मनमें सदसत्-प्रवृत्तियोंका जो झगड़ा चलता है, उसका रूपकात्मक वर्णन करनेकी परिपाटी पड़ गयी है। वेदमें इंद्र और वृत्र, पुराणोंमें देव और दानव, वैसे ही राम और रावण, पारसियोंके धर्मग्रंथोंमें अहुरमज्द और अहरिमान, ईसाई मजहबमें प्रभु और शैतान, इसलाममें अल्लाह और इब्लीस—इस तरह-के झगड़े सभी धर्मग्रंथोंमें आते हैं। काव्यमें स्थूल और मोटे विषयोंका वर्णन सूक्ष्म वस्तुओंके रूपकोंके द्वारा किया जाता है, तो धर्मग्रंथोंमें सूक्ष्म मनोभावोंका वर्णन उन्हें ठोस स्थूलरूप देकर किया जाता है। काव्यमें स्थूलका सूक्ष्मद्वारा वर्णन किया जाता है, तो यहाँ सूक्ष्मका स्थूलके द्वारा। इससे यह नहीं सुझाना है कि गीताके आरम्भमें युद्धका जो वर्णन है, वह केवल काल्पनिक है। हो सकता है कि वह ऐति-हासिक घटना हो, परन्तु कवि यहाँ उसका उपयोग अपने इष्ट हेतुको सिद्ध करनेके लिए कर रहा है। कर्तव्यके विषयमें जब मनमें मोह पैदा हो जाता है, तब मनुष्यको क्या करना चाहिए, यह बात युद्धके एक रूपकके द्वारा समझायी गयी है। इस सोलहवें अध्यायमें भलाई और बुराईका झगड़ा बताया गया है। गीतामें युद्धका रूपक भी दिया गया है।

कुरुक्षेत्र बाहर भी है और हमारे भीतर भी। बारीकीसे देखा जाय, तो जो झगड़ा हमारे मनमें होता रहता है, वही हमें बाहरी

जगत्‌में मूर्तिमान् दिखाई देता है। बाहर जो शत्रु दीखता है, वह मेरे ही मनका विकार साकार होकर खड़ा है। दर्पणमें जिस प्रकार मेरा ही बुरा-भला प्रतिबिंब मुझे दीखता है, उसी तरह मेरे मनके बुरे-भले विचार मुझे बाहर शत्रु-मित्रके रूपमें दिखाई देते हैं। जैसे हम जाग्रतिकी ही बातें स्वप्नमें देखते हैं, वैसे ही जो हमारे मनमें है, वही हम बाहर देखते हैं। भीतरके और बाहरके युद्धमें कोई अन्तर नहीं है। सच पूछिये, तो असली युद्ध भीतर ही होता है।

हमारे अंतःकरणमें एक ओर सद्‌गुण, तो दूसरी ओर दुर्गुण खड़े हैं। उन्होंने अपनी-अपनी व्यूह-रचना व्यवस्थित कर रखी है। सेनामें जिस प्रकार सेनापति आवश्यक है, उसी प्रकार यहाँ भी सद्‌गुणोंने एक सेनापति बना रखा है। उसका नाम है 'अभय'। इस अध्यायमें 'अभय' को पहला स्थान दिया गया है। यह कोई आकस्मिक बात नहीं है। जान-बूझकर ही इस 'अभय' शब्दको पहला स्थान दिया होगा। बिना अभयके कोई भी गुण पनप नहीं सकता। सचाईके बिना सद्‌गुणका कोई मूल्य नहीं है, किन्तु सचाईके लिए निर्भयता आवश्यक है। भयभीत वातावरणमें सद्‌गुण फैल नहीं सकते; बल्कि उसमें वे भी दुर्गुण बन जायँगे, सत्प्रवृत्तियाँ भी कमजोर पड़ जायँगी। निर्भयता सब सद्‌गुणोंका नायक है; परन्तु सेनाको आगे-पीछे, दोनों तरफ सँभालना पड़ता है। सीधा हमला तो सामनेसे होता है, परन्तु पीछेसे चुपचाप चोर-हमला भी हो सकता है। सद्‌गुणोंके सामने 'अभय' खम ठोंककर खड़ा है, तो पीछेसे 'नम्रता' रक्षा कर रही है। इस तरह यह बड़ी सुन्दर रचना की गयी है। यहाँ कुल छब्बीस गुण बताये गये हैं। इनमें पचीस गुण प्राप्त हो जायँ और यदि कहीं उनका अहंकार हो जाय, तो पीछेसे एकाएक चोर-हमलेसे सारी कमाई खो जानेका भय है। इसीलिए पीछे 'नम्रता' नामक सद्‌गुण रखा गया है। यदि नम्रता न हो, तो यह जय कब पराजयमें परिणत हो जायगी, इसका पता भी नहीं चलेगा। इस तरह सामने 'निर्भयता' और पीछे 'नम्रता' को रखकर सब सद्‌गुणोंका विकास किया जा सकेगा। इन

दो महान् गुणोंके बीच जो चौबीस गुण रखे गये हैं, वे सब अधिकतर अहिंसाके ही पर्यायवाची हैं, ऐसा कहें तो अनुचित नहीं। भूत-दया, मार्दव, क्षमा, शांति, अक्रोध, अहिंसा, अद्रोह—ये सब अहिंसाके ही दूसरे नाम हैं। अहिंसा और सत्य, इन दो गुणोंमें इन सब सद्‌गुणोंका समावेश हो जाता है। सब सद्‌गुणोंका यदि संक्षेप किया जाय, तो अंतमें अहिंसा और सत्य, ये ही दो बाकी रह जायँगे। शेष सब सद्‌गुण इनके उदरमें समा जायँगे; परंतु निर्भयता और नम्रताकी बात अलग है। निर्भयतासे प्रगति की जा सकती है और नम्रतासे बचाव होता है। सत्य और अहिंसा, इन दो गुणोंकी पूँजी लेकर निर्भयतापूर्वक आगे बढ़ना चाहिए। जीवन विशाल है। उसमें हमें बेरोक संचार करते चले जाना चाहिए। पाँव गलत न पड़ जाय, इसके लिए सदा नम्र रहें, फिर कोई खतरा नहीं रह जाता। तब शौकसे सत्य-अहिंसाके प्रयोग सर्वत्र करते हुए आगे बढ़ सकते हैं। तात्पर्य यह कि सत्य और अहिंसाका विकास निर्भयता और नम्रताके द्वारा होता है।

एक ओर जहाँ सद्‌गुणोंकी फौज खड़ी है, वहाँ दूसरी ओर दुर्गुणोंकी भी फौज तैयार है। दंभ, अज्ञान आदि दुर्गुणोंके संबंधमें अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं है। इनसे हमारा नित्यका परिचय है। दंभके तो जैसे हम आदी हो गये हैं। सारा जीवन ही मानो दंभपर खड़ा किया गया है। अज्ञानके बारेमें कहा जाय, तो वह एक ऐसा मनोहर कारण बन गया है, जिसे हम पग-पगपर आगे कर देते हैं। मानो अज्ञान कोई बड़ा गुनाह ही न हो। परंतु भगवान् कहते हैं—"अज्ञान पाप है।" सुकरातने इससे उलटा कहा था। अपने मुकदमेके दौरानमें उसने कहा—"जिसको तुम पाप समझते हो, वह अज्ञान है और अज्ञान क्षम्य है। अज्ञानके बिना पाप हो ही कैसे सकता है और अज्ञानको तुम दण्ड कैसे दोगे?" परन्तु भगवान् कहते हैं—"अज्ञान भी पाप ही है।" कानूनमें कहा है कि कानूनका अज्ञान सफाईकी दलील नहीं हो सकती। ईश्वरीय कानूनका अज्ञान भी बहुत बड़ा अपराध है। भगवान्‌के और सुकरातके कथनका भावार्थ एक ही है। अपने

अज्ञानकी ओर किस दृष्टिसे देखना चाहिए, यह भगवान् बताते हैं, तो दूसरेके पापकी ओर किस दृष्टिसे देखना चाहिए, यह सुकरात बताता है। दूसरेके पाप क्षमा करने चाहिए, परन्तु अपने अज्ञानको भी क्षमा करना पाप है। अपना अज्ञान थोड़ा-सा भी शेष न रखना चाहिए।

(९०) अहिंसाके विकासकी चार मंजिल

इस तरह एक ओर दैवी संपत्ति और दूसरी ओर आसुरी संपत्ति—ऐसी दो सेनाएँ खड़ी हैं। इनमेंसे आसुरी संपत्तिको छोड़ना और दैवीको पकड़ लेना चाहिए। सत्य, अहिंसा आदि दैवी गुणोंका विकास अनादि कालसे होता आया है। बीचमें जो काल गया, उसमें भी बहुत कुछ विकास हुआ है। तो भी अभी विकासके लिए अवसर बहुत है। विकासकी मर्यादा समाप्त हो गयी हो, सो बात नहीं। जबतक हमें सामाजिक शरीर प्राप्त है, तबतक विकासके लिए हमें अनन्त अवकाश है। वैयक्तिक विकास हो जाय, फिर भी सामाजिक, राष्ट्रीय, जागतिक विकास शेष रहता ही है। व्यक्तिको अपने विकास-की खाद देकर फिर समाज, राष्ट्रके लाखों व्यक्तियोंके विकासकी शुरु-आत करनी होती है। जैसे मानवद्वारा अहिंसाका विकास अनादि कालसे हो रहा है, तो भी आज भी वह विकास-क्रिया जारी ही है।

अहिंसाका विकास किस तरह होता आया है, यह देखने लायक है। उससे यह समझमें आ जायगा कि पारमार्थिक जीवनका विकास उत्तरोत्तर किस तरह हो रहा है और उसे अभी कितना अवकाश है। पहले अहिंसक मानव यह विचार करने लगा कि हिंसक लोगोंके हमले-से कैसे बचाव किया जाय? शुरूमें समाजकी रक्षाके लिए क्षत्रिय-वर्ग बनाया गया; परन्तु वह आगे चलकर समाज-भक्षण करने लगा। तब अहिंसक ब्राह्मण यह विचार करने लगे कि उन्मत्त क्षत्रियोंसे समाजका बचाव कैसे किया जाय? परशुरामने स्वयं अहिंसक होकर भी हिंसाका अवलंबन किया। वे क्षत्रियोंका विनाश करने लगे। क्षत्रियोंसे हिंसा छुड़ानेके लिए वे स्वतः हिंसक बने। यह अहिंसाका ही प्रयोग

था, परन्तु सफल नहीं हुआ। उन्होंने इक्कीस बार क्षत्रियोंका संहार किया, फिर भी क्षत्रिय बच ही रहे, क्योंकि यह प्रयोग मूलमें ही गलत था। जिन क्षत्रियोंको नष्ट करने वे चले थे, उनमें एक और क्षत्रिय बढ़ गया। तो फिर वह क्षत्रिय-वर्ण नष्ट कैसे होता? वे स्वयं ही हिंसक क्षत्रिय बन गये। वह बीज तो कायम ही रहा। बीजको कायम रखकर जो झाड़-पेड़ तोड़ेगा, उसे वे पेड़ पुनः-पुनः पैदा हुए ही दीखेंगे। परशुराम थे भले आदमी, परन्तु उनका प्रयोग बड़ा विचित्र हुआ। स्वतः क्षत्रिय बनकर वे पृथ्वीको निःक्षत्रिय बनाना चाहते थे। वस्तुतः उन्हें अपनेसे ही प्रयोग शुरू करना चाहिए था। उन्हें चाहिए था कि पहले वे अपना ही सिर उड़ा देते। परन्तु मैं जो यहाँ परशुरामके दोष दिखा रहा हूँ, उसका यह अर्थ नहीं कि मैं उनसे ज्यादा बुद्धिमान् हूँ। मैं तो बच्चा हूँ, परन्तु उनके कंधेपर खड़ा हूँ, इससे मुझे अनायास ही अधिक दूरका दिखाई देता है। परशुरामके प्रयोगका आधार ही गलत था। हिंसामय होकर हिंसा दूर करना सम्भव नहीं। इससे उल्टे हिंसकोंकी संख्या ही बढ़ती है। परन्तु उस समय यह बात ध्यानमें नहीं आयी। उस समयके भले-भले आदमियोंने, परम अहिंसामय व्यक्तियोंने जैसा उन्हें सूझा, प्रयोग किया। परशुराम उस कालके महान् अहिंसावादी थे। हिंसाके उद्देश्यसे उन्होंने हिंसा नहीं की। अहिंसाकी स्थापनाके लिए उन्होंने हिंसा की।

वह प्रयोग असफल हो गया। बादमें रामका युग आया। उस समय फिर ब्राह्मणोंने विचार शुरू किया। उन्होंने हिंसा छोड़ दी थी और यह निश्चय किया था कि हम स्वयं हिंसा करेंगे ही नहीं। तब राक्षसोंके आक्रमणोंसे बचाव कैसे हो? उन्होंने सोचा कि ये क्षत्रिय हिंसा करनेवाले तो हैं ही, उन्हींसे राक्षसोंका संहार करा डालना चाहिए। काँटेसे काँटा निकाल डालना चाहिए। हम स्वतः दूर रहें। अतः विश्वामित्रने यज्ञ-रक्षणार्थ राम-लक्ष्मणको ले जाकर उनके द्वारा राक्षसोंका संहार करवाया। आज हम ऐसा सोचते हैं कि "जो अहिंसा स्वसंरक्षित नहीं है, जिसके अपने पाँव नहीं हैं, ऐसी

लंगड़ी-लूली अहिंसा खड़ी कैसे रहेगी ?" परन्तु वसिष्ठ, विश्वामित्र जैसोंको क्षत्रियोंके बलपर अपनी रक्षा करा लेनेमें कोई दोष या त्रुटि नहीं मालूम हुई। परन्तु यदि रामके जैसा क्षत्रिय न मिला होता तो ? विश्वामित्र कहते—"मैं भले ही मर जाऊँ, पर हिंसा नहीं करूँगा।" क्योंकि हिंसक बनकर हिंसा दूर करनेका प्रयोग हो चुका था। अब इतना तो निश्चित हो ही चुका था कि स्वयं अहिंसा नहीं छोड़ेंगे। यदि कोई क्षत्रिय नहीं मिला, तो अहिंसक मर जाना पसन्द करेंगे—यह भूमिका अब तैयार हो चुकी थी। अरण्यकांडमें एक प्रसंग है। राम पूछते हैं—"ये ढेर किस चीजके हैं ?" ऋषि कहते हैं—"ये ब्राह्मणोंकी हड्डियोंके ढेर हैं। अहिंसक ब्राह्मणोंकी हड्डियोंके ढेर हैं। अहिंसक ब्राह्मणोंने आक्रमणकारी हिंसक राक्षसोंका प्रतिकार नहीं किया। वे मर मिटे। उन्हींकी हड्डियोंके ये ढेर हैं।" इस अहिंसामें ब्राह्मणोंका त्याग तो था; परन्तु साथ ही दूसरोंसे अपने संरक्षणकी अपेक्षा भी वे रखते थे। ऐसी विवशतासे अहिंसा पूर्णताको नहीं पहुँच सकती थी।

संतोंने आगे चलकर तीसरा प्रयोग किया। उन्होंने निश्चय किया—"हम अपने बचावके लिए दूसरोंकी सहायता कदापि नहीं लेंगे। हमारी अहिंसा ही हमारा बचाव करेगी। ऐसा बचाव ही सच्चा बचाव होगा।" संतोंका यह प्रयोग व्यक्तिनिष्ठ था। इस व्यक्तिगत प्रयोगको उन्होंने पूर्णतातक पहुँचा दिया, परन्तु रहा यह व्यक्तिगत ही। समाजपर यदि हिंसक लोगोंके हमले होते और समाज संतोंसे आकर पूछता कि "अब क्या करें ?", तो शायद संत उसका निश्चित उत्तर न दे पाते। व्यक्तिगत जीवनमें परिपूर्ण अहिंसा ले आनेवाले वे संत समाजसे यही कहते—"भाई, हम लाचार हैं।" संतोंकी इस प्रकार कमी बताना मेरा बाल-साहस है, परन्तु उनके कंधेपर बैठकर मुझे जो कुछ दीखता है, वही मैं बता रहा हूँ। वे मुझे इसके लिए क्षमा करें और वे कर भी देंगे, क्योंकि उनकी क्षमा महान् है। अहिंसाके साधनद्वारा सामूहिक प्रयोग करनेकी उन्हें प्रेरणा नहीं हुई, ऐसा तो कह नहीं सकते; लेकिन उस समयकी परिस्थिति उन्हें शायद अनुकूल

न लगी हो। उन्होंने अपने लिए अलग-अलग प्रयोग किये; परन्तु ऐसे पृथक्-पृथक् किये हुए प्रयोगोंसे ही शास्त्रकी रचना होती है। सम्मिलित अनुभवोंसे शास्त्र बनता है।

संतोंके व्यक्तिगत प्रयोगके बाद आज हम चौथा प्रयोग कर रहे हैं। वह है—सारा समाज मिलकर अहिंसात्मक साधनोंसे हिंसाका प्रतिकार करे। इस तरह चार प्रयोग अबतक हुए हैं। प्रत्येक प्रयोगमें अपूर्णता थी और है। विकास-क्रममें यह बात अपरिहार्य ही है। परन्तु यह तो कहना ही होगा कि उस-उस कालके लिए वे-वे प्रयोग पूर्ण ही थे और दस हजार सालके बाद आजके इस हमारे अहिंसक युद्धमें भी बहुत कुछ हिंसाका भाग दिखाई देगा। शुद्ध अहिंसाके और प्रयोग होते ही रहेंगे। ज्ञान, कर्म और भक्तिका ही नहीं, सभी सद्गुणोंका विकास हो रहा है। पूर्ण वस्तु एक ही है। वह है परमात्मा। भगवद्गीताका पुरुषोत्तम-योग पूर्ण है, परन्तु व्यक्ति और समुदायके जीवनमें अभी उनका पूर्ण विकास होना बाकी है। वचनोंका भी विकास होता है। ऋषि मन्त्रोंके द्रष्टा समझे जाते थे, कर्ता नहीं; क्योंकि उन्हें मंत्रोंका जो अर्थ दीखा, वही उसका अर्थ हो, सो बात नहीं। उन्हें उनका एक दर्शन हुआ। उसके बाद हमें उसका और विकसित अर्थ दीख सकता है। उनसे यदि हमें कुछ अधिक दीख जाता है, तो यह हमारी विशेषता नहीं है; क्योंकि उन्हींके आधारपर हम आगे बढ़ते हैं। मैं यहाँ अहिंसाके ही विकासकी जो बात कर रहा हूँ, वह इसलिए कि यदि हम सब सद्गुणोंका साधारण रूपसे सार निकालें, तो वह 'अहिंसा' ही निकलेगा। और दूसरे, हम आज अहिंसात्मक युद्धमें ही पड़े हुए हैं। इस तरह हमने देखा कि इस तत्त्वका विकास कैसे हो रहा है।

(९१) अहिंसाका एक महान् प्रयोग : मांसाहार-परित्याग

अबतक हमने अहिंसाका एक यह पहलू देखा कि यदि हिंसकोंके हमले हों, तो अहिंसक अपना बचाव कैसे करें? व्यक्तियोंके पारस्परिक झगड़ोंमें अहिंसाका विकास किस तरह हो रहा है, यह हमने

देखा। किन्तु झगड़ा तो मनुष्य और पशुमें भी हो रहा है। मनुष्य अभीतक अपने आपसके झगड़े मिटा नहीं पाया। पशुको पेटमें ठूसकर वह जी रहा है, अपने झगड़े वह अभीतक मिटा नहीं पाता, अपनेसे हीन कोटिके दुर्बल पशुओं—जीवों—को खाये बिना वह जी नहीं सकता। हजारों वर्ष जीकर भी किस तरह जीयें, इसका विचार अभीतक मनुष्यने नहीं किया। मनुष्यको मनुष्यकी तरह जीना आता नहीं; परन्तु अब और इस बातका भी विकास हो रहा है। एक समय था, जब मनुष्य केवल पशुओंपर ही अपना निर्वाह करता था। परन्तु जो उत्तम और बुद्धिमान् व्यक्ति थे, उन्हें यह नहीं जँचा। उन्होंने यह प्रतिबन्ध लगाया कि यदि मांस ही खाना हो, तो यज्ञमें बलि दिये गये पशुओंका ही मांस खाना चाहिए। इसमें हेतु यह था कि हिंसा रुके। बहुतोंने तो पूर्ण रूपसे मांस छोड़ दिया; परन्तु जो पूरा-पूरा मांस नहीं छोड़ सकते थे, उन्हें यह अनुमति दी गयी कि वे उसे यज्ञमें परमेश्वरको अर्पण करें, कुछ तपस्या करें, तब खायें। उस समय यह माना गया था कि 'यज्ञमें ही मांस खा सकते हैं' ऐसा प्रतिबन्ध लगा देनेसे हिंसा रुक जायगी; परंतु बादमें यज्ञ एक सामान्य-क्रम बन गया। ऐसा होने लगा कि जो चाहता, यज्ञ करता और मांस खाता। तब भगवान् बुद्ध आगे बढ़े। उन्होंने कहा—"तुम्हें मांस खाना हो तो खाओ, परंतु भगवान्‌का नाम लेकर तो मत खाओ।" इन दोनों वचनोंका हेतु एक ही था—हिंसाकी रोक हो, गाड़ी किसी-न-किसी तरह संयमके मार्गपर आये। यज्ञ-याग करो या न करो—दोनोंसे हमने मांसाशनका त्याग ही सीखा। इस तरह हम धीरे-धीरे मांस-भक्षण छोड़ते गये।

संसारके इतिहासमें अकेले भारतवर्षमें ही यह महान् प्रयोग हुआ। करोड़ों लोगोंने मांस खाना छोड़ दिया। आज हम मांस नहीं खाते हैं, इसमें हमारा कोई बड़प्पन नहीं है। पूर्वजोंकी पुण्याई-से हम इसके आदी हो गये हैं। परंतु पहलेके ऋषि मांस खाते थे, ऐसा यदि हम पढ़ें या सुनें, तो हमें आश्चर्य मालूम होता है। "क्या

चकते हो? ऋषि मांस खाते थे? कभी नहीं।" परंतु मांसाशन करते हुए उन्होंने संयम करके उसका त्याग किया है, इसका श्रेय उन्हें है। उन कष्टोंका अनुभव आज हमें नहीं होता। उनकी पुण्याई मुफ्तमें हमें मिल गयी।

भवभूतिके 'उत्तररामचरित' में एक प्रसंग आया है। वाल्मीकि-आश्रममें वसिष्ठ ऋषि आये। उनके स्वागतमें एक छोटा गायका बछड़ा मारा गया, तो एक छोटा लड़का बड़े लड़केसे पूछता है—"आज हमारे आश्रममें एक दाढ़ीवाला बाघ आया है। उसने हमारा बछड़ा खा डाला न?" बड़ा लड़का उत्तर देता है—"अरे, वे तो वसिष्ठ ऋषि हैं। ऐसा मत बक।" पहले वे मांसाशन करते थे और आज हम नहीं करते—इसका अर्थ यह नहीं कि हम आज उनसे बड़े हो गये हैं। उनके अनुभवका लाभ हमें अनायास ही मिल गया है। हमें उनके इस अनुभवका विकास करना चाहिए। हमें दूध बिलकुल ही छोड़ देनेका भी प्रयोग करना चाहिए। मनुष्य अन्य जीवोंका दूध पीये, यह बात भी तो हीनताकी है। दस हजार वर्ष बाद लोग हमारे विषयमें कहेंगे—"क्यों हमारे पूर्वजोंको दूध पीनेका व्रत लेना पड़ा था? राम-राम, वे दूध पीते कैसे होंगे? ऐसे वे जंगली थे!" सारांश यह कि हमें निडर होकर, नम्रतापूर्वक अपने प्रयोग करते हुए निरंतर आगे बढ़ते जाना चाहिए। सत्यका क्षितिज विशाल करते जाना चाहिए। विकासके लिए अभी पर्याप्त अवकाश है। किसी भी गुणका पूर्ण विकास नहीं हो पाया है।

(९२) आसुरी शक्तिकी तेहरी महत्त्वाकांक्षा : सत्ता, संस्कृति और सम्पत्ति

हमें दैवी संपत्तिका विकास करना है और आसुरी संपदासे दूर रहना है। आसुरी संपत्तिका वर्णन भगवान्‌ने इसीलिए किया है कि हम उससे दूर रह सकें। इसमें कुल तीन बातें मुख्य हैं। असुरोंके चरित्रका सार 'सत्ता, संस्कृति और संपत्ति' में है। वे कहते हैं—एक हमारी ही संस्कृति उत्कृष्ट है और उनकी महत्त्वाकांक्षा होती है कि वही सारे संसारपर लादी जाय। हमारी ही संस्कृति क्यों लादी

जाय ? तो कहते हैं—वही सबसे अच्छी है। अच्छी क्यों है ? क्योंकि वह हमारी है। चाहे आसुरी व्यक्ति हों, चाहे असुरोंसे बने साम्राज्य हों, उनके लिए ये तीन चीजें आवश्यक हैं।

ब्राह्मण भी तो ऐसा ही समझते हैं कि हमारी संस्कृति सर्वश्रेष्ठ है। सारा ज्ञान हमारे वेदोंमें भरा हुआ है। वैदिक संस्कृतिकी विजय सारे संसारमें होनी चाहिए। 'अग्रतश्चतुरो वेदान् पृष्ठतः सशरं धनुः'—इस तरह सज्ज होकर सारी पृथ्वीपर अपनी संस्कृतिका झंडा फहराओ। परन्तु पीठपर जहाँ 'सशरं धनुः' रहा, तो फिर आगे हाथमें रखे बेचारे वेदोंकी समाप्ति ही समझिये। मुसलमान भी तो ऐसा ही समझते हैं कि कुरानशरीफमें जितना कुछ लिखा है, वही सच है। ईसाई भी ऐसा ही मानते हैं। अन्य धर्मका मनुष्य कितना ही उच्च कोटिका क्यों न हो, वह जबतक ईसामसीहपर विश्वास नहीं लाता, तबतक उसे स्वर्ग मिलनेवाला नहीं। भगवान्‌के मंदिरका उन्होंने केवल एक ही दरवाजा रखा है, वह है ईसामसीहवाला। लोग तो अपने घरोंमें अनेक दरवाजे और खिड़कियाँ लगाते हैं; परन्तु बेचारे भगवान्‌के मंदिरमें केवल एक ही दरवाजा रखते हैं।

कुलीन मी चि संपन्न, माझी जोडी कुठें असे।

—मैं ही कुलीन हूँ, मैं ही श्रीमंत हूँ, मेरे जोड़ का कहीं कोई नहीं है।

—सब यही मानते हैं। मैं कौन ? भारद्वाज-कुलका। मेरी यह परंपरा अबाधित रूपसे चल रही है। यही हाल पश्चिमीय लोगोंका है। कहते हैं, हमारी नसोंमें नार्मन लोगोंका रक्त बहता है ! हमारे यहाँ गुरु-परम्परा है न ? मूल आदि-गुरु हैं शंकर। फिर ब्रह्मदेव या और कोई, फिर नारद, व्यास, फिर कोई और ऋषि, फिर बीचमें दस-पाँच नाम आते हैं, बादमें अपने गुरुका नाम और फिर मैं—ऐसी परम्परा बतायी जाती है। इस वंशावलिसे यह सिद्ध किया जाता है कि हम श्रेष्ठ, हमारी संस्कृति श्रेष्ठ। भाई, यदि आपकी संस्कृति सचमुच ही श्रेष्ठ है, तो उसे अपने आचरणमें दीखने दो न ! अपने जीवनमें उसको

प्रभा फैलने दो न ! परन्तु ऐसा नहीं होता । जो संस्कृति स्वयं हमारे जीवनमें नहीं है, हमारे घरमें नहीं है, उसे संसारभरमें फैलानेकी आकांक्षा रखना—इस विचार-सरणिको आसुरी कहते हैं ।

फिर जैसे मेरी संस्कृति सुन्दर है, वैसे ही यह विचार भी है कि संसारकी सारी संपत्ति रखनेके योग्य भी मैं ही हूँ । संसारकी सारी संपत्ति मुझे चाहिए और मैं उसे प्राप्त करूँगा ही । वह संपत्ति किसलिए प्राप्त करनी है ? तो सबमें समान रूपसे बाँटनेके लिए । इसके लिए मैं स्वतः अपनेको धन-संपत्तिमें गाड़ लेता हूँ । अकबरने यही तो कहा था—"ये राजपूत अभी मेरे साम्राज्यमें क्यों नहीं दाखिल होते ? एक साम्राज्य बनेगा, शांति स्थापित होगी ।" वह प्रामाणिक रूपसे ऐसा मानता था । वर्तमान असुरोंकी भी ऐसी ही धारणा है कि सारी सम्पत्ति बटोरनी है । क्यों ? उसे फिर सबमें बाँटनेके लिए !

उसके लिए मुझे सत्ता चाहिए । सारी सत्ता एक हाथमें केन्द्रीभूत होनी चाहिए । सारी दुनिया मेरे तंत्रमें आ जानी चाहिए । स्व-तंत्र—मेरे तंत्र—के अनुसार चलनी चाहिए । जो कुछ मेरे अधीन होगा, जो मेरे तंत्रके अनुसार चलेगा, वही स्व-तंत्र । इस तरह संस्कृति, सत्ता और संपत्ति—इन तीन मुख्य बातोंपर आसुरी संपत्तिमें जोर दिया जाता है ।

एक समय ऐसा था, जब समाजमें ब्राह्मणोंका प्रभुत्व था । शास्त्र वे लिखते, कानून वे बनाते, राजा उनके समक्ष नतमस्तक होते । वह युग बदला । क्षत्रियोंका युग आया । घोड़े छोड़े जाने लगे, दिग्विजय किये जाने लगे । यह क्षत्रिय-संस्कृति भी आयी और चली गयी । ब्राह्मण कहता—"मैं विद्या देनेवाला, दूसरे लेनेवाले, मेरे सिवा गुरु कौन ?" ब्राह्मणोंको अपनी संस्कृतिका अभिमान था । क्षत्रियोंका जोर सत्तापर था—"आज इसे मारा, कल उसे मारूँगा ।" इस बातपर उनका सारा जोर रहता था । फिर वैश्योंका युग आया । "पीठपर मारो, पर पेटपर मत मारो ।" इसमें वैश्योंका सारा तत्त्वज्ञान है, पेटकी सारी अक्ल ! "यह धन मेरा और वह भी मेरा हो जायगा"—यही जप और यही

संकल्प ! अंग्रेज हमें कहते हैं न—"स्वराज्य चाहिए तो ले लो, परन्तु हमारा तैयार माल बेचनेकी सुविधा, सहूलियतें हमें दे दो, फिर भले ही अपनी संस्कृतिका अध्ययन करते रहो। लँगोटी लगाओ और अपनी संस्कृतिको लिये बैठे रहो।" आजकल जो युद्ध होते हैं, वे व्यापारके लिए ही। यह युग भी जायगा, जानेका आरम्भ भी हो गया है। इस तरह ये सब आसुरी संपत्तिके प्रकार हैं।

(९३) काम-क्रोध-मुक्तिका शास्त्रीय संयम-मार्ग

हम आसुरी संपत्तिको दूर हटाते रहें। संक्षेपमें कहें, तो आसुरी संपत्तिका अर्थ है—"काम, क्रोध, लोभ।" ये ही तीनों सारे संसारको नचा रहे हैं। अब इस नृत्यको समाप्त करो। हमें यह छोड़ देना ही चाहिए। क्रोध और लोभ कामसे पैदा होते हैं। कामके अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न होनेसे लोभ पैदा होता है और प्रतिकूलता आनेसे क्रोध। गीतामें पद-पदपर यह कहा है कि इन तीनोंसे बचते रहो। सोलहवें अध्यायमें अंतमें यही कहा है—काम, क्रोध और लोभ, ये ही नरकके तीन बड़े द्वार हैं। इनमें बहुत बड़ा आवागमन होता है। अनेक लोग आते-जाते हैं। नरकका रास्ता खूब चौड़ा है। उसमें मोटरें चलती हैं, बहुतेरे साथी भी रास्तेमें मिल जाते हैं; परंतु सत्यकी राह सँकरी है।

तो अब, इन काम, क्रोध, लोभसे बचें कैसे ? संयम-मार्ग अंगीकार करके। शास्त्रीय संयमका पल्ला पकड़ लेना चाहिए। संतोंका अनुभव ही शास्त्र है। प्रयोग द्वारा जो अनुभव संतोंको हुए, उन्हींसे शास्त्र बनता है। इस संयम-सिद्धांतका हाथ पकड़ो। व्यर्थकी शंका-कुशंका मत रखो। कृपा करके ऐसा तर्क, ऐसी शंका मत लाइये कि यदि काम-क्रोध हट गये, तो फिर संसारका क्या हाल होगा, वह तो चलना ही चाहिए, क्या थोड़े-से भी काम-क्रोध न रहने चाहिए ? भाइयो, काम-क्रोध पहलेसे ही भरपूर हैं। आपको जितने चाहिए, उससे भी कहीं अधिक हैं। फिर क्यों व्यर्थमें बुद्धि-भेद पैदा करते हैं ? काम, क्रोध, लोभ आपकी इच्छासे रत्तीभर अधिक ही हैं। यह चिंता न करें कि काम नर

जायगा, तो संतति कैसे पैदा होगी ? आप चाहे कितनी ही संतति पैदा करें, एक दिन ऐसा आनेवाला है, जब पृथ्वीपरसे मनुष्यका नाम सर्वथा मिट जायगा। वैज्ञानिकोंका ऐसा कहना है। पृथ्वी धीरे-धीरे ठंढी होती जा रही है। एक समय पृथ्वी अत्यंत उष्ण थी। तब उसपर जीवधारी नहीं रहते थे। जीव पैदा ही नहीं हुआ था। एक समय ऐसा आ जायगा कि पृथ्वी अत्यंत ठंढी हो जायगी और सारी जीव-सृष्टिका लय हो जायगा। इस बातमें लाखों वर्ष लग जायँगे। आप कितनी ही संतान-वृद्धि क्यों न करें, अंतमें प्रलय निश्चित है। परमेश्वर जो अवतार लेता है, सो धर्म-संरक्षणके लिए, संख्या-संरक्षणके लिए नहीं। जबतक एक भी धर्मपरायण मनुष्य है, एक भी पाप-भीरु और सत्यनिष्ठ मनुष्य है, तबतक कोई चिंता नहीं। उसकी ओर ईश्वरकी दृष्टि बनी रहेगी। जिनका धर्म मर चुका है, ऐसे हजारों लोगोंका जीवित रहना, न रहना बराबर है।

इन सब बातोंपर ध्यान रखकर सृष्टिमें ढंगसे रहिये, संयमसे चलिये। मनमानी न करिये। 'लोक-संग्रह' का अर्थ यह नहीं कि लोग जैसा कहें, वैसा किया जाय। मनुष्योंका संघ बढ़ाते जाना, संपत्तिका ढेर इकट्ठा करते जाना—यह सुधार नहीं है। विकास संख्यापर अवलंबित नहीं है। समाज यदि बेशुमार बढ़ने लगेगा, तो लोग एक-दूसरेका खून करने लग जायँगे। पहले पशु-पक्षियोंको खाकर मनुष्य मत्त बनेगा। फिर अपने बाल-बच्चोंको खाने लगेगा। काम-क्रोधमें कुछ सार है, यह बात यदि मान लें, तो फिर अंतमें मनुष्य मनुष्यको फाड़ खायेगा, इसमें तिलमात्र संदेह नहीं है। लोक-संग्रहका अर्थ है, सुन्दर और विशुद्ध नीति-मार्ग लोगोंको दिखाना। काम-क्रोधसे मुक्त हो जानेपर यदि पृथ्वीसे मनुष्यका लोप हो जायगा, तो वह मंगल (ग्रह) में उत्पन्न हो जायगा। आप चिंता न करें। अव्यक्त परमात्मा सब जगह व्याप्त है। वह हमारी चिंता कर लेगा। अतः पहले हम मुक्त हो लें। आगे बहुत दूर देखनेकी जरूरत नहीं है। सारी सृष्टि और मानव-जातिकी चिंता न करो। तुम अपनी नैतिक शक्ति बढ़ाओ, काम-क्रोधका

पल्ला झाड़कर फेंक दो। आपुला तूं गळा घेईं उगवूनि।—'पहले अपना गळा तो छुड़ा लो।' तुम्हारी गर्दन जो फँस रही है, पहले उसे तो छुड़ा लो। इतना कर लें, तो बड़ा काम बने।

संसार-समुद्रसे दूर किनारे खड़े रहकर समुद्रकी मौज देखनेमें आनंद है। जो समुद्रमें डूब रहा है, जिसकी आँख-नाकमें पानी भर रहा है, उसे समुद्रसे क्या आनंद है ? संत समुद्र-तटपर खड़े रहकर आनंद लूटते हैं। संसारसे अलिप्त रहनेकी इस संत-वृत्तिका जीवनमें संचार हुए बिना आनंद नहीं। अतः कमल-पत्रकी तरह अलिप्त रहो। बुद्धने कहा है—"संत महान् पर्वतके शिखरपर खड़े रहकर नीचे संसारकी ओर देखते हैं, तब उन्हें संसार क्षुद्र मालूम होता है।" आप भी ऊपर चढ़कर देखिये, तो फिर यह विशाल विस्तार क्षुद्र दिखाई देगा। फिर संसारमें मन ही नहीं लगेगा।

सारांश, भगवान्ने इस अध्यायमें आग्रहपूर्वक कहा है कि आसुरी संपत्तिको हटाकर दैवी संपत्ति प्राप्त करो। आइये, हम ऐसा ही यत्न करें।

रविवार, ५-६-'३२

सत्रहवाँ अध्याय

परिशिष्ट २—साधकका कार्यक्रम

(९४) सुबद्ध व्यवहारसे वृत्ति मुक्त होती है।

प्यारे भाइयो, हम धीरे-धीरे अन्ततक पहुँचते आ रहे हैं। पंद्रहवें अध्यायमें हमने जीवनके संपूर्ण शास्त्रका अवलोकन किया। सोलहवें अध्यायमें एक परिशिष्ट देखा। मनुष्यके मनमें और उसके मनके प्रतिबिंबस्वरूप समाजमें, दो वृत्तियों, दो संस्कृतियों अथवा दो संपत्तियों-का झगड़ा चल रहा है। इनमेंसे हमें दैवी संपत्तिका विकास करना चाहिए, यह शिक्षा हमें सोलहवें अध्यायके परिशिष्टसे मिली है। आज सत्रहवें अध्यायमें हमें दूसरा परिशिष्ट देखना है। एक दृष्टिसे कह सकते हैं कि इसमें कार्य-क्रम-योग कहा गया है। गीता इस अध्यायमें रोजके कार्यक्रमकी सूचना दे रही है। आजके अध्यायमें हमें नित्य-क्रियापर विचार करना है।

अगर हम चाहते हैं कि हमारी वृत्ति मुक्त और प्रसन्न रहे, तो हमें अपने व्यवहारका एक क्रम बाँध लेना चाहिए। हमारा नित्यका कार्य-क्रम किसी-न-किसी निश्चित आधारपर चलना चाहिए। मन तभी मुक्त रह सकता है, जब कि हमारा जीवन उस मर्यादामें और उस निश्चित नियमित रीतिसे चलता रहे। नदी स्वच्छंदतासे बहती है; परन्तु उसका प्रवाह बँधा हुआ है। यदि वह बद्ध न हो, तो उसकी मुक्तता व्यर्थ चली जायगी। ज्ञानी पुरुषका उदाहरण अपनी आँखोंके सामने लाओ। सूर्य ज्ञानी पुरुषोंका आचार्य है। भगवान्ने पहले-पहल कर्म-योग सूर्यको सिखाया, फिर सूर्यसे मनुको अर्थात् विचार करनेवाले मनुष्यको वह प्राप्त हुआ। सूर्य स्वतंत्र और मुक्त है। वह नियमित है—इसीमें उसकी स्वतंत्रताका सार है। यह हमारे अनुभवकी बात है कि हमें एक निश्चित रास्तेसे घूमने जानेकी आदत है, तो रास्तेकी ओर ध्यान न देते हुए भी मनसे विचार करते हुए हम घूम सकते हैं।

यदि घूमनेके लिए हम रोज-रोज नये रास्ते निकालते रहेंगे, तो सारा ध्यान उन रास्तोंमें ही लगाना पड़ेगा। फिर मनको मुक्तता नहीं मिल सकती। सारांश यह कि हमें अपना व्यवहार इसीलिए बाँध लेना चाहिए कि जीवन एक बोझ-सा नहीं, बल्कि आनंदमय प्रतीत हो।

इसलिए भगवान् इस अध्यायमें कार्यक्रम बता रहे हैं। हम तीन संस्थाएँ साथ लेकर ही जन्म लेते हैं। मनुष्य इन तीनों संस्थाओंका कार्य भलीभाँति चलाकर अपना संसार सुखमय बना सके, इसीलिए गीता यह कार्यक्रम बताती है। वे तीन संस्थाएँ कौन-सी हैं? पहली संस्था है—हमारे आसपास लिपटा हुआ यह शरीर। दूसरी संस्था है—हमारे आसपास फैला हुआ यह विशाल ब्रह्मांड—यह अपार सृष्टि, जिसके हम एक अंश हैं। जिसमें हमारा जन्म हुआ वह समाज, हमारे जन्मकी प्रतीक्षा करनेवाले वे माता-पिता, भाई-बहन, अड़ोसी-पड़ोसी—यह हुई तीसरी संस्था। हम रोज इन तीन संस्थाओंका उपयोग करते हैं—इन्हें छिजाते हैं। गीता चाहती है कि हमारे द्वारा इन संस्थाओंमें जो छीजन आती है, उसकी पूर्तिके लिए हम सतत प्रयत्न करें और अपना जीवन सफल बनायें। इन संस्थाओंके प्रति हमारा यह जन्मजात कर्तव्य हमें निरहंकार भावनासे करना चाहिए।

इन कर्तव्योंको पूरा तो करना है; परन्तु उनकी पूर्तिकी योजना क्या हो? यज्ञ, दान और तप—इन तीनोंके योगसे ही वह योजना बनती है। यद्यपि इन शब्दोंसे हम परिचित हैं, तो भी इनका अर्थ हम अच्छी तरह नहीं समझते। अगर हम इनका अर्थ समझ लें और इन्हें अपने जीवनमें समाविष्ट करें, तो ये तीनों संस्थाएँ सफल हो जायँ और हमारा जीवन भी मुक्त और प्रसन्न रहे।

(९५) उसके लिए त्रिविध क्रियायोग

इस अर्थको समझनेके लिए पहले हम यह देखें कि 'यज्ञ' का अर्थ क्या है। सृष्टि-संस्थासे हम प्रतिदिन काम लेते हैं। सौ आदमी यदि

एक जगह रहते हैं, तो दूसरे दिन वहाँकी सारी सृष्टि दूषित दिखाई देने लगती है। वहाँकी हवा हम दूषित कर देते हैं, जगह गंदी कर देते हैं। अन्न खाते हैं और सृष्टिको भी छिजाते हैं। सृष्टि-संस्थाकी इस छीजनकी हमें पूर्ति करनी चाहिए। इसीलिए यज्ञ-संस्थाका निर्माण हुआ है। यज्ञका उद्देश्य क्या है? सृष्टिकी जो हानि हो गयी है, उसे पूरा करना ही यज्ञ है। आज हजारों वर्षोंसे हम जमीनें जोतते आ रहे हैं, उससे जमीनका कस कम होता जा रहा है। यज्ञ कहता है—"पृथ्वीको उसका कस वापस लौटा दो, जमीन जोतो, उसे सूर्यकी धूप खाने दो। उसमें खाद डालो।" छीजनकी पूर्ति करना—यह है यज्ञका एक हेतु। दूसरा हेतु है, उपयोगमें लायी हुई वस्तुओंका शुद्धीकरण। हम कुएँका उपयोग करते हैं, जिससे आसपास गंदगी हो जाती है, पानी इकट्ठा हो जाता है। कुएँके पासकी यह सृष्टि जो खराब हो गयी है, उसे शुद्ध करना चाहिए। वहाँका गंदा पानी निकाल डालना चाहिए। कीचड़ दूर कर देना चाहिए। क्षति-पूर्ति करने और सफाई करनेके साथ ही वहाँ कुछ प्रत्यक्ष निर्माण-कार्य भी करना चाहिए—यह तीसरी बात भी यज्ञके अंतर्गत है। हमने कपड़ा पहना, तो हमें चाहिए कि रोज सूत कातकर फिर नव-निर्माण करें। कपास पैदा करना, अनाज उत्पन्न करना, सूत कातना, यह भी यज्ञ-क्रिया ही है। यज्ञमें जो कुछ निर्माण करना है, वह स्वार्थके लिए नहीं, बल्कि हमने जो क्षति की है, उसे पूरा करनेकी कर्तव्य-भावनासे वह होना चाहिए। यह परोपकार नहीं है। हम तो पहलेसे ही कर्जदार हैं! जन्मतः ही अपने सिरपर ऋण लेकर हम आते हैं। इस ऋणको चुकानेके लिए हमें जो कुछ निर्माण करना है, वह यज्ञ अर्थात् सेवा है, परोपकार नहीं। उस सेवासे हमें अपना ऋण चुकाना है। हम पद-पदपर सृष्टि-संस्थाका उपयोग करते हैं। अतः उस हानिकी पूर्ति करनेके लिए, उसकी शुद्धि करनेके लिए और नवीन वस्तु उत्पन्न करनेके लिए हमें यज्ञ करना होता है।

दूसरी संस्था है, हमारा मनुष्य-समाज। माँ-बाप, गुरु, मित्र, ये सब हमारे लिए मेहनत करते हैं। समाजका यह ऋण चुकानेके लिए दानकी

व्यवस्था की गयी है। दानका अर्थ है, समाजका ऋण चुकानेके लिए किया गया प्रयोग। दानका अर्थ परोपकार नहीं। समाजसे मैंने अपार सेवा ली है। जब मैं इस संसारमें आया, तो दुर्बल और असहाय था। इस समाजने मुझे छोटेसे बड़ा किया है। इसलिए मुझे समाजकी सेवा करनी चाहिए। 'परोपकार' कहते हैं, दूसरेसे कुछ न लेकर की हु सेवाको। परंतु यहाँ तो हम समाजसे पहले ही भरपूर ले चुके हैं। समाजके इस ऋणसे मुक्त होनेके लिए जो सेवा की जाय, वही दान है। मनुष्य-समाजको आगे बढ़नेमें सहायता करना दान है। सृष्टिकी हानि पूरी करनेके लिए जो श्रम किया जाता है, वह यज्ञ है और समाजका ऋण चुकानेके लिए तन, मन, धन तथा अन्य साधनोंसे जो सहायता की जाती है, वह दान है।

इसके अलावा एक तीसरी संस्था और है। वह है, शरीर। शरीर भी प्रतिदिन छीजता जाता है। हम अपने मन, बुद्धि, इंद्रिय, सबसे काम लेते हैं, इनको छिजाते हैं। इस शरीररूपी संस्थामें जो विकार, जो दोष उत्पन्न हों, उनकी शुद्धिके लिए 'तप' बताया गया है।

इस प्रकार सृष्टि, समाज और शरीर—इन तीनों संस्थाओंका कार्य जिससे अच्छी प्रकार चल सके, उसी तरह व्यवहार करना हमारा कर्तव्य है। हम अनेक योग्य-अयोग्य संस्थाएँ निर्माण करते हैं; परंतु ये तीन संस्थाएँ हमारी बनायी हुई नहीं हैं। ये तो स्वभावतः ही हमें मिल गयी हैं। ये संस्थाएँ कृत्रिम नहीं हैं। अतः इन तीन संस्थाओं-की हानि यज्ञ, दान और तप—इन साधनोंसे पूरी करना हमारा स्वभाव-प्राप्त धर्म है। अगर हम इस तरहसे चलें, तो जो कुछ शक्ति हमारे अंदर है, वह सारी इसमें लग जायगी। अन्य बातोंके लिए और शक्ति शेष ही नहीं बचेगी। इन तीनों संस्थाओं—सृष्टि, समाज और शरीर—को सुन्दर रखनेके लिए हमें अपनी सारी शक्ति खर्च करनी पड़ेगी। यदि कबीरकी तरह हम भी कह सकें कि "हे प्रभो, तूने मुझे जैसी चादर दी थी, वैसी ही मैं लौटाकर जा रहा हूँ, तू इसे अच्छी तरह सभालकर देख ले", तो वह कितनी बड़ी सफलता है! परंतु ऐसी

सफलता प्राप्त करनेके लिए यज्ञ, दान और तपका त्रिविध कार्यक्रम व्यवहारमें लाना चाहिए।

यज्ञ, दान और तपमें हमने भेद माना है; परंतु सच पूछा जाय तो इनमें भेद नहीं है, क्योंकि सृष्टि, समाज और शरीर—ये बिलकुल भिन्न-भिन्न संस्थाएँ हैं ही नहीं। यह समाज सृष्टिसे बाहर नहीं है, ना यह शरीर ही सृष्टिके बाहर है। इन तीनोंको मिलाकर एक ही भव्य सृष्टि-संस्था बनती है। इसीलिए हम जो उत्पादक श्रम करेंगे, जो दान देंगे, जो तप करेंगे, उन सबको व्यापक अर्थमें 'यज्ञ' ही कह सकते हैं। गीताने चौथे अध्यायमें 'द्रव्य-यज्ञ', 'तपो-यज्ञ' आदि यज्ञ बताये हैं। गीताने यज्ञका अर्थ विशाल बना दिया है।

इन तीनों संस्थाओंके लिए हम जो-जो सेवा-कार्य करेंगे, वे यज्ञ-रूप ही होंगे। आवश्यकता है उस सेवाको निरपेक्ष रखनेकी। उससे फलकी अपेक्षा तो की ही नहीं जा सकती; क्योंकि फल तो हम पहले ही ले चुके हैं। ऋण तो पहले ही सिरपर चला आ रहा है। जो लिया है, उसे वापस करना है। यज्ञसे सृष्टि-संस्थामें, दानसे समाजमें और तपसे शरीरमें साम्यावस्था रहती है। इस तरह तीनों ही संस्थाओंमें साम्यावस्था रखनेका कार्यक्रम है। इससे शुद्धि होगी और दूषित भाव नष्ट हो जायगा।

यह जो सेवा करनी है, उसके लिए कुछ 'भोग' भी ग्रहण करना पड़ेगा। भोग भी यज्ञका ही एक अंग है। इस भोगको गीता 'आहार' कहती है। इस शरीररूपी यंत्रको अन्नरूपी कोयला देनेकी जरूरत है। यद्यपि यह आहार स्वयं यज्ञ नहीं है, तथापि यज्ञ सिद्ध करनेका एक अंग अवश्य है। इसलिए हम कहा करते हैं—

उदरभरण नोहे जाणिजे यज्ञकर्म।

यह 'उदर-भरण नहीं, इसे यज्ञ-कर्म जानो'।

बगीचेसे फूल लाकर देवताके सिरपर चढ़ाना, यह पूजा है; परंतु फूल उत्पन्न करनेके लिए बगीचेमें जो मेहनत की जाती है, वह भी पूजा ही है। यज्ञ पूरा करनेके लिए जो कुछ क्रिया की जाती है, वह एक प्रकारकी पूजा ही है। शरीर तभी हमारे काममें आ सकेगा,

जब हम उसे आहार देंगे। यज्ञ-साधनरूप कर्म भी 'यज्ञ' ही है। गीता इन कर्मोंको 'तदर्थीय-कर्म'—'यज्ञार्थ-कर्म'—कहती है। सेवार्थ शरीर सतत खड़ा रहे, इसलिए इस शरीरको मैं जो आहुति दूँगा, वह यज्ञरूप है। सेवाके लिए किया गया आहार पवित्र है।

इन सब बातोंके मूलमें फिर श्रद्धा चाहिए। सारी सेवाको ईश्वरार्पण करनेका भाव मनमें होना चाहिए। यह बहुत महत्त्वकी बात है। ईश्वरार्पण-बुद्धिके बिना सेवासन्नता नहीं आ सकती। इस प्रधान वस्तु ईश्वरार्पणताको भुला देनेसे काम नहीं चलेगा।

(९६) साधनाका सात्त्विकीकरण

परन्तु हम अपनी सब क्रियाएँ ईश्वरको कब अर्पण कर सकेंगे? तभी, जब कि वे सात्त्विक होंगी। जब हमारे सब कर्म सात्त्विक होंगे, तभी हम उन्हें ईश्वरार्पण कर सकेंगे। यज्ञ, दान और तप, सब सात्त्विक होने चाहिए। क्रियाओंको सात्त्विक कैसे बनाना चाहिए, इसका तत्त्व हमने चौदहवें अध्यायमें देख लिया है। इस अध्यायमें गीता उस तत्त्वका विनियोग बता रही है।

सात्त्विकताकी यह योजना करनेमें गीताका उद्देश्य दुहरा है। बाहरसे यज्ञ, दान और तपरूप जो मेरी विश्व-सेवा चल रही है, उसीको भीतरसे आध्यात्मिक साधनाका नाम दिया जा सकता है। सृष्टिकी सेवा और साधनाके भिन्न-भिन्न कार्यक्रम नहीं होने चाहिए। सेवा और साधना, ये दो भिन्न बातें हैं ही नहीं। दोनोंके लिए एक ही प्रयत्न, एक ही कर्म! इस प्रकार जो कर्म किया जाय, उसे भी अंतमें ईश्वरार्पण करना है। समाज-सेवा, साधना, ईश्वरार्पणता, यह योग एक ही क्रियासे सिद्ध होना चाहिए।

यज्ञको सात्त्विक बनानेके लिए दो बातोंकी आवश्यकता है। निष्फलताका अभाव और सकामताका अभाव। ये दो बातें यज्ञमें होनी चाहिए। यज्ञमें यदि सकामता होगी, तो वह राजस यज्ञ हो जायगा और यदि निष्फलता होगी, तो वह तामस यज्ञ हो जायगा।

सूत कातना यज्ञ है; परन्तु यदि सूत कातते हुए हमने उसमें अपनी आत्मा नहीं उँडेली, हमारे चित्तकी एकाग्रता नहीं हुई, तो वह सूत्रयज्ञ जड़ हो जायगा। बाहरसे हाथ काम कर रहे हैं, उस समय अंदरसे मनका मेल नहीं है, तो वह सारी क्रिया विधिहीन हो जायगी। विधिहीन कर्म जड़ हो जाते हैं। विधिहीन क्रियामें तमोगुण आ जाता है। उस क्रियासे उत्कृष्ट वस्तुका निर्माण नहीं हो सकता। उसमेंसे फलकी निष्पत्ति नहीं होगी। यज्ञमें सकामता न हो, तो भी उससे उत्कृष्ट फल मिलना चाहिए। कर्ममें यदि मन न हो, आत्मा न हो, तो वह कर्म बोझ-सा हो जायगा। फिर उससे उत्कृष्ट फल कहाँ? यदि बाहरका काम बिगड़ा, तो यह निश्चित समझो कि अंदर मनका योग नहीं था। अतः कर्ममें अपनी आत्मा उँडेलो। आंतरिक सहयोग रखो। सृष्टि-संस्थाका ऋण चुकानेके लिए हमें उत्कृष्ट फलोत्पत्ति करनी चाहिए। कर्मोंमें फलहीनता न आने पाये, इसीलिए आंतरिक मेलकी विधि-युक्तता आवश्यक है।

इस प्रकार जब हमारे अंदर निष्कामता आ जायगी और विधि-पूर्वक सफल कर्म होगा, तभी हमारी चित्त-शुद्धि होने लगेगी। चित्त-शुद्धिकी कसौटी क्या है? बाहरी कामकी जाँच करके देखो। यदि वह निर्मल और सुंदर न हो, तो चित्तको भी मलिन समझ लेनेमें कोई बाधा नहीं। भला, कर्ममें सुंदरता कब आती है? शुद्ध चित्तसे परिश्रमके साथ किये हुए कर्मपर ईश्वर अपनी पसंदगीकी, अपनी प्रसन्नताकी मुहर लगा देता है। जब प्रसन्न परमेश्वर कर्मकी पीठपर प्रेमका हाथ फिराता है, तो वहाँ सौंदर्य उत्पन्न हो जाता है। सौंदर्यका अर्थ है, पवित्र श्रमको मिला हुआ परमेश्वरीय प्रसाद। शिल्पकार जब मूर्ति बनाते समय तन्मय हो जाता है, तो उसे ऐसा अनुभव होने लगता है कि यह सुंदर मूर्ति मेरे हाथोंसे नहीं बनी। मूर्तिका आकार गढ़ते-गढ़ते अंतिम क्षणमें न जाने कहाँसे उसमें अपने-आप सौंदर्य आ टपकता है। क्या चित्त-शुद्धिके बिना यह ईश्वरीय कला प्रकट हो सकती है? मूर्तिमें जो कुछ स्वारस्य, माधुर्य है, वह यही कि अपने अंतःकरणका सारा सौंदर्य

इसमें उँडेल दिया जाता है। मूर्तिके मानी है, हमारे चित्तकी प्रतिमा! हमारे समस्त कर्म हमारे मनकी मूर्तियाँ हैं। अगर मन सुंदर है, तो वह कर्ममय मूर्ति भी सुंदर होगी। बाहरके कर्मोंकी शुद्धि मनकी शुद्धिसे और मनकी शुद्धि बाहरके कर्मोंसे जाँच लेनी चाहिए।

एक बात और! वह यह कि इन सब कर्मोंमें मंत्र भी चाहिए। मंत्र-हीन कर्म व्यर्थ है। सूत कातते समय यह मंत्र अपने हृदयमें रखो कि मैं इस सूतसे गरीब जनताके साथ जोड़ा जा रहा हूँ। यदि यह मंत्र हृदयमें न हो और घंटों क्रिया करें, तो भी वह सब व्यर्थ जायगी। उस क्रियासे चित्त शुद्ध नहीं होगा। कपासकी पूनीमेंसे अव्यक्त परमात्मा सूत्ररूपमें प्रकट हो रहा है—ऐसा मंत्र अपनी क्रियामें डालकर फिर उस क्रियाकी ओर देखो। वह क्रिया अत्यन्त सात्त्विक और सुंदर बन जायगी। वह क्रिया पूजा बन जायगी, यज्ञरूप सेवा हो जायगी। उस छोटे-से धागेद्वारा हम समाजके साथ, जनताके साथ, जगदीश्वरके साथ बँध जायँगे। बालकृष्णके छोटे-से मुँहमें यशोदा माँको सारा विश्व दिखलाई दिया। उस मंत्रमय सूत्रके धागेमें भी तुम्हें विशाल विश्व दिखाई देने लगेगा।

(१७) आहार-शुद्धि

ऐसी सेवाके लिए आहार-शुद्धि भी आवश्यक है। जैसा आहार, वैसा ही मन! आहार परिमित होना चाहिए। आहार कौन-सा हो, इसकी अपेक्षा यह बात अधिक महत्त्वकी है कि वह कितना हो। ऐसा नहीं है कि आहारका चुनाव महत्त्वकी बात नहीं है, परन्तु हम जो आहार लेते हैं, वह उचित मात्रामें है या नहीं, यह उससे भी अधिक महत्त्वकी बात है। हम जो कुछ खाते हैं, उसका परिणाम अवश्य होगा। हम खाते क्यों हैं? इसीलिए कि उत्कट सेवा हो। आहार भी यज्ञांग ही है। सेवारूपी यज्ञको फलदायी बनानेके लिए आहार चाहिए, इस भावनासे आहारकी ओर देखो। आहार शुद्ध और स्वच्छ होना चाहिए। व्यक्ति अपने जीवनमें कितनी आहार-शुद्धि कर सकता है, इसकी कोई मर्यादा नहीं; परंतु हमारे समाजमें आहार-

शुद्धिके लिए पर्याप्त तपस्या की है। आहार-शुद्धिके लिए भारतमें विशाल प्रयत्न हुए हैं। उन प्रयोगोंमें हजारों वर्ष बीते। उनमें कितनी तपस्या लगी, यह नहीं कहा जा सकता। इस भूमंडलपर भारत ही एक ऐसा देश है, जहाँ कितनी ही पूरी-की-पूरी जातियाँ मांसाशन-मुक्त हैं। जो जातियाँ मांसाहारी हैं, उनके भी भोजनमें मांस नित्य और मुख्य पदार्थ नहीं है और जो मांस खाते हैं, वे भी उसमें कुछ हीनता अनुभव करते हैं। मनसे तो वे भी मांसका त्याग कर चुके हैं। मांसाहारकी प्रवृत्तिको रोकनेके लिए यज्ञ प्रचलित हुआ और इसीके लिए वह बंद भी हो गया। श्रीकृष्ण भगवान्‌ने तो यज्ञकी व्याख्या ही बदल दी। श्रीकृष्णने दूधकी महिमा बढ़ायी। श्रीकृष्णने असाधारण बातें कुछ कम नहीं की हैं; परंतु भारतकी जनता किस कृष्णके पीछे पागल हुई थी? भारतीय जनताको तो 'गोपाल कृष्ण', 'गोपाल कृष्ण' यही नाम प्रिय है। वह कृष्ण, जिसके पास गायें बैठी हुई हैं, जिसके अधरोंपर मुरली धरी है, ऐसा गायोंकी सेवा करनेवाला, गोपाल कृष्ण ही आबाल-वृद्धोंका परिचित है। गो-रक्षणका बड़ा उपयोग मांसाहार बंद करनेमें हुआ। गायके दूधकी महिमा बढ़ी और मांसाहार कम हुआ।

फिर भी संपूर्ण आहार-शुद्धि हो गयी हो, सो बात नहीं। हमें अब उसे आगे बढ़ाना है। बंगाली लोग मछली खाते हैं, यह देखकर कितने ही लोगोंको आश्चर्य होता है। किंतु इसके लिए उन्हें दोष देना ठीक न होगा। बंगालमें सिर्फ चावल होता है। उससे शरीरको पूरा पोषण नहीं मिल सकता। इसके लिए प्रयोग करने पड़ेंगे। फिर लोगोंमें इस बातका विचार शुरू होगा कि मछली न खाकर कौन-सी वनस्पति खायें, जिसमें मछलीके बराबर ही पुष्टि मिल जाय। इसके लिए असाधारण त्यागी पुरुष पैदा होंगे और फिर ऐसे प्रयोग होंगे। ऐसे व्यक्ति ही समाजको आगे ले जाते हैं। सूर्य जलता रहता है, तब जाकर कहीं जीवित रहने योग्य ९८° उष्णता हमारे शरीरमें रहती है। जब समाजमें वैराग्यके प्रज्वलित सूर्य उत्पन्न होते हैं और जब वे बड़ी श्रद्धापूर्वक परिस्थितियोंके बन्धन तोड़कर बिना पंखोंके अपने ध्येयाकाशमें उड़ने लगते हैं, तब

कहीं संसारोपयोगी अल्प-स्वल्प वैराग्यका हममें संचार होता है। मांसाहार बंद करनेके लिए ऋषियोंको कितनी तपस्या करनी पड़ी होगी, कितने प्राण अर्पण करने पड़े होंगे, इस बातका विचार ऐसे समय मेरे मनमें आता है।

सारांश यह कि आज हमारी सामुदायिक आहार-शुद्धि इतनी हुई है। अनंत त्याग करके हमारे पूर्वजोंने जो कमाई की है, उसे तुम गँवाओ मत! भारतीय संस्कृतिकी इस विशेषताको डुबाओ मत! हमें येन-केन प्रकारेण जीवित नहीं रहना है। जिसे किसी-न-किसी तरह जीवित रहना है, उसका काम बड़ा सरल है। पशु भी किसी-न-किसी तरह जी ही लेते हैं। तब क्या जैसे पशु, वैसे ही हम? पशुमें और हममें अंतर है। उस अंतरको बढ़ाना ही संस्कृति-वर्धन कहा जाता है। हमारे राष्ट्रने मांसाहार-त्यागका बहुत बड़ा प्रयोग किया। उसे और आगे ले जाओ। कम-से-कम जिस मंजिलतक हम पहुँच चुके हैं, उससे पीछे तो मत हटो।

यह सूचना देनेका कारण यह है कि आजकल कितने ही लोगोंको मांसाहारकी इष्टता प्रतीत होने लगी है। आज पूर्वी और पश्चिमी संस्कृतियोंका एक-दूसरेपर प्रभाव पड़ रहा है। मेरा विश्वास है कि अंतमें इसका परिणाम अच्छा ही होगा। पाश्चात्य संस्कृतिके कारण हमारी जड़श्रद्धा हिलती जा रही है। यदि अंध-श्रद्धा डिग गयी, तो कुछ हानि नहीं। जो अच्छा होगा, वह टिक जायगा और बुरा जल जायगा। अंध-श्रद्धा जानेपर उसके स्थानपर अंध-अश्रद्धा न उत्पन्न होनी चाहिए। ऐसा नहीं कि केवल श्रद्धा ही अंधी होती हो। केवल श्रद्धाने ही 'अंध' विशेषणका ठेका नहीं लिया है। अश्रद्धा भी अंधी हो सकती है।

मांसाहारके बारेमें आज फिरसे विचार होना शुरू हो गया है। जो हो, कोई नवीन विचार सामने आता है, तो मुझे बड़ा आनंद होता है। लगता है कि लोग जग रहे हैं और धक्के दे रहे हैं। जाग्रतिके लक्षण देखकर मुझे अच्छा लगता है। लेकिन यदि जगकर आँखें मलते हुए वैसे ही चल पड़ेंगे, तो गिर पड़नेकी आशंका रहती है। अतः जबतक

पूरे-पूरे न जग जायँ, अच्छी तरह आँख खोलकर देखने न लगें, तबतक हाथ-पैरोंको मर्यादामें ही रखना अच्छा है। विचार खूब कीजिये, आड़े-तिरछे, उल्टे-सीधे, चारों ओरसे खूब सोचिये। धर्मपर विचारकी कैंची चलाइये। इस विचाररूपी कैंचीसे जो धर्म कट जाय, समझो कि वह तीन कौड़ीका था। इस तरह जो टुकड़े कट-छँट जायँ, उन्हें जाने दो। तुम्हारी कैंचीसे जो न कटे, बल्कि उससे उल्टी तुम्हारी कैंची ही टूट जाय, वही धर्म सच्चा है। धर्मको विचारोंसे डर नहीं। अतः विचार तो करो, परंतु काम एकदम मत कर डालो। अधजगे रहकर यदि कुछ काम करोगे, तो गिरोगे। विचार जोरोंसे चले, फिर भी कुछ देर आचारको सँभाले रखो। अपनी कृतिपर संयम रखो। अपनी पहलेकी पुण्याई मत गँवा बैठो।

(९८) अविरोधी जीवनकी गीताकी योजना

आहार-शुद्धिसे चित्त शुद्ध रहेगा। शरीरको भी बल मिलेगा। समाज-सेवा अच्छी तरह हो सकेगी। चित्तमें संतोष रहेगा और समाजमें भी संतोष फैलेगा। जिस समाजमें यज्ञ, दान, तप, क्रिया विधि और मंत्रसहित होती रहती है, उसमें विरोध दिखाई नहीं देगा। दो दर्पण यदि एक-दूसरेके आमने-सामने रखे हों, तो जैसे इसमेंका उसमें और उसमेंका इसमें दीखेगा, इसी तरह व्यक्ति और समाजमें बिंब-प्रतिबिंब-न्यायसे परस्पर संतोष प्रकट होगा। जो मेरा संतोष है, वही समाजका है और जो समाजका है, वही मेरा। इन दोनों संतोषोंकी हम जाँच कर सकेंगे और हम देखेंगे कि दोनों एकरूप हैं। सर्वत्र अद्वैतका अनुभव होगा। द्वैत और द्रोह अस्त हो जायँगे। ऐसी सुव्यवस्था जिस योजनाके द्वारा हो सकती है, उसीका प्रतिपादन गीता कर रही है। अगर अपना दैनिक कार्यक्रम हम गीताकी योजनाके अनुसार बनायें, तो कितना अच्छा हो!

परंतु आज व्यक्ति और समाजके जीवनमें विरोध उत्पन्न हो गया है। यह विरोध कैसे दूर हो सकता है, यही चर्चा सब ओर चल रही है।

व्यक्ति और समाजकी मर्यादा क्या है? व्यक्ति गौण है या समाज? इनमें श्रेष्ठ कौन है? व्यक्तिवादके कोई समर्थक समाजको जड़ समझते हैं। सेनापतिके सामने कोई सिपाही आता है, तो सेनापति उससे बोलते समय सौम्य भाषाका उपयोग करता है। उसे 'आप' भी कहेगा; परंतु सेनाको तो वह चाहे जिस तरह हुक्म देगा। मानो सैन्य अचेतन हो, लकड़ीका एक लट्ठा हो। उसे इधर-से-उधर हिलायेगा और उधर-से-इधर। व्यक्ति चैतन्यमय है और समाज जड़, ऐसा अनुभव यहाँ भी हो रहा है। देखो, मेरे सामने दो सौ, तीन सौ आदमी हैं; परंतु उन्हें रुचे या न रुचे, मैं तो बोलता ही जा रहा हूँ। मुझे जो विचार सूझता है, वही कहता हूँ। मानो आप जड़ ही हैं। परंतु मेरे सामने कोई व्यक्ति आयेगा, तो मुझे उसकी बात सुननी पड़ेगी और उसे विचारपूर्वक उत्तर देना पड़ेगा; परंतु यहाँ तो मैंने आपको घंटे-घंटेभर यों ही बैठा रखा है।

"समाज जड़ है और व्यक्ति चैतन्य"—ऐसा कहकर व्यक्ति-चैतन्यवादका कोई-कोई प्रतिपादन करते हैं और कोई समुदायको महत्त्व देते हैं। मेरे बाल झड़ गये, हाथ टूट गया, आँखें चली गयीं और दाँत गिर गये। इतना ही नहीं, एक फेफड़ा भी बेकार हो गया; परंतु मैं फिर भी जीवित रहता हूँ, क्योंकि पृथक् रूपमें एक-एक अवयव जड़ है। किसी एक अवयवके नाशसे सर्वनाश नहीं होता। सामुदायिक शरीर चलता ही रहता है। इस प्रकार ये दो परस्पर-विरोधी विचार-धाराएँ हैं। आप जिस दृष्टिसे देखेंगे, वैसा ही अनुमान निकालेंगे। जिस रंगका चश्मा, उसी रंगकी सृष्टि!

कोई व्यक्तिको महत्त्व देता है, तो कोई समाजको। इसका कारण यह है कि समाजमें जीवन-कलहकी कल्पना फैल गयी है; परंतु क्या जीवन कलहके लिए है? इससे तो फिर हम मर क्यों नहीं जाते? कलह तो मरनेके लिए है। तभी तो हम स्वार्थ और परमार्थमें भेद डालते हैं। जिसने पहले-पहल यह कल्पना की कि स्वार्थ और परमार्थ-में अंतर है, उसकी बलिहारी है। जो वस्तु वास्तवमें है ही नहीं,

उसके अस्तित्वका आभास देनेकी शक्ति जिसकी बुद्धिमें थी, उसका गौरव करनेको जी चाहता है। जो भेद नहीं है, वह उसने खड़ा किया और उसे जनताको सिखाया, इस बातका आश्चर्य होता है। चीनकी दीवारके जैसा ही यह प्रकार है। यह मानना वैसा ही है, जैसा कि क्षितिजकी मर्यादा बाँधना और फिर यह मानना कि उसके पार कुछ नहीं है। इन सबका कारण है, आज यज्ञमय जीवनका अभाव ! इसीसे व्यक्ति और समाजमें भेद उत्पन्न हो गया है।

परंतु व्यक्ति और समाजमें वास्तविक भेद नहीं किया जा सकता। किसी कमरेके दो भाग करनेके लिए अगर कोई पर्दा लगाया जाय और पर्दा हवासे उड़कर आगे-पीछे होने लगे, तो कभी यह भाग बड़ा मालूम होता है और कभी वह। हवाकी लहरपर उस कमरेके भाग अवलंबित रहते हैं, वे स्थायी, पक्के नहीं हैं। गीता इन झगड़ोंसे परे है। ये झगड़े काल्पनिक हैं। गीता तो कहती है कि अंतःशुद्धिकी मर्यादा रखो। फिर व्यक्ति और समाजके हितोंमें कोई विरोध उत्पन्न नहीं होगा। एक-दूसरेके हितमें बाधा नहीं होगी। इस बाधाको, इस विरोध-को दूर करना ही गीताकी विशेषता है। गीताके इस नियमका पालन करनेवाला यदि एक भी व्यक्ति मिल जाय, तो अकेले उसीसे सारा राष्ट्र संपन्न हो जायगा। राष्ट्रका अर्थ है राष्ट्रके व्यक्ति। जिस राष्ट्रमें ऐसे ज्ञान और आचारसंपन्न व्यक्ति नहीं हैं, उसे राष्ट्र कैसे मानेंगे? भारत क्या है? भारत रवीन्द्रनाथ है, भारत गांधी है या इसी तरहके पाँच-दस नाम। बाहरका संसार भारतकी कल्पना इन्हीं पाँच-दस व्यक्तियोंपरसे करता है। प्राचीन कालके दो-चार, मध्यकालके चार-पाँच और आजके आठ-दस व्यक्ति ले लीजिये और उनमें हिमालय, गंगा आदिको मिला दीजिये। बस, हो गया भारत। यही है भारतकी व्याख्या। बाकी सब है इस व्याख्याका भाष्य। भाष्य यानी सूत्रोंका विस्तार। दूधका दही और दहीका छाछ-मक्खन! झगड़ा दूध-दही, छाछ-मक्खनका नहीं है। दूधका कस देखनेके लिए उसमें मक्खन कितना है, यह देखा जाता है। इसी प्रकार समाजका कस उसके व्यक्तियों-

परसे निकाला जाता है। व्यक्ति और समाजमें कोई विरोध नहीं है। विरोध हो भी कैसे सकता है? व्यक्ति-व्यक्तिमें भी विरोध न होना चाहिए। यदि एक व्यक्तिसे दूसरा व्यक्ति अधिक संपन्न हो जाय, तो इससे बिगड़ेगा क्या? हाँ, कोई भी विपन्न-अवस्थामें न हो और संपत्ति-वालोंकी संपत्ति समाजके काम आती रहे, बस। मेरी दाहिनी जेबमें पैसे हैं तो क्या और बायीं जेबमें हैं तो क्या? दोनों जेबें आखिर हैं तो मेरी ही! कोई व्यक्ति संपन्न होता है, तो उससे मैं संपन्न होता हूँ, राष्ट्र संपन्न होता है—ऐसी युक्ति साधी जा सकती है।

परंतु हम भेद खड़े करते हैं। धड़ और सिर अलग-अलग हो जायँगे, तो दोनों मर जायँगे। अतः व्यक्ति और समाजमें भेद न करो। गीता यही सिखाती है कि एक ही क्रिया स्वार्थ और परमार्थको किस प्रकार अविरोधी बना देती है। मेरे इस कमरेकी हवामें और बाहरकी अनंत हवामें कोई विरोध नहीं है। यदि मैं इनमें विरोधकी कल्पना करके कमरा बंद कर लूँगा, तो दम घुटकर मर जाऊँगा। अविरोधकी कल्पना करके मुझे कमरा खोलने दो, तो वह अनंत हवा भीतर आ जायगी। जिस क्षण मैं अपनी जमीन और अपना घरका टुकड़ा औरों-से अलग करता हूँ, उसी क्षण मैं अनंत संपत्तिसे वंचित हो जाता हूँ। मेरा वह छोटा-सा घर जलता है, गिरता है, तो मैं ऐसा समझकर कि मेरा सर्वस्व चला गया, रोने-पीटने लग जाता हूँ। परंतु ऐसा क्यों करना चाहिए? क्यों रोना-पीटना चाहिए? पहले तो संकुचित कल्पना करें और फिर रोयें! ये पाँच सौ रुपये मेरे हैं, ऐसा कहा कि सृष्टिकी अपार संपत्तिसे मैं दूर हुआ। ये दो भाई मेरे हैं, ऐसा समझा कि संसारके असंख्य भाई मुझसे दूर हो गये—इसका हमें ध्यान नहीं रहता। मनुष्य अपनेको कितना संकुचित बना लेता है! वास्तवमें तो मनुष्यका स्वार्थ ही परमार्थ होना चाहिए। गीता ऐसा ही सरल-सुंदर मार्ग दिखा रही है, जिससे व्यक्ति और समाजमें उत्तम सहयोग हो। जीभ और पेटमें क्या विरोध है? पेटको जितना अन्न चाहिए, उतना ही जीभको देना चाहिए। पेटने 'बस' कहा कि

जीभको देना बंद कर देना चाहिए। पेट एक संस्था है, तो जीभ दूसरी संस्था। मैं इन संस्थाओंका सम्राट् हूँ। इन सब संस्थाओंमें अद्वैत ही है। कहाँसे ले आये यह अभागा विरोध? जिस प्रकार एक ही देहकी इन संस्थाओंमें वास्तविक विरोध नहीं है, प्रत्युत सहयोग है, उसी प्रकार समाजमें भी है। समाजमें इस सहयोगको बढ़ानेके लिए ही गीता चित्त-शुद्धिपूर्वक यज्ञ, दान, तपक्रियाका विधान बताती है। ऐसे कर्मोंसे व्यक्ति और समाज, दोनोंका कल्याण होगा।

जिसका यज्ञमय जीवन है, वह सबका हो जाता है। प्रत्येक पुत्रको ऐसा मालूम होता है कि माँका प्रेम मुझपर है। उसी प्रकार यह व्यक्ति सबको अपना मालूम होता है। सारी दुनियाको वह प्रिय और अपनाने योग्य लगता है। सभीको ऐसा मालूम होता है कि वह हमारा प्राण है, मित्र है, सखा है।

ऐसा पुरुष तो पहावा। जनांस वाटे हा असावा॥ ऐसा पुरुष तो धन्य है, लोग उसे अनन्य रूपसे चाहते हैं।

—ऐसा 'समर्थ' रामदासने कहा है। ऐसा जीवन बनानेकी युक्ति गीताने बतायी है।

(९९) समर्पणका मंत्र

गीता यह भी कहती है कि जीवनको यज्ञमय बनाकर फिर उस सबको ईश्वरार्पण कर देना चाहिए। जीवनके सेवामय हो जानेपर फिर और ईश्वरार्पणता किसलिए? हम यह सरलतासे कह तो देते हैं कि सारा जीवन सेवामय कर दिया जाय, परन्तु ऐसा करना बहुत कठिन है। अनेक जन्मोंमें जाकर वह थोड़ा-बहुत सध सकता है। फिर भले ही सारे कर्म सेवामय, अक्षरशः सेवामय हो जायँ, तो भी उससे ऐसा नहीं कह सकते कि वे पूजामय हो ही गये। इसलिए 'ॐतत्सत्' इस मंत्रके साथ सारे कर्म ईश्वरार्पण करने चाहिए।

सेवा-कर्म वैसे सोलहों आना सेवामय होना कठिन है; क्योंकि परमार्थमें भी स्वार्थ आ ही जाता है। केवल परमार्थ संभव ही नहीं है। ऐसा कोई काम नहीं हो सकता, जिसमें मेरा लेशमात्र भी स्वार्थ न हो। इसलिए प्रतिदिन अधिक निष्काम और अधिक निःस्वार्थ

सेवा हाथोंसे हो, ऐसी इच्छा रखनी चाहिए। यदि यह चाहते हों कि सेवा उत्तरोत्तर अधिक शुद्ध हो, तो सारी क्रियाएँ ईश्वरार्पण करो। ज्ञानदेवने कहा है—

नामामृतगोडी वैष्णवां लाधली। योगियां साधली जीवनकळा॥
वैष्णवको नाम मधुर लगता है। योगी जीवन-कला साधते हैं॥

नामामृतकी मधुरता और जीवन-कला अलग-अलग नहीं है। नामका आंतरिक घोष और वाह्य जीवन-कला दोनोंका मेल है। योगी और वैष्णव एक ही हैं। परमेश्वरको क्रिया अर्पण कर देनेपर स्वार्थ, परार्थ और परमार्थ, सब एकरूप हो जाते हैं। पहले तो जो 'तुम' और 'मैं' अलग-अलग हैं, उन्हें एक करना चाहिए। 'तुम' और 'मैं' मिलनेसे 'हम' हो गये। अब 'हम' और 'वह' को एक कर डालना है। पहले मुझे इस सृष्टिसे मेल साधना है और फिर परमात्मासे। 'ॐ तत्सत्' मंत्रमें यही भाव सूचित किया गया है।

परमात्माके अनंत नाम हैं। व्यासजीने तो उन नामोंका 'विष्णु-सहस्रनाम' बना दिया है। जो-जो नाम हम कल्पित कर लें, वे सब उसके हैं। जो नाम हमारे मनमें स्फुरित हो, उसी अर्थमें उसे हम सृष्टिमें देखें और तदनुरूप अपना जीवन बनायें। परमेश्वरका जो नाम मनको भाये, उसीको सृष्टिमें देखें और उसीके अनुसार अपने आपको बनायें। इसको मैं 'त्रिपदा गायत्री' कहता हूँ। उदाहरणके लिए ईश्वरका दयामय नाम ले लीजिये। ऐसा मानकर चलें कि वह रहीम है। अब उसी दया-सागर परमेश्वरको इस सृष्टिमें आँखें खोल-कर देखें। भगवान्‌ने प्रत्येक बच्चेको उसकी सेवाके लिए माता दी है, जीनेके लिए हवा दी है। इस तरह उस दयामय प्रभुकी सृष्टिमें जो दयाकी योजना है, उसे देखें और अपना जीवन भी दयामय बनायें। भगवद्‌गीता-कालमें भगवान्‌का जो नाम प्रसिद्ध था, वही भगवद्‌गीताने सुझाया है। वह है 'ॐ तत्सत्'।

'ॐ' का अर्थ है 'हाँ', परमात्मा है। इस बीसवीं शताब्दीमें भी परमात्मा है।

स एव अद्य स उ श्वः ।

वही आज है, वही कल था और वही कल होगा। वह कायम है। सृष्टि कायम है और कमर कसकर मैं भी साधना करनेके लिए तैयार हूँ। मैं साधक हूँ। वह भगवान् है और यह सृष्टि पूजा-द्रव्य, पूजा-साधन है। जब ऐसी भावनासे हमारा हृदय भर जाय, तभी कहा जा सकेगा कि 'ॐ' हमारे गले उतरा। वह है, मैं हूँ और मेरी साधना भी है—ऐसा यह ॐकार-भाव मनमें बस जाना चाहिए और साधनामें प्रकट होना चाहिए। सूर्यको जब कभी देखिये, वह किरणोंसहित दिखाई देगा। वह किरणोंको दूर रखकर कभी रह ही नहीं सकता। वह किरणोंको नहीं भुलाता। इसी प्रकार कोई भी किसी भी समय क्यों न देखे, साधना हमारे पास दिखाई देनी चाहिए। जब ऐसा हो जायगा, तभी यह कहा जा सकेगा कि 'ॐ' को हमने पचा लिया।

इसके बाद है 'सत्'। परमेश्वर सत् है अर्थात् शुभ है, मंगल है। इस भावनासे अभिभूत होकर भगवान्के मांगल्यका सृष्टिमें अनुभव करो। देखो, वह पानीकी सतह ! पानीमेंसे एक घड़ा भर लो। उससे जो गड्ढा पड़ेगा, वह क्षणभरमें ही भर जायगा। यह कितना मांगल्य है ! यह कितनी प्रीति है ! नदी गडढोंको सहन नहीं करती। गड्ढोंको भरनेके लिए दौड़ती है।

नदी वेगेन शुद्ध्यति ।

सृष्टिरूपी नदी वेगसे शुद्ध हो रही है। यावत् सृष्टि सब शुभ और मंगल है। अपने कर्मको भी ऐसा ही होने दो। परमेश्वरके इस 'सत्' नामको आत्मसात् करनेके लिए सारी क्रियाएँ निर्मल और भक्तिमय होनी चाहिए। सोमरस जिस तरह पवित्रकोंमेंसे छाना जाता था, उसी तरह अपने सब कर्मों और साधनोंको नित्य परीक्षण करके निर्दोष बनाना चाहिए।

अब रहा 'तत्'। 'तत्' का अर्थ है 'वह'—कुछ-न-कुछ भिन्न, इस सृष्टिसे अलिप्त। परमात्मा इस सृष्टिसे भिन्न है, अर्थात् अलिप्त है। सूर्योदय होते ही कमल खिलने लगते हैं, पक्षी उड़ने लगते हैं और

अंधकार नष्ट हो जाता है। परन्तु 'सूर्य' तो दूर ही रहता है। इन सब परिणामोंसे वह बिलकुल अलग-सा रहता है। जब अपने कर्मोंमें अनासक्ति रखें, अलिप्तता आ जाय, तब समझिये कि हमारे जीवनमें 'तत्' प्रविष्ट हुआ।

इस प्रकार गीताने यह 'ॐ तत्सत्' वैदिक नाम लेकर अपनी सब क्रियाओंको ईश्वरार्पण करना सिखाया है। पिछले नवें अध्यायमें सब कर्मोंको ईश्वरार्पण करनेका विचार आया है। 'यत्करोषि यदश्नासि' इस श्लोकमें यही कहा गया है। इसी बातका सत्रहवें अध्यायमें विवरण दिया गया है। परमेश्वरार्पण करनेकी क्रिया सात्त्विक होनी चाहिए, तभी वह परमेश्वरार्पण की जा सकेगी—यह बात यहाँ विशेष रूपसे बतायी गयी है।

(१००) पापहारी हरिनाम

यह सब ठीक है, किंतु यहाँ एक प्रश्न उठता है कि यह 'ॐतत्सत्' नाम पवित्र पुरुषको ही पच सकता है, पापी पुरुष क्या करे ? पापियोंके मुँहमें भी सुशोभित होने योग्य कोई नाम है या नहीं ? 'ॐ तत्सत्' नाममें वह भी शक्ति है। ईश्वरके किसी भी नाममें असत्यसे सत्यकी ओर ले जानेकी शक्ति रहती है। वह पापकी ओरसे निष्पापकी ओर ले जा सकता है। जीवनकी शुद्धि धीरे-धीरे करनी चाहिए। परमात्मा अवश्य सहायता करेगा। तुम्हारी दुर्बलताके समय वह तुम्हें सहायता देगा।

यदि कोई मुझसे कहे कि "एक ओर पुण्यमय किंतु अहंकारी जीवन और दूसरी ओर पापमय किंतु नम्र जीवन—इनमेंसे किसी एकको पसंद करो", तो यदि मैं मुँहसे न भी बोल सकूँ, फिर भी अंतःकरणसे कहूँगा कि "जिस पापसे मुझे परमेश्वरका स्मरण रहता है, वही मुझे मिलने दो !" मेरा मन यही कहेगा कि अगर पुण्यमय जीवनसे परमात्माकी विस्मृति हो जाती है, तो जिस पापमय जीवनसे उसकी याद आती है, मैं उसीको लूँगा। इसका यह अर्थ नहीं कि मैं पापमय जीवन-

का समर्थन कर रहा हूँ; परन्तु पाप उतना पाप नहीं है, जितना कि पुण्यका अहंकार पाप है।

'बहु भितों जाणपणा। आड न यो नारायणा॥'—कहीं ये सुजानपन, नारायण रोक न दे?

ऐसा तुकारामने कहा है। वह बड़प्पन नहीं चाहिए। उसकी अपेक्षा तो पापी, दुःखी होना ही अच्छा है।

'जाणतें लेंकरूं। माता लागे दूरी धरूं॥'—जो बच्चे ज्ञानी हैं, उन्हें माँ भी दूर रखती है।

परन्तु अजान बालकोंको माँ अपनी गोदमें उठा लेगी। मैं 'स्वाव-लंबी पुण्यवान्' नहीं होना चाहता। 'परमेश्वरावलंबी पापी' होना ही मुझे प्रिय है। परमात्माकी पवित्रता मेरे पापको समाकर भी बचने जैसी है। हम पापोंको रोकनेका प्रयत्न करें। यदि वे नहीं रुके, तो हृदय रोने लगेगा। मन छटपटाने लगेगा। तब ईश्वरकी याद आयेगी। वह तो खड़ा-खड़ा खेल देख रहा है। पुकार करो—"मैं पापी हूँ, इस-लिए तेरे द्वारे आया हूँ।" पुण्यवान्को ईश्वर-स्मरणका अधिकार है; क्योंकि वह पुण्यवान् है। पापीको ईश्वर-स्मरणका अधिकार है; क्योंकि वह पापी है।

रविवार, १२-६-'३२

अठारहवाँ अध्याय

उपसंहार—फलत्यागकी पूर्णता—ईश्वर-प्रसाद

(१०१) अर्जुनका अन्तिम प्रश्न

मेरे भाइयो, आज ईश्वरकी कृपासे हम अठारहवें अध्यायतक आ पहुँचे हैं। प्रतिक्षण बदलनेवाले इस विश्वमें किसी भी संकल्पका पूर्ण हो जाना परमेश्वरकी इच्छापर ही निर्भर है। फिर जेलमें तो कदम-कदमपर अनिश्चितताका अनुभव होता है। यहाँ कोई काम शुरू करने-पर फिर यहीं उसके पूरा हो जानेकी अपेक्षा रखना कठिन है। आरम्भ करते समय ऐसी अपेक्षा नहीं थी कि हमारी यह गीता यहाँ पूरी हो सकेगी। लेकिन ईश्वर-इच्छासे हम समाप्तितक आ पहुँचे हैं।

चौदहवें अध्यायमें जीवनके अथवा कर्मके सात्त्विक, राजस और तामस, ये तीन भेद किये गये। इन तीनोंमेंसे राजस और तामसका त्याग करके सात्त्विकको ग्रहण करना है, यह भी हमने देखा। उसके बाद सत्रहवें अध्यायमें यही बात दूसरे ढंगसे कही गयी है। यज्ञ, दान और तप या एक ही शब्दमें कहें, तो 'यज्ञ' ही जीवनका सार है। सत्रहवें अध्यायमें हमने ऐसी ध्वनि सुनी कि यज्ञोपयोगी जो आहारादि कर्म हैं, उन्हें सात्त्विक और यज्ञरूप बनाकर ही ग्रहण करें। केवल उन्हीं कर्मोंको अंगीकार करें, जो यज्ञरूप और सात्त्विक हैं; शेष कर्मों-का त्याग ही उचित है। हमने यह भी देखा कि 'ॐ तत्सत्' मंत्रको क्यों स्मरण रखना चाहिए। 'ॐ' का अर्थ है, सातत्य। 'तत्' का अर्थ है, अलिप्तता और 'सत्' का अर्थ है, सात्त्विकता। हमारी साधनामें सातत्य, अलिप्तता और सात्त्विकता होनी चाहिए। तभी वह परमेश्वर-को अर्पण की जा सकेगी। इन सब बातोंसे ऐसा लगता है कि कुछ कर्म तो हमें करने हैं और कुछका त्याग करना है।

गीताकी सारी शिक्षापर हम दृष्टि डालें, तो स्थान-स्थानपर यही बोध मिलता है कि कर्मका त्याग न करो। गीता कर्म-फलके

त्यागकी बात कहती है। गीतामें सर्वत्र यही शिक्षा दी गयी है कि कर्म तो सतत करो, परन्तु फलका त्याग करते रहो। लेकिन यह एक पहलू हुआ। दूसरा पहलू यह मालूम पड़ता है कि कुछ कर्म किये जायँ और कुछका त्याग किया जाय। अतः अंततः अठारहवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुनने प्रश्न किया—"एक पक्ष तो यह कि कोई भी कर्म फल-त्यागपूर्वक करो और दूसरा यह कि कुछ कर्म तो अवश्यमेव त्याज्य हैं और कुछ करने योग्य हैं, इन दोनोंमें मेल कैसे बिठाया जाय?" जीवनकी दिशा स्पष्ट जाननेके लिए यह प्रश्न है। फल-त्यागका मर्म समझनेके लिए यह प्रश्न है। जिसे शास्त्र 'संन्यास' कहता है, उसमें कर्म स्वरूपतः छोड़ना होता है। अर्थात् कर्मके स्वरूपका त्याग करना होता है। फल-त्यागमें कर्मका फलतः त्याग करना होता है। अब प्रश्न यह है कि क्या गीताके फल-त्यागको प्रत्यक्ष कर्म-त्यागकी आवश्यकता है? क्या फल-त्यागकी कसौटीमें संन्यासका कोई उपयोग है? संन्यासकी मर्यादा कहाँतक है? संन्यास और फल-त्याग, इन दोनोंकी मर्यादा कहाँतक और कितनी है? अर्जुनका यही प्रश्न है।

(१०२) फलत्याग सार्वभौम कसौटी

उत्तरमें भगवान्‌ने एक बात स्पष्ट कह दी है कि फल-त्यागकी कसौटी सार्वभौम वस्तु है। फल-त्यागका तत्त्व सर्वत्र लागू किया जा सकता है। सब कर्मोंके फलोंका त्याग तथा राजस और तामस कर्मोंका त्याग, इन दोनोंमें विरोध नहीं है। कुछ कर्मोंका स्वरूप ही ऐसा होता है कि फल-त्यागकी युक्तिका उपयोग करें, तो वे कर्म स्वतः ही गिर पड़ते हैं। फल-त्यागपूर्वक कर्म करनेका तो यही अर्थ होता है कि कुछ कर्म छोड़ने ही चाहिए। फल-त्यागपूर्वक कर्म करनेमें कुछ कर्मोंके प्रत्यक्ष त्यागका समावेश हो ही जाता है।

इसपर जरा गहराईसे विचार करें। जो कर्म काम्य हैं, जिनके मूलमें कामना है, उन्हें फल-त्यागपूर्वक करो—ऐसा कहते ही वे ढह जाते हैं। फल-त्यागके सामने काम्य और निषिद्ध कर्म खड़े ही नहीं रह सकते। फल-त्यागपूर्वक कर्म करना कोई केवल कृत्रिम, तांत्रिक

और यांत्रिक क्रिया तो है नहीं। इस कसौटीके द्वारा यह अपने-आप मालूम हो जाता है कि कौन-से कर्म किये जायँ और कौन-से नहीं। कुछ लोग कहते हैं कि 'गीता केवल यही बताती है कि फल-त्यागपूर्वक कर्म करो; पर यह नहीं बताती कि कौन-से कर्म करो।' ऐसा भासित तो होता है, परन्तु वस्तुतः ऐसा है नहीं; क्योंकि 'फल-त्यागपूर्वक कर्म करो' इतना कहनेसे ही पता चल जाता है कि कौन-से कर्म करें और कौन-से नहीं। हिंसात्मक कर्म, असत्यमय कर्म, चोरी जैसे कर्म फल-त्यागपूर्वक किये ही नहीं जा सकते। फल-त्यागकी कसौटीपर कसते ही ये कर्म हवामें उड़ जाते हैं। सूर्यकी प्रभा फैलते ही सब चीजें उजली दिखाई देने लगती हैं; पर अँधेरा भी क्या उजला दिखाई देता है? वह तो नष्ट ही हो जाता है। ऐसी ही स्थिति निषिद्ध और काम्य कर्मोंकी है। हमें सब कर्म फल-त्यागकी कसौटीपर कस लेने चाहिए। पहले यह देखना चाहिए कि जो कर्म मैं करना चाहता हूँ, वह अनासक्ति-पूर्वक फलकी लेशमात्र भी अपेक्षा न रखते हुए करना संभव है क्या? फलत्याग ही कर्म करनेकी कसौटी है। इस कसौटीके अनुसार काम्य-कर्म अपने-आप ही त्याज्य सिद्ध होते हैं। उनका तो संन्यास ही उचित है। अब बचे शुद्ध सात्त्विक कर्म। वे अनासक्तिपूर्वक अहंकार छोड़कर करने चाहिए। काम्य कर्मोंका त्याग भी तो एक कर्म ही हुआ। फल-त्यागकी कैंची उसपर भी चलाओ। फिर काम्य कर्मोंका त्याग भी सहज रूपसे होना चाहिए।

इस प्रकार तीन बातें हमने देखीं। पहली तो यह कि जो कर्म हमें करने हैं, वे फलत्यागपूर्वक करने चाहिए। दूसरी यह कि राजस और तामस कर्म—निषिद्ध और काम्यकर्म—फल-त्यागकी कसौटीपर कसते ही अपने-आप गिर जाते हैं। तीसरी यह कि इस तरह जो त्याग होगा, उसपर भी फल-त्यागकी कैंची चलाओ। मैंने इतना त्याग किया, ऐसा अहंकार न होने देना चाहिए।

राजस और तामस कर्म त्याज्य क्यों हैं? इसलिए कि वे शुद्ध नहीं हैं। शुद्ध न होनेसे कर्ताके चित्तपर उनके संस्कार हो जाते हैं; परन्तु

अधिक विचार करनेपर पता चलता है कि सात्त्विक कर्म भी सदोष होते हैं। जितने भी कर्म हैं, उन सबमें कुछ-न-कुछ दोष है ही। खेतीका स्वधर्म ही लो। यह एक शुद्ध सात्त्विक क्रिया है; लेकिन इस यज्ञमय स्वधर्म-रूप खेतीमें भी हिंसा तो होती ही है। हल जोतने आदिमें कितने ही जंतु मरते हैं। कुएँके पास कीचड़ न होने देनेके लिए उसे पक्का बनानेमें भी कितने ही जीव-जन्तु मरते हैं। सबेरे दरवाजा खोलते ही सूर्यका प्रकाश घरमें प्रवेश करता है, उससे असंख्य जंतु नष्ट हो जाते हैं। जिसे हम शुद्धीकरण कहते हैं, वह एक मारण-क्रिया ही हो जाती है। सारांश, जब सात्त्विक स्वधर्मरूप कर्म भी सदोष हो जाता है, तब क्या करें?

मैं पहले ही कह चुका हूँ कि सब गुणोंका विकास होना तो अभी बाकी है। हमें ज्ञान, भक्ति, सेवा, अहिंसा—इनके बिंदुमात्रका ही अभी अनुभव हुआ है। सारा-का-सारा अनुभव हो चुका है, ऐसी बात नहीं है। संसार अनुभव लेकर आगे बढ़ता जाता है। मध्ययुगमें एक ऐसी कल्पना चली कि खेतीमें हिंसा होती है, इसलिए अहिंसक व्यक्ति उसे न करे। वह व्यापार करे। अन्न उपजाना पाप है; पर कहते थे कि अन्न बेचना पाप नहीं। लेकिन इस तरह क्रियाको टालनेसे तो हमारा हित नहीं हो सकता। यदि मनुष्य इस तरह कर्म-संकोच करता चला जाय, तो अंतमें आत्मनाश ही हो रहेगा। मनुष्य कर्मसे छूटनेका ज्यों-ज्यों विचार करेगा, त्यों-त्यों कर्मका विस्तार ही अधिक होता जायगा। आपके इस धान्यके व्यापारके लिए क्या किसीको खेती न करनी पड़ेगी? तब क्या उस खेतीसे होनेवाली हिंसाके आप हिस्सेदार न होंगे? अगर कपास उपजाना पाप है, तो उस उपजे हुए कपासको बेचना भी पाप है। कपास पैदा करनेमें दोष है, इसलिए उस कर्मको ही छोड़ देना बुद्धि-दोष होगा। सब कर्मोंका बहिष्कार करना—यह कर्म भी नहीं, वह कर्म भी नहीं, कुछ भी मत करो, इस प्रकार देखनेवाली दृष्टिमें, कहना होगा कि सच्चा दयाभाव शेष नहीं रहा, बल्कि वह मर गया। पत्ते नोचनेसे पेड़ नहीं मरता, वह तो उल्टा पल्लवित होता है। क्रियाका संकोच करनेमें आत्म-संकोच ही है।

(१०३) क्रियासे छूटनेकी सच्ची रीति

अब प्रश्न यह होता है कि यदि सब कर्मोंमें दोष है, तो फिर सब कर्मोंको छोड़ ही क्यों न दें ? इसका उत्तर पहले एक बार दिया जा चुका है। सब कर्मोंका त्याग करनेकी कल्पना बड़ी सुन्दर है। यह विचार मोहक है। पर ये असंख्य कर्म आखिर छोड़ें कैसे ? राजस और तामस कर्मोंके छोड़नेकी जो रीति है, क्या वही सात्त्विक कर्मोंके लिए उपयुक्त होगी ? जो दोषमय सात्त्विक कर्म हैं, उनसे कैसे बचें ? मजा तो यह है कि 'इंद्राय तक्षकाय स्वाहा' की तरह जब मनुष्य संसारमें करने लगता है, तब अमर होनेके कारण इंद्र तो मरता ही नहीं, बल्कि तक्षक भी न मरते हुए उल्टा मजबूत हो बैठता है। सात्त्विक कर्मोंमें पुण्य है और थोड़ा दोष है। परन्तु थोड़ा दोष होनेके कारण यदि उस दोषके साथ पुण्यकी भी आहुति देना चाहोगे, तो मजबूत होनेके कारण पुण्य-क्रिया तो नष्ट नहीं ही होगी, दोष-क्रिया अवश्य ही बढ़ती चली जायगी। ऐसे मिश्रित, विवेकहीन त्यागसे पुण्य-रूप इंद्र तो मरता ही नहीं, पर मर सकनेवाला दोषरूप तक्षक भी नहीं मरता। इसलिए उनके त्यागकी रीति कौन-सी ? बिल्ली हिंसा करती है, इसलिए उसका त्याग करेंगे, तो चूहे हिंसा करने लगेंगे। साँप हिंसा करते हैं, इसलिए अगर उन्हें दूर किया, तो सैकड़ों जंतु खेती नष्ट कर डालेंगे। खेतीका अनाज नष्ट होनेसे हजारों मनुष्य मर जायँगे। इसलिए त्याग विवेकयुक्त होना चाहिए।

गोरखनाथसे मच्छीन्द्रनाथने कहा—"इस लड़केको धो ला!" गोरखनाथने लड़केके पैर पकड़कर उसे शिलापर पछाड़ डाला और बाड़पर सुखाने डाल दिया। मच्छीन्द्रनाथने पूछा—"लड़केको धो लाये ?" गोरखनाथने उत्तर दिया—"हाँ, उसे धो-धाकर सुखाने डाल दिया है!" लड़केको क्या इस तरह धोया जाता है ? कपड़े और मनुष्य धोनेका ढंग एक-सा नहीं है। इन दोनों ढंगोंमें बड़ा अंतर है। इसलिए राजस-तामस कर्मोंके त्याग तथा सात्त्विक कर्मके त्यागमें बड़ा अंतर है। सात्त्विक कर्म छोड़ने की रीति दूसरी है।

विवेकहीन होकर कर्म करनेसे तो कुछ उलट-पुलट ही हो जायगा। तुकारामने कहा है—

'त्यागे भोग माझ्या येतील अंतरा। मग मी दातारा काय करूं।'—
त्यागसे जो भीतर भोग उगे। तब हे दाता! मैं क्या करूँ?

छोटा त्याग करने जाते हैं, तो बड़ा भोग आकर छातीपर बैठ जाता है। इसलिए वह अल्प-सा त्याग भी मिथ्या हो जाता है। छोटेसे त्यागकी पूर्तिके लिए बड़े-बड़े इन्द्रभवन खड़े करते हैं। इससे तो वह झोपड़ी ही अच्छी थी। वही पर्याप्त थी। लँगोटी लगाकर आसपास वैभव इकट्ठा करनेसे तो कुरता और बंडी ही अच्छी। इसीलिए भगवान्ने सात्त्विक कर्मोंके त्यागकी पद्धति ही अलग बतायी है। वे सभी सात्त्विक कर्म तो करने हैं, लेकिन उनके फलोंको तोड़ फेंकना है। कुछ कर्म तो समूल त्याज्य हैं और कुछके सिर्फ फल ही छोड़ने होते हैं। शरीरपर कोई ऐसा-वैसा दाग पड़ जाय, तो उसको धोकर मिटाया जा सकता है; पर चमड़ीका रङ्ग ही काला है, तो उसे सफेदा लगानेसे क्या लाभ? वह काला रङ्ग ज्यों-का-त्यों रहने दो। उसकी तरफ देखते ही क्यों हो? उसे अमंगल न समझो।

एक आदमी था। उसे अपना घर अमंगल प्रतीत होने लगा, तो वह किसी गाँवमें चला गया। वहाँ उसे गंदगी दिखाई दी, तो जंगलमें चला गया। जंगलमें एक आमके पेड़के नीचे बैठा ही था कि एक पक्षीने उसके सिरपर बीट कर दी। 'यह जंगल भी अमंगल है' ऐसा कहकर वह नदीमें जा खड़ा हुआ। नदीमें उसने देखा कि बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियोंको खा रही हैं, तब तो उसे बड़ी घिन लगी। अरे, चलो, यह तो सारी सृष्टि ही अमंगल है। यहाँ मरे बिना छुटकारा नहीं, ऐसा सोचकर वह पानीसे बाहर आया और आग जलायी। उधरसे एक सज्जन आये और बोले—"भाई, यह मरनेकी तैयारी क्यों?" "यह संसार अमंगल है, इसलिए!"—वह बोला। उस सज्जनने उत्तर दिया—"तेरा यह गंदा शरीर, यह चरबी यहाँ जलने लगेगी, तो यहाँ

कितनी बदबू फैलेगी। हम यहाँ पास ही रहते हैं। तब हम कहाँ जायँगे? एक बालके जलनेसे ही कितनी दुर्गन्ध आती है! फिर तेरी तो सारी चरबी जलेगी! यहाँ कितनी दुर्गन्ध फैलेगी, इसका भी तो कुछ विचार कर!" वह आदमी परेशान होकर बोला—"इस दुनियामें न जीनेकी सुविधा है और न मरनेकी ही, तो अब क्या करूँ?"

तात्पर्य यह कि 'मनहूस है, अमंगल है'—ऐसा कहकर सबका बहिष्कार करेंगे, तो काम नहीं चलेगा। यदि तुम छोटे कर्मोंसे बचना चाहोगे, तो दूसरे बड़े कर्म सिरपर सवार हो जायँगे। कर्म स्वरूपतः बाहरसे छोड़नेपर नहीं छूटते। जो कर्म सहज-रूपसे प्रवाह-प्राप्त हैं, उनका विरोध करनेमें अगर कोई अपनी शक्ति खर्च करेगा—प्रवाहके विरुद्ध जाना चाहेगा, तो अन्तमें वह थककर प्रवाहके साथ बह जायगा। प्रवाहानुकूल क्रियाके द्वारा ही उसे अपने तरनेका उपाय सोचना चाहिए। इससे मनपरका लेप कम होगा और चित्त शुद्ध होता जायगा। फिर धीरे-धीरे क्रिया अपने-आप समाप्त होती जायगी। कर्म-त्याग न होते हुए भी क्रियाएँ लुप्त हो जायँगी। कर्म छूटेगा नहीं, पर क्रिया लुप्त हो जायगी।

कर्म और क्रिया, दोनोंमें अन्तर है। मान लें कि कहींपर खब गुलगपाड़ा मचा हुआ है और उसे बन्द करना है। एक सिपाही स्वयं जोरसे चिल्लाकर कहता है—"शोर बन्द करो।" वहाँका शोर बन्द करनेके लिए उसे जोरसे चिल्लानेका तीव्र कर्म करना पड़ा। दूसरा कोई आकर चुपचाप खड़ा रहेगा और केवल अपनी अँगुली दिखायेगा। इतनेसे ही लोग शांत हो जायँगे। तीसरे व्यक्तिके केवल वहाँ उपस्थित होनेमात्रसे ही शांति छा जायगी। एकको तीव्र क्रिया करनी पड़ी। दूसरेकी क्रिया कुछ सौम्य थी और तीसरेकी सूक्ष्म। क्रिया उत्तरोत्तर कम होती गयी, किन्तु लोगोंको शांत करनेका काम समानरूपसे हुआ। जैसे-जैसे चित्त-शुद्धि होती जायगी, वैसे-ही-वैसे क्रियाकी तीव्रतामें कमी होगी। तीव्रसे सौम्य, सौम्यसे सूक्ष्म और सूक्ष्मसे शून्य

होती जायगी। कर्म भिन्न है और क्रिया भिन्न। कर्ताको जो इष्टतम हो, वह कर्म—यही कर्मकी व्याख्या है। कर्ममें प्रथमा और द्वितीया विभक्ति होती है, तो क्रियाके लिए स्वतन्त्र क्रियापद लगाना पड़ता है।

कर्म और क्रियामें जो अंतर है, उसे समझ लीजिये। क्रोध आनेपर कोई बहुत बोलकर और कोई बिलकुल ही न बोलकर अपना क्रोध प्रकट करता है। ज्ञानी पुरुष लेशमात्र भी क्रिया नहीं करता; किंतु कर्म अनंत करता है। उसका अस्तित्वमात्र ही अपार लोक-संग्रह कर सकता है। ज्ञानी पुरुषकी तो केवल उपस्थिति ही पर्याप्त है। उसके हाथ-पैर आदि अवयव कुछ कार्य न करते हों, तो भी वह काम करता है। क्रिया सूक्ष्म होती जाती है, तो उधर कर्म उल्टे बढ़ते जाते हैं। विचारकी यह धारा और आगे ले जायँ एवं चित्त परिपूर्ण शुद्ध हो जाय, तो अंतमें क्रिया शून्यरूप होकर कर्म अनंत होते रहेंगे, ऐसा कह सकते हैं। पहले तीव्र, फिर तीव्रसे सौम्य, सौम्यसे सूक्ष्म और सूक्ष्मसे शून्य—इस तरह अपने-आप क्रिया-शून्यत्व प्राप्त हो जायगा। परन्तु तब अनंत कर्म स्वतः होते रहेंगे।

बाह्यरूपेण कर्म हटानेसे वे दूर नहीं होंगे। निष्कामतापूर्वक कर्म करते हुए धीरे-धीरे उसका अनुभव होगा। कवि ब्राउनिंगने 'ढोंगी पोप' शीर्षक एक कविता लिखी है। एक आदमीने पोपसे कहा—"तुम अपनेको इतना सजाते क्यों हो? ये चोगे किसलिए? ये ऊपरी ढोंग क्यों? यह गंभीर मुद्रा किसलिए?" उसने उत्तर दिया—"मैं यह सब क्यों करता हूँ, सो सुनो। संभव है, यह नाटक, यह नकल करते-करते किसी दिन अनजानमें ही मुझमें श्रद्धाका संचार हो जाय।" इसलिए निष्काम क्रिया करते रहना चाहिए। धीरे-धीरे निष्क्रियत्व भी प्राप्त हो जायगा।

(१०४) साधकके लिए स्वधर्मका हल

सारांश यह कि तामस और राजस कर्म तो बिलकुल छोड़ देने चाहिए और सात्त्विक कर्म करने चाहिए। इसके साथ ही यह विवेक

रखना चाहिए कि जो सात्त्विक कर्म सहज और स्वाभाविक रूपसे सामने आ जायँ, वे सदोष होते हुए भी त्याज्य नहीं हैं। दोष होता है तो होने दो। उस दोषसे पीछा छुड़ाना चाहोगे, तो दूसरे दोष पल्ले आ पड़ेंगे। अपनी नकटी नाक जैसी है, वैसी ही रहने दो। उसे अगर काटकर सुन्दर बनानेकी कोशिश करोगे, तो वह और भी भयानक तथा भद्दी दीखेगी। वह जैसी है, वैसी ही अच्छी है। सात्त्विक कर्म सदोष होनेपर भी स्वाभाविक रूपसे प्राप्त होनेके कारण नहीं छोड़ने चाहिए। उन्हें करना है, लेकिन उनका फल छोड़ना है।

और एक बात कहनी है। जो कर्म सहज, स्वाभाविक रूपसे प्राप्त न हुए हों, उनके बारेमें तुम्हें ऐसा लगता हो कि वे अच्छी तरह किये जा सकते हैं, तो भी उन्हें मत करो। उतने ही कर्म करो, जितने सहज रूपसे प्राप्त हों। उखाड़-पछाड़ और दौड़-धूप करके दूसरे नये कर्मोंके चक्करमें मत पड़ो। जिन कर्मोंको खास तौरपर जोड़-तोड़ लगाकर करना पड़ता हो, वे कितने ही अच्छे क्यों न हों, उनसे दूर रहो। उनका मोह न करो। जो कर्म सहज प्राप्त हैं, उन्हींके फलका त्याग हो सकता है। यदि मनुष्य इस लोभसे कि यह कर्म भी अच्छा है और वह कर्म भी अच्छा है, चारों ओर दौड़ने लगे, तो फिर फल-त्याग कैसे होगा? उससे तो सारा जीवन ही एक फजीहत हो जायगी। फलकी आशासे ही वह इन पर-धर्मरूपी कर्मोंको करना चाहेगा और फल भी हाथसे खो बैठेगा। जीवनमें कहीं भी स्थिरता प्राप्त नहीं होगी। चित्तपर उस कर्मकी आसक्ति चिपट जायगी। अगर सात्त्विक कर्मोंका भी लोभ होने लगे, तो उसे भी दूर करना चाहिए। उन नाना प्रकारके सात्त्विक कर्मोंको यदि करना चाहोगे, तो उसमें भी राजसता और तामसता आ जायगी। इसलिए तुम वही करो, जो तुम्हारा सात्त्विक, स्वाभाविक और सहजप्राप्त स्वधर्म है।

स्वधर्ममें स्वदेशी धर्म, स्वजातीय धर्म और स्वकालीन धर्मका समावेश होता है। ये तीनों मिलकर स्वधर्म बनते हैं। मेरी वृत्तिके अनुकूल और अनुरूप क्या है और कौन-सा कर्तव्य मुझे आकर प्राप्त

हुआ है, यह सब स्वधर्म निश्चित करते समय देखना होता है। तुममें 'तुमपन' जैसी कोई चीज है और इसलिए तुम 'तुम' हो। प्रत्येक व्यक्तिमें उसकी अपनी कुछ विशेषता होती है। बकरीका विकास बकरी बने रहनेमें ही है। बकरी रहकर ही उसे अपना विकास कर लेना चाहिए। बकरी अगर गाय बनना चाहे, तो यह उसके लिए संभव नहीं। वह स्वयंप्राप्त बकरीपनका त्याग नहीं कर सकती। इसके लिए उसे शरीर छोड़ना पड़ेगा। नया धर्म और नया जन्म ग्रहण करना होगा; परन्तु इस जन्ममें तो उसके लिए बकरीपन ही पवित्र है। बैल और मेंढकीकी कहानी है न? मेंढकीके बढ़नेकी एक सीमा है। वह बैल जितनी होनेका प्रयत्न करेगी, तो मर जायगी। दूसरेके रूपकी नकल करना उचित नहीं होता। इसीलिए परधर्मको भयावह कहा है।

फिर स्वधर्मके भी दो भाग हैं। एक बदलनेवाला भाग, दूसरा न बदलनेवाला। मैं जो आज हूँ, वह कल नहीं और जो कल हूँ, वह परसों नहीं। मैं निरन्तर बदल रहा हूँ। बचपनका स्वधर्म होता है, केवल संवर्धन। यौवनमें मुझमें भरपूर कर्म-शक्ति रहेगी, तो उसके द्वारा मैं समाजकी सेवा करूँगा। प्रौढ़ावस्थामें मेरे ज्ञानका लाभ दूसरोंको मिलेगा। इस तरह कुछ स्वधर्म तो बदलता रहनेवाला है और कुछ न बदलनेवाला। इन्हींको यदि पुराने शास्त्रीय नामोंसे पुकारना है, तो हम कहेंगे—"मनुष्यका वर्ण-धर्म है और आश्रम-धर्म है।" वर्ण-धर्म नहीं बदलता, आश्रम-धर्म बदलता रहता है।

आश्रम-धर्म बदलता है—इसका अर्थ यह है कि ब्रह्मचारी-पद सार्थक करके मैं गृहस्थाश्रममें प्रवेश कर रहा हूँ, गृहस्थाश्रमसे वानप्रस्थ-आश्रममें और वानप्रस्थसे संन्यासमें जाता हूँ। इस तरह आश्रम-धर्म बदलता रहता है, तब भी वर्ण-धर्म बदला नहीं जा सकता। अपनी नैसर्गिक मर्यादा मैं छोड़ नहीं सकता। ऐसा प्रयत्न ही मिथ्या है। तुममें जो 'तुमपन' है, उसे तुम छोड़ नहीं सकते। इसी कल्पनापर वर्ण-धर्मकी योजना की गयी है। वर्ण-धर्मकी कल्पना बड़ी मधुर है। वर्ण-धर्म बिलकुल अटल है क्या? जैसे बकरीका बकरीपन, गायका

गायपन है, वैसे ही क्या ब्राह्मणका ब्राह्मणत्व, क्षत्रियका क्षत्रियत्व है? मैं मानता हूँ कि वर्ण-धर्म इतना पक्का नहीं है; लेकिन हमें इसका मर्म समझ लेना चाहिए। 'वर्ण-धर्म' शब्दका उपयोग जब सामाजिक व्यवस्थाकी एक युक्तिके रूपमें किया जाता है, तब उसके अपवाद अवश्य होंगे। ऐसे अपवाद मानने ही पड़ते हैं। गीताने भी इस अपवादको माना है। सारांश, इन दोनों प्रकारोंके धर्मोंको पहचानकर, अवांतर धर्म कितना ही सुन्दर और मोहक प्रतीत हो, तो भी उसे टालना चाहिए।

(१०५) फलत्यागका कुल मिलाकर फलितार्थ

फल-त्यागकी कल्पनाका जो विकास हम करते आये हैं, उससे निम्नलिखित अर्थ निकलता है—

(१) राजस और तामस कर्मोंका संपूर्ण त्याग।

(२) उस त्यागका भी फल-त्याग। उसका भी अहंकार न हो।

(३) सात्त्विक कर्मोंका स्वरूपतः त्याग न करते हुए केवल फल-त्याग।

(४) सात्त्विक कर्म, जो फल-त्यागपूर्वक करने होते हैं, सदोष हों तो भी करना।

(५) सतत फल-त्यागपूर्वक उन सात्त्विक कर्मोंको करते रहनेसे चित्त शुद्ध होता जायगा और तीव्रसे सौम्य, सौम्यसे सूक्ष्म और सूक्ष्मसे शून्य—इस तरह क्रियामात्रका लोप हो जायगा।

(६) क्रिया लुप्त हो जायगी, लेकिन कर्म—लोकसंग्रहरूपी कर्म—होते ही रहेंगे।

(७) सात्त्विक कर्म भी, जो स्वाभाविक रूपसे प्राप्त हों, वे ही करें। जो सहजप्राप्त न हों, वे कितने ही अच्छे लगें, तो भी उनसे दूर ही रहें। उनका मोह न करें।

(८) सहजप्राप्त स्वधर्म भी फिर दो प्रकारका होता है—बदलनेवाला और न बदलनेवाला। वर्ण-धर्म नहीं बदलता, पर

आश्रम-धर्म बदलता रहता है। बदलनेवाला स्वधर्म बदलते रहना चाहिए। उससे प्रकृति विशुद्ध रहेगी।

प्रकृति बहती रहनी चाहिए। निर्झर बहता न रहेगा, तो उससे दुर्गन्ध आने लगेगी। यही हाल आश्रम-धर्मका है। मनुष्यको पहले कुटुम्ब मिलता है। अपने विकासके लिए वह स्वयंको कुटुम्बके बंधनोंमें बाँध लेता है। यहाँ वह तरह-तरहके अनुभव प्राप्त करता है; परन्तु कुटुंबी बनकर वह उसीमें जकड़ जायगा, तो विनाश होगा। कुटुंबमें रहना जो पहले धर्मरूप था, वही अधर्मरूप हो जायगा; क्योंकि अब वह धर्म बंधनकारी हो गया। बदलनेवाले धर्मको आसक्तिके कारण न छोड़ें, तो भयानक स्थिति उत्पन्न होगी। अच्छी चीजकी भी आसक्ति न होनी चाहिए। आसक्तिसे घोर अनर्थ होता है। क्षयके कीटाणु यदि भूलसे भी फेफड़ोंमें चले जाते हैं, तो सारा जीवन भीतरसे खा डालते हैं। उसी तरह आसक्तिके कीटाणु भी असावधानीसे सात्त्विक कर्ममें घुस जायँगे, तो स्व-धर्म सड़ने लगेगा। उस सात्त्विक स्व-धर्ममें भी राजस और तामसकी दुर्गन्ध आने लगेगी। अतः कुटुंबरूपी यह बदलनेवाला स्व-धर्म यथासमय छूट जाना चाहिए। यही बात राष्ट्र-धर्मके लिए भी है। राष्ट्र-धर्ममें भी अगर आसक्ति आ जाय और केवल अपने ही राष्ट्रके हितका विचार हम करने लगें, तो ऐसी राष्ट्र-भक्ति भी बड़ी भयंकर वस्तु होगी। इससे आत्म-विकास रुक जायगा। चित्तमें आसक्ति घर कर लेगी और अधःपात होगा।

(१०६) साधनाकी पराकाष्ठा ही सिद्धि

सारांश, यदि जीवनका फलित प्राप्त करना चाहते हैं, तो फल-त्यागरूपी चिंतामणिको अपनायें। वह आपका पथ-प्रदर्शन करेगा। फल-त्यागका यह तत्त्व अपनी मर्यादा भी बताता है। यह दीपक निकट होनेपर अपने-आप यह पता चल जायगा कि कौन-सा काम करें, कौन-सा न करें और कौन-सा कब बदलें। परन्तु अब एक दूसरा ही विषय विचारके लिए लेंगे। संपूर्ण क्रियाका लोप हो जानेकी जो अंतिम स्थिति

है, उसपर साधकको ध्यान रखना चाहिए या नहीं? साधकको क्या ज्ञानी पुरुषकी उस स्थितिपर दृष्टि रखनी चाहिए, जिसमें क्रिया न करते हुए भी असंख्य कर्म होते रहें?

नहीं, यहाँ भी फल-त्यागकी ही कसौटीका उपयोग करना चाहिए। हमारे जीवनका स्वरूप इतना सुंदर है कि हमें जो चाहिए, उसपर निगाह न रखनेपर भी वह हमें मिल जायगा। जीवनका सबसे बड़ा फल मोक्ष है। उस मोक्ष—उस अकर्मावस्था—का भी हमें लोभ न रहे। वह स्थिति तो हमें अपने-आप अनजाने प्राप्त हो जायगी। संन्यास कोई ऐसी वस्तु तो है नहीं कि दो बजकर पाँच मिनटपर अचानक आ मिलेगी। संन्यास यांत्रिक वस्तु नहीं है। उसका तुम्हारे जीवनमें किस तरह विकास होता जायगा, तुम्हें इसका पता भी न चलेगा। इसलिए मोक्षकी चिंता छोड़ दो।

भक्त तो ईश्वरसे सदैव यही कहता है—"मेरे लिए तुम्हारी भक्ति ही पर्याप्त है। मोक्ष—वह अंतिम फल—मुझे नहीं चाहिए।" मुक्ति भी तो एक प्रकारकी भुक्ति ही है। मोक्ष एक तरहका भोग ही तो है—एक फल ही तो है। इस मोक्षरूपी फलपर भी फल-त्यागकी कैंची चलाओ, परन्तु इससे मोक्ष कहीं चला न जायगा। कैंची टूट जायगी और फल अधिक पक्का हो जायगा। जब मोक्षकी आशा छोड़ दोगे, तभी अनजाने मोक्षकी तरफ चले जाओगे। इतनी तन्मयतासे साधना चलने दो कि तुम्हें मोक्षकी याद ही न रहे और मोक्ष तुम्हें खोजता हुआ तुम्हारे सामने आ खड़ा हो। साधक तो बस अपनी साधनामें ही रँग जाय।

मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि।

भगवान्ने पहले ही कहा था कि अकर्म-दशाकी, मोक्षकी आसक्ति मत रखो।

अब फिर अंतमें कहते हैं—'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।' मैं मोक्षदाता समर्थ हूँ। तुम मोक्षकी चिन्ता मत करो। तुम तो केवल साधनाकी ही चिंता करो।

मोक्षको भूल जानेसे साधना उत्कृष्ट होगी और मोक्ष ही मोहित

होकर तुम्हारे पास चला आयेगा। मोक्ष-निरपेक्ष वृत्तिसे अपनी साधनामें ही रत रहनेवाले साधकके गलेमें मोक्ष-लक्ष्मी जयमाला डालती है।

जहाँ साधनाकी पराकाष्ठा होती है, वहीं सिद्धि हाथ जोड़कर खड़ी रहती है। जिसे घर जाना है, वह यदि वृक्षके नीचे खड़ा होकर 'घर-घर' का जाप करेगा, तो इससे घर तो दूर ही रहेगा, उल्टा उसे जंगलमें ही रहनेकी नौबत आ जायगी। घरका स्मरण करते हुए यदि रास्तेमें विश्राम करने लग जाओगे, तो उस अंतिम विश्राम-स्थानसे दूर रह जाओगे। मुझे तो चलनेका ही उद्योग करना चाहिए। इसीसे घर एकदम सामने आ जायगा। मोक्षके आलसी स्मरणसे मेरे प्रयत्नमें—मेरी साधनामें—शिथिलता आयेगी और मोक्ष मुझसे दूर चला जायगा। मोक्षकी उपेक्षा करके सतत साधना-रत रहना ही मोक्षको पास बुलानेका उपाय है। अकर्म-स्थिति, विश्रांतिकी लालसा मत रखो। साधनाका ही प्रेम रखो, तो मोक्ष मिलकर रहेगा। उत्तर-उत्तर चिल्लानेसे प्रश्नका उत्तर नहीं मिलता। उसे हल करनेकी जो रीति आती है, उसीसे क्रमानुसार उत्तर मिलेगा। वह रीति जहाँ समाप्त होती है, वहीं उसका उत्तर रखा है। समाप्तिके पहले समाप्ति कैसे हो जायगी? रीतिसे पहले उत्तर कैसे मिलेगा? साधकावस्थामें सिद्धावस्था कैसे प्राप्त होगी? पानीमें डुबकियाँ खाते हुए परले पारके मौज-मजेमें ध्यान रहेगा, तो कैसे काम चलेगा? उस समय तो एक-एक हाथ मारकर आगे जानेमें ही सारा ध्यान और सारी शक्ति लगानी चाहिए। पहले साधना पूरी करो, समुद्र लाँघो, मोक्ष स्वतः मिल जायगा।

(१०७) सिद्ध पुरुषकी तेहरी भूमिका

ज्ञानी पुरुषकी अंतिम अवस्थामें सब क्रियाएँ लुप्त हो जाती हैं, शून्यरूप हो जाती हैं। पर इसका यह अर्थ नहीं कि अंतिम स्थितिमें क्रिया होगी ही नहीं। उसके द्वारा क्रिया होगी भी और नहीं भी होगी। अंतिम स्थिति अत्यंत रमणीय और उदात्त है। इस अवस्थामें जो भी कुछ होगा, उसकी उसे चिंता नहीं होती। जो भी होगा, वह शुभ और

सुन्दर ही होगा। साधनाकी पराकाष्ठाकी दशापर वह खड़ा है। यहाँ सब कुछ करनेपर भी वह कुछ नहीं करता। संहार करनेपर भी संहार नहीं करता। कल्याण करनेपर भी कल्याण नहीं करता।

यह अंतिम मोक्षावस्था ही साधककी साधनाकी पराकाष्ठा है। साधनाकी पराकाष्ठाका अर्थ है—साधनाकी सहजावस्था। वहाँ इस बातकी कल्पना भी नहीं रहती कि मैं कुछ कर रहा हूँ। अथवा इस दशाको मैं साधककी साधनाकी 'अनैतिकता' कहूँगा। सिद्धावस्था नैतिक अवस्था नहीं है। छोटा बच्चा सच बोलता है, पर वह नैतिक नहीं है, क्योंकि झूठ क्या है, इसकी तो उसे कल्पना ही नहीं है। असत्यसे परिचित होनेपर भी सत्य बोलना नैतिक कर्म है। सिद्धावस्थामें असत्य है ही नहीं। वहाँ तो सत्य ही है। इसलिए वहाँ नीति नहीं। निषिद्ध वस्तु जहाँ खड़ी ही नहीं रह सकती, जो नहीं सुनना चाहिए वह कानके अंदर जाता ही नहीं, जो वस्तु नहीं देखनी चाहिए वह आँखें देखती ही नहीं, जो होना चाहिए वही हाथोंसे होता है, उसका प्रयत्न नहीं करना पड़ता, जिसे टालना चाहिए उसे टालना नहीं पड़ता, वह अपने-आप ही टल जाता है—यही नीतिशून्य अवस्था है। यह जो साधनाकी पराकाष्ठा है, इसे साधनाकी सहजावस्था, अनैतिकता या अतिनैतिकता कहो, इस अतिनैतिकतामें ही नीतिका परम उत्कर्ष है। 'अतिनैतिकता' शब्द मुझे खब सूझा। अथवा इस दशाको 'सात्त्विक साधनाकी निःसत्त्वता' कह सकते हैं।

इस दशाका किस प्रकार वर्णन करें? जिस तरह ग्रहणके पहले उसके वेध लग जाते हैं, उसी तरह शरीरान्त हो जानेपर आनेवाली मोक्षदशाकी छाया देह गिरनेके पहले ही पड़ने लग जाती है। देहावस्थामें ही भावी मोक्ष-स्थितिका अनुभव होने लगता है। इस स्थितिका वर्णन करनेमें वाणी लड़खड़ाती है। वह कितनी भी हिंसा करे, फिर भी कुछ नहीं करता। उसकी क्रिया अब किस नापसे नापी जाय? जो कुछ उसके द्वारा होगा, वह सब सात्त्विक कर्म ही होगा। सभी

क्रियाओंके क्षय हो जानेपर भी संपूर्ण विश्वका वह लोक-संग्रह करेगा। इसके लिए किस भाषाका प्रयोग करें, यह समझमें नहीं आता।

इस अंतिम अवस्थामें तीन भाव रहते हैं—एक है वामदेवकी दशा। उनका यह प्रसिद्ध उद्गार है—"इस विश्वमें जो कुछ भी है, वह मैं हूँ।" ज्ञानी पुरुष निरहंकार हो जाता है। उसका देहाभिमान नष्ट हो जाता है, क्रियामात्र समाप्त हो जाती है। इस समय उसे एक भावावस्था प्राप्त होती है। वह अवस्था एक देहमें समा नहीं सकती। भावावस्था क्रियावस्था नहीं है। भावावस्थाका अर्थ है—भावनाकी उत्कटताकी अवस्था। थोड़ी मात्रामें इस भावावस्थाका अनुभव हमें हो सकता है। बालकके दोषसे माता दोषी होती है। गुणोंसे गुणी होती है। उसके दुःखसे दुःखी और सुखसे सुखी होती है। माँकी यह भावावस्था संतानतक सीमित है। संतानके दोषोंको वह अपने दोष मान लेती है। ज्ञानी पुरुष भी भावनाकी उत्कटतासे सारे संसारके दोष अपने ऊपर लेता है।

त्रिभुवनके पापसे वह पापी और पुण्यसे पुण्यवान् बनता है और ऐसा होनेपर भी त्रिभुवनके पाप-पुण्यका उसे लेशमात्र भी स्पर्श नहीं रहता। रुद्र-सूक्तमें ऋषि कहते हैं—

यवाश्च मे तिलाश्च मे गोधूमाश्च मे।

मुझे जौ दे, तिल दे, गेहूँ दे। इस तरह माँगते ही रहनेवाले ऋषिका पेट आखिर कितना बड़ा होगा? लेकिन वह माँगनेवाला साढ़े तीन हाथके शरीरका नहीं है। उसकी आत्मा विश्वाकार होकर बोलती है। इसे मैं 'वैदिक विश्वात्मभाव' कहता हूँ। वेदोंमें इस भावनाका परमोत्कर्ष दिखाई देता है। गुजराती संत नरसी मेहता कीर्तन करते हुए कहते हैं—'बापजी पाप मे कवण कीधा हशे, नाम लेता तारूं निद्रा आवे।'—'हे ईश्वर, मैंने ऐसे कौन-से पाप किये हैं, जो कीर्तनके समय भी मुझे नींद आती है!' नींद क्या नरसी मेहताको आ रही थी? नींद तो श्रोताओंको आ रही थी। परन्तु श्रोताओंसे एकरूप होकर

नरसी मेहता पूछ रहे हैं। यह उनकी भावावस्था है। ज्ञानी पुरुषकी भावावस्था इसी प्रकारकी होती है। इस भावावस्थामें सभी पाप-पुण्य उसके द्वारा होते हुए तुम्हें दिखाई देंगे। वह स्वयं भी यही कहेगा। वे ऋषि कहते हैं न—"न करने योग्य कितने ही कार्य मैंने किये हैं, करता हूँ और करूँगा।" यह भावावस्था प्राप्त होनेपर आत्मा पक्षीकी तरह उड़ने लगता है। वह पार्थिवताके परे हो जाता है।

इस भावावस्थाकी ही तरह ज्ञानी पुरुषकी एक क्रियावस्था भी होती है। ज्ञानी पुरुष स्वभावतः क्या करेगा? वह जो कुछ करेगा, सात्त्विक ही होगा। यद्यपि मनुष्य-देहकी मर्यादा अभी उसके साथ लगी है, तब भी उसका सारा शरीर, उसकी सारी इन्द्रियाँ सात्त्विक बन गयी हैं, जिससे उसकी सारी क्रियाएँ सात्त्विक ही होंगी। व्यावहारिक दृष्टिसे देखें, तो सात्त्विकताकी चरम सीमा उसके व्यवहारमें दिखाई देगी। विश्वात्मभावकी दृष्टिसे देखेंगे, तो मानो त्रिभुवनके पाप-पुण्य वह करता है और इतनेपर भी वह अलिप्त रहता है; क्योंकि इस चिपके हुए शरीरको तो उसने उतारकर फेंक दिया है। क्षुद्र देहको उतारकर फेंकनेपर ही तो वह विश्व-रूप होगा।

भावावस्था और क्रियावस्थाके अतिरिक्त एक तीसरी स्थिति भी ज्ञानी पुरुषकी है और वह है, ज्ञानावस्था। इस अवस्थामें न वह पाप सहन करता है, न पुण्य। सभी झटककर फेंक देता है। इस अखिल विश्वको सलाई लगाकर जला डालनेके लिए वह तैयार हो जाता है। एक भी कर्मकी जिम्मेदारी लेनेको वह तैयार नहीं होता। उसका स्पर्श ही उसे सहन नहीं होता। ज्ञानी पुरुषकी मोक्ष-दशामें—साधनाकी पराकाष्ठाकी दशामें—ये तीन स्थितियाँ संभव हैं।

यह अक्रियावस्था, अंतिम दशा कैसे प्राप्त हो? हम जो-जो भी कर्म करते हैं, उनका कर्तृत्व अपने सिरपर न लेनेका अभ्यास करना चाहिए। ऐसा मनन करो कि 'मैं तो निमित्तमात्र हूँ, कर्मका कर्तृत्व मुझपर नहीं है।' पहले इस अकर्तृत्ववादकी भूमिका नम्रतासे ग्रहण करो। किन्तु इसीसे सम्पूर्ण कर्तृत्व चला जायगा, ऐसा नहीं है। धीरे-

धीरे इस भावनाका विकास होता जायगा। पहले तो ऐसा अनुभव होने दो कि मैं अतितुच्छ प्राणी हूँ, उसके हाथका खिलौना—कठपुतली हूँ, वह मुझे नचाता है। इसके बाद यह माननेका प्रयत्न करो कि यह जो कुछ भी किया जाता है वह शरीरजात है, मेरा उससे स्पर्शतक नहीं। ये सब क्रियाएँ इस शवकी हैं, परन्तु मैं शव नहीं हूँ। 'मैं शव नहीं, शिव हूँ', ऐसी भावना करते रहो। देहके लेपसे लेशमात्र भी लिप्त न हो। ऐसा हो जानेपर मानो देहसे कोई संबंध ही नहीं है, ज्ञानीकी यह अवस्था प्राप्त हो जायगी। उस अवस्थामें फिर ऊपर कही गयी तीन अवस्थाएँ होंगी। पहले उसकी क्रियावस्था, जिसमें उसके द्वारा अत्यन्त निर्मल और आदर्श क्रिया होगी। दूसरी भावावस्था, जिसमें त्रिभुवनके पाप-पुण्य मैं करता हूँ, ऐसा उसे अनुभव होगा, परन्तु उनका लेशमात्र स्पर्श उसे नहीं होगा। और तीसरी उसकी ज्ञानावस्था, जिसमें वह लेशमात्र भी कर्म अपने पास न रहने देगा। सब कर्म भस्मसात् कर देगा। इन तीनों अवस्थाओंके द्वारा ज्ञानी पुरुषका वर्णन किया जा सकता है।

(१०८) "तुही...तुही...तुही...तुही"

इतना सब कहनेके बाद भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—"अर्जुन, मैंने तुम्हें यह जो सब कहा है, उसे तुमने ध्यानसे तो सुना है न? अब पूर्ण विचार करके जो तुम्हें उचित लगे, वह करो।" इस तरह भगवान्‌ने बड़ी उदारतासे अर्जुनको छुट्टी दे दी। भगवद्गीताकी यही विशेषता है। परन्तु भगवान्‌को फिर दया आ गयी। दिये हुए इच्छा-स्वातंत्र्यको उन्होंने फिर वापस ले लिया। कहा—"अर्जुन, तुम अपनी इच्छा, अपनी साधना, सब कुछ छोड़ दो और मेरी शरणमें आ जाओ।" इस तरह अपनी शरणमें आनेकी प्रेरणा करके भगवान्‌ने दिया हुआ इच्छा-स्वातंत्र्य वापस ले लिया है। इसका अर्थ यही है कि "तुम अपने मनमें कोई स्वतंत्र इच्छा ही न उठने दो। अपनी इच्छा नहीं, उसीकी इच्छा चले, ऐसा होने दो।" मुझे स्वतंत्र रूपसे यही अनुभव हो कि

यह स्वतंत्रता मुझे नहीं चाहिए। मैं नहीं, सब कुछ तू ही है, ऐसा हो। वह बकरी जीवित दशामें—"में में में··" करती है यानी "मैं मैं मैं" कहती है। लेकिन मरनेपर उसकी ताँत बनाकर पींजनमें लगायी जाती है, तब दादू कहता है—'तुही, तुही, तुही', तू ही, तू ही, तू ही, ऐसा वह कहती है। अब तो सब "तू ही, तू ही, तू ही!"

रविवार, १९-६-'३२

शंका-समाधान

गीता-प्रवचन अध्याय २ में रजोगुण और तमोगुणकी तुलना की गयी है। उसे पढ़कर एक भाईने अपनी एक शंका विनोबाजीपर प्रकट की। पाठकके लिए विनोबाजी द्वारा किये गये समाधान और मूल शंका, दोनोंका उपयोग है। अतः शंका और समाधान, दोनों यहाँ दिये जाते हैं।

शंका : गीता-प्रवचनके दूसरे अध्यायमें कर्म करनेवालोंकी दुहरी वृत्ति बताते हुए रजोगुण और तमोगुणकी समता आपने कही है। 'लूँगा तो फल-समेत ही' यह रजोगुणकी वृत्ति बतायी और 'छोड़ूँगा तो कर्म-समेत ही' यह तमोगुणकी वृत्ति बतायी है। दोनों वृत्तियोंमें फर्क नहीं है, यह भी आप कहते हैं। मेरे विचारसे दोनों वृत्तियोंका समावेश रजोगुणमें ही हो जाता है। १, ३, ९ के हिसावसे तमोगुण, रजोगुण और सत्त्वगुण एक-दूसरेसे दूर हैं। रजोगुण और तमोगुण एक ही वृत्तिके भावात्मक और अभावात्मक (पॉजिटिव और नेगेटिव) स्वरूप नहीं हैं। कर्म करके फलको छोड़ना सत्त्वगुण है। "लूँगा तो फलसमेत ही" और "छोड़ूँगा तो कर्मसमेत ही"—ये दोनों वृत्तियाँ रजोगुणमें ही खपनी चाहिए। "केवल फल लूँगा, पर कर्म नहीं करूँगा" यह वृत्ति तमोगुणमें जायगी। इससे भी एक भिन्न लापरवाहीकी वृत्ति हो सकती है। कर्म किया तो किया, अथवा हुआ तो हुआ। फलकी अपेक्षा, परवाह, आवश्यकता, मोह आदि नहीं होता। उलटा, फल आया, लिया तो लिया, कर्मकी जरूरत, जवाबदारी नहीं मालूम होती। यह वृत्ति मनकी स्थितिके अनुसार कदाचित् तीनों गुणोंमें हो सकती है। ज्ञान-शून्य स्थितिमें यह वृत्ति तमोगुणसे भी नीचेकी होगी और ध्यानमग्न स्थितिमें सात्त्विक वृत्तिसे भी ऊपरकी निकलेगी।

समाधान : तुम्हारा चिंतन अच्छा लगा। त्रिगुणके विषयमें अनेक प्रकारसे विचार किया गया है और किया जा सकता है। तमोगुणसे नीचेकी अथवा सत्त्वगुणसे ऊपरकी वृत्तिकी कल्पना नहीं की जाती। सारे जगत्‌का

विभाग तीन गुणोंमें करना है। तीनों गुणोंसे अलिप्त एक अवस्था है। उसे गुणातीत पुरुषकी भूमिका समझना चाहिए। उसमें किसी प्रकारकी वृत्ति नहीं रहती, अतः उसे निवृत्ति कहते हैं; परंतु निवृत्तिका अर्थ प्रवृत्ति-विरोध नहीं। प्रवृत्ति-विरोध भी एक वृत्ति ही है, उसे तमोगुण कहना चाहिए।

इतने प्रास्ताविक कथनके बाद अब मूल प्रश्न लो। तत्त्वतः त्रिगुण प्रकृतिके घटक हैं। प्रकृतिमें तीनोंकी आवश्यकता एक समान ही है। स्थिति, प्रकाश और गति, तीनों मिलकर जीवन बनता है। यह तात्त्विक दृष्टि है। इसमें ऊपर, नीचेका कोई भेद नहीं है।

इससे भिन्न नैतिक दृष्टि है। इस दृष्टिसे तम, रज, सत्त्व, ये उत्तरोत्तर श्रेष्ठ गुण हैं। सामान्यतः लोग इस दृष्टिसे विचार करते हैं।

सृष्टि-तत्त्वको समझानेवाली प्राकृतिक अथवा तात्त्विक और दूसरी नैतिक, इन दोनोंसे भिन्न एक तीसरी साधनाकी दृष्टि है। तदनुसार रज और तम एक-दूसरेके प्रतिक्रियारूप अथवा परीक्षणरूप अथवा पूरक हैं। दोनों मिलकर एक ही वस्तु हैं। रजोगुणकी थकावटसे तमोगुण आता है, तमोगुणकी थकावटसे रजोगुण आता है, दोनोंसे सत्त्वगुण भिन्न है और वही साधकोंका सखा है। रजोगुण और तमोगुण मिलकर आसुरी संपत्ति, सत्त्वगुण दैवी संपत्ति—ऐसा संघर्ष चल रहा है।

गीतामें प्राकृतिक, नैतिक और साधनिक, तीनों प्रकारका विवेचन मिलता है। मैं प्राकृतिक विचारको छोड़कर नैतिक और साधनिक दृष्टिसे मुख्यतः विचार करता रहता हूँ। कभी नैतिक, कभी साधनिक। जिस विवेचनके संबंधमें शंका उत्पन्न हुई है, उसमें साधनिक दृष्टि है, इसलिए रजोगुण और तमोगुणकी एकत्र कल्पना की गयी है।

फलत्यागके विचारकी अधिक छानबीन 'स्थितप्रज्ञ-दर्शन' और 'गीताई-कोष' में की गयी है।

◆

परिशिष्ट : २

गीताध्याय-संगति

प्रास्ताविक

आश्रम कोचरबमें खोला, तबसे ही विनोबा मेरे साथी रहे हैं। उन्होंने बहुत काम किया है, जो मैंने चाहा है या मुझे प्रिय था। गीताध्याय-संगतिको ही लें। मैंने माँगा था बहुत कम, विनोबाने बहुत दिया। वाचक यह भी समझें कि १४ दिनमें गीता-पारायण करनेकी प्रथम कल्पना और बादमें ७ दिनकी, यरवदा-मंदिरमें ही उठी। मैंने विनोबाको मेरा क्रम बताया और उनकी मुहर माँगी अथवा सुधारणा। उसके एवजमें गीताध्याय-संगति उन्होंने भेजी। यह वस्तु सामने रखनेसे मैं मानता हूँ, गीतामें ध्यानावस्थित होकर उसके शिक्षणका जीवनमें जो उपयोग करना चाहता है, उसे लाभ होगा।

महाबळेश्वर
३०-५-'४५

पू० गांधीजीको लिखा हुआ पत्र

पूज्य बापू,

गीताका साप्ताहिक पाठक्रम कैसा हो, इसके विषयमें आपने मेरे सामने जो मुद्दे पेश किये थे, उनका उत्तर देनेका प्रयत्न कर रहा हूँ।

गीताका पहला अध्याय तो बीजरूप ही है। लेकिन उसीकी छोटी-सी खाड़ी दूसरे अध्यायमें घुस गयी है। इसका कारण यह है कि भगवान्‌के प्राथमिक उद्‌गार (श्लोक २।२-३) और अर्जुनकी हरि-शरणता (श्लोक २।७) को स्वतन्त्र स्थान देनेकी आवश्यकता जान पड़ी। प्रत्यक्ष गीताका आरम्भ श्लोक २।११ से हुआ। वहाँसे लेकर पूरे दूसरे अध्यायमें गीताका मुख्य विषय संपूर्ण रूपसे संक्षेपमें दिया गया है।

(१) जीवन-शास्त्र—आत्माकी अमरता आदि, जिसे गीता 'सांख्य-बुद्धि' कहती है।

(२) जीवनकी कला—समभावपूर्वक कर्म कैसे करें, जिसे गीता 'योगबुद्धि' कहती है।

(३) जीवनका शास्त्र और कला, सांख्य-बुद्धि और योग-बुद्धि, दोनों जिसमें स्थिर हुई हैं, ऐसे परम आदर्शका, गुरुमूर्तिका—जिसे गीता 'स्थितप्रज्ञ' कहती है—वर्णन।

(४) स्थितप्रज्ञताका अन्तिम परिणाम ब्रह्मनिर्वाण। ब्रह्मनिर्वाण-की स्थितिपर पहुँच जानेपर वास्तवमें कुछ भी कहनेको बाकी नहीं रहता।

यहाँ यह बतला देना चाहिए कि 'स्थितप्रज्ञ' और 'ब्रह्मनिर्वाण' ये दो शब्द गीताके सिवा सारे संस्कृत वाङ्मयमें अर्थात् गीताके पूर्व-के वाङ्मयमें कहीं भी नहीं मिलते। इसका अर्थ यह है कि ये गीता-के स्वतन्त्र और विशिष्ट शब्द हैं। भक्त, ज्ञानी, योगी अथवा मुक्ति,

परमपदप्राप्ति, अपुनरावृत्ति आदि शब्द गीतामें हैं, किन्तु वे गीताके स्वतन्त्र मौलिक शब्द नहीं हैं।

सारी यात्रा थोड़ेमें पूरी की। उसकी विस्तृत रूपसे पुनरावृत्ति अर्जुनके प्रश्नको लेकर तीसरेसे पाँचवें अध्यायमें की है। अर्जुनने तीसरे अध्यायमें जो प्रश्न पूछा है, वह यदि न पूछा होता, तो यह निश्चित है कि गीता दूसरे अध्यायमें ही समाप्त हो जाती। जीवनका तत्त्वज्ञान, जीवनकी कला (कौशलम्), आदर्श गुरु और अंतिम फलित—इतना बतला देनेके बाद और बाकी रह क्या जाता है ?

तीसरे अध्यायमें भगवान् कर्म करनेके कारण बतला रहे हैं। यह सही है कि बुद्धि श्रेष्ठ है; लेकिन कर्मके बिना वह प्राप्त ही नहीं होती, इसका क्या इलाज है ? व्यक्तिकी आजीविका (शरीरयात्रा), समाज-सेवा (यज्ञ), चित्तशुद्धि (संसिद्धि) और लोकसंग्रह—ये कर्म करनेके उत्तरोत्तर कारण हैं। आप तीसरे अध्यायको गीताकी चावी कहते हैं, वह ठीक ही है। यदि अर्जुन प्रश्न न करता, तो यह चावी हमें न मिलती। भगवान् तो कबके ब्रह्मनिर्वाणतककी मंजिल पार कर चुके थे।

इसके बाद चौथे अध्यायमें कर्मकी व्यापक व्याख्या की है। कर्म-का अर्थ है, जीवन-प्रवाहमें प्राप्त बाह्यकर्म। कर्मकी यह व्याख्या ठीक तो है ही, परन्तु इसके अतिरिक्त उस कर्मके समत्वपूर्वक होनेके लिए जिन अनेक वस्तुओंकी जरूरत होती है—जैसे इन्द्रियनिग्रह, तप, स्वाध्याय, संयम आदि—वे सब व्यापक अर्थमें कर्म ही हैं। स्वधर्म-रूप प्रत्यक्ष कर्म और उसकी सहायताके लिए ये अंतःशुद्धिकारक व्यापक या विशेष कर्म, ऐसा दोहरा योग जमनेपर अन्तमें अकर्म-दशा प्राप्त होती है। यह इतना चौथे अध्यायका विषय है।

परन्तु यह अकर्म-दशा दीखनेमें दोहरी दिखाई देती है—(१) सब कर्म करके वे किये न हों, ऐसा होना (योग) और (२) कर्म कतई न करते हुए सब कर्म किये हों, ऐसा होना (संन्यास), इस दोहरी अकर्म-दशाकी तुलना पाँचवाँ अध्याय करता है।

योग और संन्यास, दोनों तत्त्वतः एक ही हैं (श्लोक ५।३-५), किन्तु साधककी दृष्टिसे संन्यासकी अपेक्षा योग सुलभ है (श्लोक ५।६-१२)। याने संन्यास केवल अन्तिम भूमिका ही हो सकती है। परन्तु योग साधकावस्था होनेके अतिरिक्त अन्तिम अवस्था भी हो सकता है, ऐसा निष्कर्ष निकला। इसके बाद पूर्ण योगी अर्थात् संन्यासी पुरुषका रमणीय वर्णन श्लोक ५।१३ से २६ तक किया गया है। अन्तके श्लोक २४, २५ और २६ उस ब्रह्मनिर्वाणको बतलानेवाले हैं, जिसे गीताने योगीका याने संन्यासीका अंतिम मुकाम माना है। ध्यान रहे कि इन तीनों श्लोकोंमें ब्रह्मनिर्वाणका तीन बार उच्चार किया गया है। सारांश, दूसरे अध्यायमें जिस मुकामपर पहुँचे थे, वहीं फिर पाँचवें अध्यायके २६वें श्लोकमें पहुँचे।

परन्तु इसके अनन्तर पाँचवें अध्यायके अन्तिम तीन श्लोक २७, २८ और २९ क्या करते हैं, यह महत्त्वका प्रश्न है; क्योंकि इस प्रश्नके उत्तरमें आपके प्रश्नका उत्तर है। इस प्रश्नके उत्तरके लिए हमें एकदम बारहवें अध्यायमें छलाँग मारनी होगी। मेरे मतसे बारहवाँ अध्याय याने भक्तिकी भाषामें पाँचवाँ अध्याय और पाँचवाँ अध्याय याने कर्मकी भाषामें बारहवाँ अध्याय! भक्तिकी भाषाका प्रयोग करें, तो बिलकुल कर्म न करते हुए समस्त कर्म करनेकी संन्यास-दशा एक तरहकी निर्गुण-उपासना है और सारे कर्म करके अलिप्त रहनेकी योगावस्था एक तरहकी सगुण-उपासना है। इन दो उपासनाओंकी तुलना बारहवें अध्यायका विषय है। और इस तुलनाका निर्णय पाँचवें अध्यायमें की गयी तुलनाके निर्णय जैसा ही हूबहू दिया गया है। तत्त्वतः योग और संन्यास जिस प्रकार एक हैं, उसी प्रकार सगुण-उपासना और निर्गुण-उपासना एक ही है, क्योंकि दोनों ईश्वरकी ओर ले जानेवाली हैं। लेकिन साधककी दृष्टिसे विचार करनेपर जिस प्रकार योग सुलभ है, उसी प्रकार सगुण-उपासना सुलभ है। योगके बिना बाला-बाला संन्यासतक पहुँचना अशक्यप्राय है (श्लोक ५।६ पूर्वार्ध)। सगुणके बिना बाला-बाला निर्गुणको पहुँ-

चना भी उसी तरह अशक्यप्राय है (श्लोक १२।५ उत्तरार्ध)। श्लोक १२।५ के इस उत्तरार्धसे १८।११ के पूर्वार्धकी तुलना करके देखने जैसी है। तब यह समझमें आता है कि कर्मकी और भक्तिकी दृष्टिसे एक ही प्रश्न कैसे उत्पन्न होता है और उसका एक ही उत्तर किस प्रकार है। संन्यास और निर्गुणोपासनामें देह विघ्नरूप है। यह सारा विवेचन अध्याय ५ और अध्याय १२ का सम्बन्ध समझानेके लिए है। इसीलिए बारहवें अध्यायमें फलत्यागकी भाषा आती है (१२।११, १२) और पाँचवें अध्यायका अन्त भक्तिमें किया जाता है (५।२९)।

अब प्रश्न यह है कि सगुण-उपासना, और निर्गुण-उपासनाका पहले कहीं वर्णन करनेके पश्चात् उनकी तुलना बारहवें अध्यायमें की है या बारहवें अध्यायमें यह सारा विषय बिलकुल नया ही आया है ? इसका उत्तर यह है कि पूर्ववर्णित विषयकी इस तुलनासे परिसमाप्ति की है। पाँचवें अध्यायतक गीताका मुख्य विषय समाप्त हो चुका है। छहसे सत्रहतकके अध्याय निष्कामकर्मकी सिद्धिके लिए भिन्न-भिन्न साधन बतलानेवाले और अठारहवाँ अध्याय उपसंहारात्मक है। इनमेंसे बीचके साधनाध्यायोंके अन्तर्गत छहसे बारहतक सात अध्याय मिलकर गीताका उपासना-कांड है। इनमें भी अध्याय छहसे आठतक प्रधानरूपसे अव्यक्त-उपासना और नौसे बारहतक प्रधानरूपसे व्यक्त-उपासना बतलाते हैं। 'प्रधानरूपसे' जान-बूझकर कहता हूँ, क्योंकि गीता तार्किक पद्धतिसे टुकड़े करके वर्णन नहीं करती। सगुणमें निर्गुण आ जाता है और निर्गुण-में सगुण आ जाता है, ऐसी गीताकी दृष्टि है। अध्याय छहसे आठ तक निर्गुण या अव्यक्त-उपासना कैसे और नौसे बारहतक सगुण या व्यक्त-उपासना कैसे ? इसका अब विचार करना पड़ेगा। परन्तु उससे पहले अध्याय पाँचके अन्तिम तीन श्लोकोंका कार्य क्या है, यह बतलानेका समय अब आ गया है। अध्याय ५ के २७, २८—ये दो श्लोक अव्यक्तोपासनाका संकेत करते हैं और २९वाँ व्यक्त या सगुण-उपासनाका संकेत करता है। यह अंतिम श्लोक ५।१४, १५ का आपाततः

विरोधी प्रतीत होता है, यह बात आपके ध्यानमें आ चुकी है और इसीलिए यह भासमान विरोध दूर करनेके लिए सगुण-निर्गुणका समन्वय करनेवाली टिप्पणी अनासक्तियोगमें ५।२९ के नीचे दी गयी है। सारांश यह कि पाँचवें अध्यायके अन्तिम तीन श्लोक अध्याय छह से बारहतक आनेवाली द्विविध उपासनाकी प्रस्तावनाके समान हैं।

गीताकी निर्गुणोपासनाकी कल्पना क्या है, यह समझनेके लिए बारहवें अध्यायके श्लोक १, ३, ४ और ५ उपयोगी हैं। उन श्लोकोंके अनुसार गीता निर्गुणोपासनाका वर्णन 'अव्यक्तोपासना' और 'अक्षरोपासना' संज्ञाओंसे करती है (१२।१-३) और उसके अंगके रूपमें 'सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः' (१२।४ पूर्वार्ध) यह साधना बतलाती है और यह सारा मार्ग अधिक क्लेशकारक है, ऐसा मत व्यक्त करती है। 'अक्षरोपासना' शब्द श्लेषात्मक है, यह बात समझनेकी है। अक्षर याने अविनाशी ब्रह्म, यह एक अर्थ है और अक्षर याने ॐकार, यह दूसरा अर्थ है। इनमेंसे 'सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः' इस वर्णनसे सारा छठा अध्याय सूचित किया गया है, यह स्पष्ट है। सातवें और आठवें अध्यायमें अव्यक्त-अक्षर-उपासना स्पष्ट है ७।२४; ८।३, २०, २१ आदि और ॐकाररूप अक्षरोपासना ८।१३ में है। ॐकारोपासनाके साधनके रूपमें छठे अध्यायमें बतलायी हुई साधनाका पुनरुच्चार ८।१०, १२ में किया है। छठे अध्यायमें अर्जुनद्वारा प्रश्न कहलाकर 'अनेकजन्मसंसिद्धः' आदि पदोंसे इस बातका संकेत कर ही दिया है कि यह सारा मार्ग कठिन है। हाँ, निराश होनेका कारण नहीं है, ऐसी ध्वनि वहाँ निकलती है। लेकिन कठिनता है, यह बात पक्की है। यह सारी अव्यक्तोपासना पतंजलिका योगशास्त्र है। योगशास्त्रके अन्तर्गत यह विषय पतंजलिके ही शब्दोंमें बीच-बीचके सूत्र छोड़कर, लेकिन क्रम न छोड़ते हुए, थोड़ेमें देता हूँ—

(१) अथ योगानुशासनम्। (२) योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। (३) तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्। (४) अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः। (५) ईश्वरप्रणिधानाद्वा। (६) तस्य वाचकः प्रणवः। (७) तज्जपस् तदर्थभावनम्।

इनमेंसे पहले चार सूत्रोंका सारा-का-सारा विषय गीताका छठा अध्याय है, पाँचवाँ सूत्र सातवाँ अध्याय है और छठा-सातवाँ सूत्र आठवाँ अध्याय है। यहाँ यह बतला देना चाहिए कि 'ईश्वर-प्रणिधानाद्वा' सूत्र 'अभ्यासवैराग्याभ्याम्' का विकल्प नहीं है। अर्थात् अभ्यास, वैराग्य करो अथवा ईश्वरप्रणिधान करो, ऐसा नहीं है। अभ्यास-वैराग्यके साथ ईश्वरप्रणिधानको जोड़ देना है। 'ईश्वरप्रणिधान' का अर्थ है, अव्यक्त ईश्वरका ध्यान।

यह सारा योगशास्त्रीय विषय अध्याय ६ से लेकर ८ तकमें पूरी तरह आ गया है। इसके साथ-साथ अग्निमार्ग, धूममार्ग, यह योग-शास्त्रीय परिभाषा भी आठवें अध्यायमें देकर आठवाँ अध्याय पूरा किया है।

अब हम व्यक्तोपासनाकी तरफ मुड़ें। गीताकी व्यक्तोपासना अव्यक्तोपासनाकी विरोधी नहीं है। व्यक्त अव्यक्तका ही प्रकाश है, इस आशयकी है। यह उपासना ही श्रीमद्भागवत, तुलसी-रामायण आदि ग्रंथोंमें वर्णित और साधु-संतोंका गाया हुआ सुप्रसिद्ध भक्ति-मार्ग है और वह ९ से १२ तकके अध्यायोंका विषय है।

अव्यक्तोपासनाका स्वरूप 'ध्यान' शब्दसे व्यक्त किया जा सकता है। भक्तिमार्गका अर्थ है, प्रेम। इसीको 'राजमार्ग' या 'राजविद्या' कहते हैं (श्लोक ९।२)। इसकी मुख्य विशेषता यह है कि यह प्रत्यक्षा-वगम है (९।३)। इसमें केवल श्रद्धाका काम है। यह आचरणके लिए अत्यंत सुलभ है (सुसुखम् कर्तुम् ९।२), अव्यक्तोपासनाकी तरह कठिन नहीं है। केवल श्रद्धाके अभावके कारण लोग इसकी तरफ नहीं मुड़ते। यों यह मार्ग ऐसा है कि सब कोई इसमें आयें (९।३)। मानुषीय रूप ईश्वरकी ही मूर्ति है। उसकी सेवा ही इस मार्गकी विशेषता है। मानुषीय रूपकी अवज्ञा करना ईश्वरकी ही अवज्ञा है (९।११)। अर्जुनसे इस मानुषीय रूपकी अवज्ञा हो गयी, इसलिए उसे पछताना पड़ा है (११।४१)। भक्तिकी नयी दृष्टि प्राप्त होनेपर अर्जुनको मानुषीय रूप देखकर आनंद होता है। (११।५१)। यह

सही है कि सारे यज्ञोंसे ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है, लेकिन हरिप्रेममें रँगे हुए लोग हरिनाम-स्मरणरूप जपयज्ञको श्रेष्ठ समझते हैं (१०।२५)। ज्ञानदाता भगवान् समर्थ है (१०।१०, ११)। छठे अध्यायमें जैसा बतलाया गया है, उसके अनुसार सारी इंद्रियाँ और मनके समस्त व्यापार वन्द करनेके वदले भक्तिमार्गमें उन्हें ईश्वरको अर्पण करना होता है (९।२७)। पाप-योनि, पुण्य-योनि आदि कोई भी भेद यह मार्ग नहीं जानता। यह धर्म सभी वर्णोंके लिए खुला है, कारण यहाँ केवल प्रेमका काम है (९।३२)। 'नित सेवा, नित कीर्तन, ओच्छव' यह इस मार्गका स्वरूप है (९।१४; १०।९; ११।३६)। नमस्कार करना, नम्र होना सबसे वड़ी ऊँचाई है (९।१४, ३४; ११।३६, ३७, ३९, ४० आदि)। श्लोक ९।२ के 'धर्म्यम्' और ९।३ के 'अश्रद्धानाः' पदोंसे १२।२० के 'धर्म्यामृतम्' और 'श्रद्धानाः' पदोंकी तुलना करनेपर यह वात समझमें आ जाती है कि वारहवें अध्यायमें जो विषय समाप्त किया है, उसका श्रीगणेश नवें अध्यायमें ही कर दिया गया था।

'ये तु धर्म्यामृतमिदम्' (१२।२०) का अर्थ वारहवें अध्यायमें वतलाया हुआ भक्त-लक्षणरूप धर्म्यामृत तो है ही, परन्तु नवें अध्याय-से लेकर वारहवें अध्यायतक वतलाया हुआ धर्म्यामृत भी है। इस 'अमृत' शब्दके साथ ९।३ में आये हुए 'मृत्यु' शब्दकी तुलना करके देखिये। उसी प्रकार नवें अध्यायका अन्तिम श्लोक ही ग्यारहवें अध्यायका अन्तिम श्लोक है। १२।१ श्लोकमें आया हुआ 'एवम्' शब्द इन दो श्लोकोंको लक्ष्य करके है, ऐसा समझना चाहिए। अधिक विस्तार नहीं करता। संक्षेपमें इतना ही कह देना पर्याप्त है कि १०, ११, १२—इन तीन अध्यायोंसे ९वाँ अध्याय किसी भी प्रकार अलग नहीं किया जा सकता। ९वाँ अध्याय माताके स्थानपर है और अध्याय १०, ११ उसके बालक हैं। ११।१ श्लोकमें अर्जुन जो यह कहता है कि 'मेरा मोह जाता रहा', सो भी नवें अध्यायको लक्ष्य करके ही है। 'परमं गुह्यं अध्यात्मसंज्ञितम्' (११।१) ही ९वें अध्याय-का राजविद्या, राजगुह्य है। अध्याय ६ से ८ की अव्यक्तोपासना और

अध्याय ९ से १२ तकके भक्तिमार्गका भेद यदि संक्षेपमें कहना हो, तो कहना पड़ेगा कि वह ॐकार और रामनामके भेदके समान है।

आपके मुख्य प्रश्नका उत्तर इतनेमें आ जाता है। फिर भी विषय-पूर्तिके लिए अगले अध्यायोंकी सङ्गति भी देता हूँ।

अध्याय १३, १४, १५ हैं—ज्ञानमार्ग। ज्ञानमार्ग भक्तिमार्गसे भिन्न है, यह बतलानेकी आवश्यकता नहीं। फिर भी गीताने उसमें भी भक्ति मिला दी है। देखिये, 'मद्भक्त' १३।१८ और १४।२६, १५।१९। परन्तु यह मार्ग अव्यक्तोपासनासे भी भिन्न है। अव्यक्तोपासनामें ध्यान, भक्तिमार्गमें प्रेम और ज्ञानमार्गमें विचार अथवा विवेक प्रधान होता है। ध्यानमार्गका अर्थ है—मुख्यतः पतंजलि, भक्तिमार्गका अर्थ है-वैष्णव-सम्प्रदाय और ज्ञानमार्गका अर्थ है—सांख्य और वेदान्त। देखिये, वेदान्तकृत् १५।१५।

ज्ञानमार्ग बतलानेके उपरान्त वास्तवमें गीता समाप्त हो गयी। ('इति गुह्यतमं शास्त्रम्') १५।२० का अर्थ पंद्रहवाँ अध्याय तो है ही, लेकिन उसके साथ-साथ अबतक बतलाया हुआ सारा गीताशास्त्र, ऐसा अर्थ मैं मानता हूँ। 'शास्त्र' शब्द गीताने पहले यहीं प्रयुक्त किया है और बादमें वही शब्द अध्याय १६ के अन्त और अध्याय १७ के आरम्भमें आया।

इसके आगे अध्याय १६, १७ को मैं परिशिष्टके रूपमें मानता हूँ। उनमें गीताका सारा समाज-शास्त्र आ गया है। समाज-शास्त्रका सारा आधार समाजके व्यक्तियोंकी शुभ वृत्तियोंपर अर्थात् सद्गुणों-पर (अध्याय १६) और तदनुरूप शुभ कृत्यों—सात्त्विक यज्ञ-दान-तप-पर (अध्याय १७) निर्भर है। ये दोनों अध्याय नवें अध्यायके परि-शिष्ट हैं। सोलहवाँ अध्याय ९।१२, १३ श्लोकोंका परिशिष्ट है। सत्रहवें अध्यायका सोलहवें अध्यायसे मेल तो १७।१ में अर्जुनके प्रश्न से दिखा ही दिया गया है। लेकिन इसके अलावा वह अध्याय ९।२७ में कथित भक्तिमार्गीय मुख्य विधिका विस्तृत स्पष्टीकरण करनेवाला परिशिष्ट भी है।

'यदश्नासि' अर्थात् सत्रहवें अध्यायका 'आहार'
'यज् जुहोषि' „ „ „ 'यज्ञ'
'ददासि' „ „ „ 'दान'
'तपस्यसि' „ „ „ 'तप'
'तत् कुरुष्व मदर्पणम्' „ „ 'ॐ तत् सत्' प्रकरण।

समर्पण-विधि भक्तिमार्गकी आत्मा है। परन्तु समर्पण करनेका अर्थ चाहे जो समर्पण करना नहीं। शुद्ध सात्त्विक ही समर्पण किया जा सकता है, यह सत्रहवाँ अध्याय बतलाता है। सत्रहवें अध्याय-को मैं आश्रमकी दृष्टिसे 'कार्यक्रम-योग' नाम देता हूँ। प्रातःकाल उठकर पहले प्रार्थना करें (श्रद्धा), फिर नाश्ता आदि करके (आहार) सेवा, कार्य आरम्भ करें (यज्ञ, दान, तप) और अन्तमें शामकी प्रार्थनामें यह सब समर्पण करें (ॐ तत् सत्)।

इसके बाद अठारहवाँ अध्याय सारे विवेचनका पुनः एक बार संक्षेपमें दिग्दर्शन है। गीताकी पहली पंचाध्यायी जो मुख्य विषय बतलाती है, वहींसे अठारहवें अध्यायका आरम्भ हुआ है और उसका अन्त समस्त साधनोंमें अत्युत्तम साधन अर्थात् नवें अध्यायमें वर्णित भक्तिमार्गमें किया ह। ९।१ और ९।३४, ये दो श्लोक एक साथ पढ़कर फिर १८।६४ और ६५ ये श्लोक पढ़ें। नवें अध्यायका गीतामें एक विशिष्ट स्थान है। वह अध्याय सन्तोंको अत्यन्त प्यारा है। ज्ञानेश्वर महाराज नवें अध्यायका पाठ करते-करते समाधिस्थ हुए। स्त्री, शूद्रादिके लिए यह अध्याय दौड़कर आता है। उसमें भक्तिमार्गका परमोच्च शिखर है। वह अध्याय सुनकर अर्जुनको अतिशय आनंद हुआ—(प्रीयमाणाय १०।१), इसलिए दसवाँ अध्याय भगवान्ने स्वयं-प्रेरणासे बतलाया है। श्लोक ११।१ बतलाता है कि उससे अर्जुनका मोह-नाश हुआ। बारहवाँ अध्याय उसकी श्रेष्ठतापर लगायी हुई मुहर है। अध्याय १६, १७ उसके परिशिष्ट हैं। अठारहवेंका उपसंहार नवें अध्यायका ही पुनरुच्चार है।

ऊपरके विवेचनमें आपके प्रश्नके उत्तर आ जाते हैं। पहले पाँच अध्यायोंका विषय और छठे अध्यायका विषय बिलकुल अलग है। अब यदि समत्वप्राप्तिके साधनके नाते छठे अध्यायको पाँचवेंके साथ जोड़ दें, तो भी दिशाभूल होती है। आसन, प्राणायाम, प्रत्याहारादि ही समत्वप्राप्तिका अद्वितीय उपाय है—ऐसा आभास उसमेंसे उत्पन्न होगा, वह सर्वथा वांछनीय नहीं है। वास्तवमें समत्व गीताका मध्यबिन्दु है और सभी साधनोंका यही फल गीताको अपेक्षित है। उदाहरणार्थ, १३वें अध्यायमें कथित विवेकका फलित भी 'समत्व' ही अपेक्षित है (१३।२७, २८)। इसलिए छठे अध्यायको पाँचवेंके साथ जोड़ देना उचित नहीं है। मैं ऊपर कह आया हूँ कि वह बारहवें अध्यायकी विचारधाराके अनुकूल नहीं होगा। अव्यक्त-उपासना भी आखिर उपासना ही है, इसलिए उसमें भी एक तरहका भक्तिभाव गृहीत ही है। उस दृष्टिसे ६, ७, ८ तीनों अध्यायोंमें भक्तिका उल्लेख थोड़ा-बहुत ही है। तथापि जिसे भक्तिमार्ग कहते हैं, वह नवें अध्यायसे शुरू होता है। ९।१ के 'इदं तु' पदमें जो 'तुकार' आया है, वह ८वें अध्यायसे ९वें को अलग करनेके लिए ही है।

संक्षेपमें सब कुछ कहा जा चुका है। अब गीताका साप्ताहिक पाठक्रम निष्कर्षसहित देता हूँ—

शुक्र—अध्याय १–२ स्थिर-बुद्धि (सारा प्रवास थोड़े में)।
शनि—अ० ३–४–५ निष्काम कर्म (प्रवास विस्तारसे)।
रवि—अ० ६–७–८ ध्यान-मार्ग (अव्यक्तोपासना)।
सोम—अ० ९–१०–११–१२ भक्तिमार्ग (राजविद्या. अव्यक्तसे अविरोधी व्यक्त-उपासना)।
मंगल—अ० १३–१४–१५ ज्ञान-मार्ग (विचार, विवेक)।
बुध—अ० १६–१७ शुभवृत्ति (शुभकृतिसहित)।
गुरु—अ० १८ त्याग।

वर्धा
१६-६-'३४